स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश सरकार का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय

॥ सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

भारतीय समाजः निरन्तरता एवं परिवर्तन

MASY-104

सेक्टर-एफ, शान्तिपुरम, फाफामऊ, प्रयागराज-211021

www.uprtou.ac.in

टोल फ्री नम्बर - 1800-120-111-333

कुलपति

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

उत्तर प्रदेश सरकार का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय

संदेश

जनसंख्या की दृष्टि से वृहत्तम्, उत्तर प्रदेश में उच्च शिक्षा से वंचित परन्तु शैक्षिक नवाचारों की सम्भावनाओं से परिपूर्ण, प्रदेश की जनसंख्या को गुणात्मक शिक्षा के अवसर सर्वसुलभ एवं सर्वव्यापी बनाने के संकल्प से तीर्थराज प्रयाग में उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की **स्थापना 1999** में की गई थी। समाज का ऐसा वर्ग जो अपनी रोजमर्रा की अपरिहार्य व्यस्तताओं के चलते नियमित कक्षाओं में नहीं जा सकता, उसके घर तक अध्ययन सामग्री पहुँचाना एवं आवश्यकतानुसार परामर्श देना तथा उनकी अन्तर्निहित क्षमता को प्रस्फुटित करना विश्वविद्यालय की शीर्ष प्राथमिकता है। अपनी स्थापना काल से लेकर वर्तमान भूमण्डलीकरण, निजीकरण एवं उदारीकरण के इस उपयोगितावादी युग में सर्वांगीण व्यक्तित्त्व निर्माण के लक्ष्य को लेकर यह विश्वविद्यालय रोजगारपरक पाठ्यक्रमों के संचालन एवं क्रियान्वयन हेतु कृतसंकल्पित है।

सम्प्रति इस विश्वविद्यालय के बारह क्षेत्रीय केन्द्र क्रमशः प्रयागराज, वाराणसी, गोरखपुर, फैजाबाद, लखनऊ, बरेली, आगरा, मेरठ, झाँसी, कानपुर, नोएडा एवं आजमगढ़ में संचालित हैं। लगभग 1200 से अधिक संचालित अध्ययन केन्द्र के माध्यम से उच्च शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। विश्वविद्यालय के कार्यक्षेत्र की व्यापकता को देखते हुए, शिक्षार्थियों के हित में एक टोल फ्री नम्बर **1800-120-111-333** भी प्रारम्भ किया गया है।

विश्वविद्यालय में त्वरित गति से विकसित हो रही आधुनिक संचार प्रणाली का प्रयोग करते हुए **'वर्ष पर्यन्त प्रवेश'** प्रक्रिया के अन्तर्गत वर्ष में दो सत्रों जनवरी एवं जुलाई में ऑनलाइन प्रवेश लेने की व्यवस्था प्राविधानित है। शिक्षार्थी केन्द्रित व्यवस्था के अन्तर्गत प्रवेश, परामर्श, पाठ्यसामग्री, अधिन्यास, परीक्षा आदि विभिन्न शैक्षिक गतिविधियों को ऑनलाइन करके विश्वविद्यालय ने शिक्षा को शिक्षार्थी के द्वार तक पहुँचाने में सफलता अर्जित की है। शिक्षार्थियों की सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए विश्वविद्यालय की वेबसाइट को फेसबुक, ट्विटर और यू-ट्यूब जैसे सोशल मीडिया उपकरणों से सम्बद्ध कर दिया गया है। छात्रों को ऑनलाइन पाठ्य सामग्री उपलब्ध कराने के लिए मोबाइल ऐप को विकसित करते हुए तथा MOOCS, SWAYAM आदि के माध्यम से यह विश्वविद्यालय वर्चुअल शिक्षा के स्वप्न को साकार करने की दिशा में शीघ्रता से आगे बढ़ रहा है।

शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य भौगोलिक दूरी की बाधा को न्यूनतम करने हेतु विश्वविद्यालय बहुआयामी संचार पद्धति का प्रयोग कर रहा है। शिक्षार्थियों तथा प्राध्यापकों की शोध के क्षेत्र में उन्नति और कैरियर संवर्धन हेतु विश्वविद्यालय में समसामयिक महत्वपूर्ण विषयों पर राष्ट्रीय संगोष्ठियों, कार्यशालाओं एवं व्याख्यान कार्यक्रमों का आयोजन निरन्तर किया जाता है। वर्तमान समय में विकास की वैकल्पिक विचारधारा के रूप में पंडित दीन दयाल उपाध्याय के विचारों की महत्ता एवं प्रासंगिकता को दृष्टिगत रखते हुए विश्वविद्यालय में **'दीन दयाल उपाध्याय शोध पीठ'** की स्थापना की गयी है। उल्लेखनीय है कि विश्वविद्यालय में अटल बिहारी बाजपेई सुशासन पीठ पहले से ही स्थापित है।

दूरस्थ व मुक्त शिक्षा प्रणाली में शिक्षार्थी सहायता सेवाओं की गम्भीरता को देखते हुए विश्वविद्यालय द्वारा विभिन्न अध्ययन केन्द्रों तथा क्षेत्रीय केन्द्रों पर संचालित गतिविधियों के निरीक्षण और अनुश्रवण हेतु प्रभावी एवं ठोस कदम उठाए जा रहे हैं। इस क्रम में हमारा प्रयास है कि हम शिक्षार्थियों से सीधे संवाद स्थापित कर उनकी जरूरतों को पहचानने और तदनुरूप अपनी शैक्षिक तथा प्रशासनिक व्यवस्थाओं को अधिक से अधिक अनुकूलतम बनाने की दिशा में कार्य कर सकें। देश की समसामयिक चुनौतियों एवं समस्याओं को देखते हुए वर्तमान सत्र से पूर्व में संचालित रोजगारपरक पाठ्यक्रमों को जारी रखते हुए नागरिकता संशोधन कानून एवं कोविड-19 पर जागरूकता पाठ्यक्रम विश्वविद्यालय में प्रारम्भ हो गया है।

शिक्षा को सामाजिक एवं राष्ट्रीय सरोकारों से जोड़ते हुए प्रति-वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस, राजर्षि टण्डन जयन्ती स्मृति व्याख्यानमाला, पं. दीन दयाल उपाध्याय स्मृति व्याख्यानमाला, स्वैच्छिक रक्तदान शिविर, राष्ट्रीय तम्बाकू नियंत्रण जागरूकता कार्यक्रम, शिक्षक दिवस, हिन्दी दिवस और गाँधी जयन्ती पर विचार गोष्ठियों एवं व्याख्यान कार्यक्रमों के आयोजन की समृद्ध परम्परा है।

मैं विश्वविद्यालय की प्रगति में निरन्तर योगदान करने वाले शिक्षाविदों, क्षेत्रीय समन्वयकों तथा अध्ययन केन्द्रों के समन्वयकों, प्राचार्यों एवं समस्त विश्वविद्यालय परिवार के प्रति सम्मान एवं आभार ज्ञापित करती हूँ। विश्वविद्यालय को प्रगति के सोपानों पर अग्रसर करने में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान करने वाले सभी सम्भ्रांत नागरिकों को मैं साधुवाद देती हूँ। मैं विश्वविद्यालय के केन्द्र बिन्दु तथा अध्ययन के प्रति निष्ठावान छात्र-छात्राओं के मंगलमय भविष्य की कामना करती हूँ।

Seema.

प्रो० सीमा सिंह
कुलपति

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय

MASY-104
भारतीय समाज: निरन्तरता एवं परिवर्तन

खण्ड
1

हिन्दू समाज के दार्शनिक आधार

इकाई 1

धर्म एवं पुरूषार्थ

इकाई 2

वर्णाश्रम व्यवस्था एवं संस्कार

इकाई 3

कर्म एवं पुर्नजन्म का सिद्धान्त

इकाई 4

हिन्दुत्व की मान्यताएं एवं अनेकता में एकता

संदर्भ ग्रन्थ सूची

NMDC-102

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो के.पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.एन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ल, कुलसचिव	सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो० सी.एस. एस. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
आचार्य एवं अध्यक्ष, समाज शास्त्र विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

प्रो. जयकान्त तिवारी — विषय विशेषज्ञ
आचार्य समाजशास्त्र विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रो. वी. के. पंत — सम्पादक
सेवा निवृत्त आचार्य एवं अध्यक्ष , समाज शास्त्र विभाग
(कुमायुँ विश्वविद्यालय, नैनीताल) लखनऊ

MASY-104 : – *भारतीय समाज : निरन्तरता एवं परिवर्तन*

लेखक मण्डल :

खण्ड एक :	**डॉ. जे. पी. मिश्र,** जे. एन. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
	डॉ. ए. एस. तिवारी, सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
खण्ड दो :	**डॉ. रश्मि त्रिवेदी,** रीडर, आर.बी.डी. स्नातकोत्तर महिला विद्यालय, बिजनौर	1 इकाई
	डॉ. ए. एस. तिवारी, सेवानिवृत्त रीडर, लखनऊ	2 इकाई
	डॉ. ए. के. सिंह, डी.ए.वी.पी.जी.कालेज, कानपुर	1 इकाई
खण्ड तीन :	**डॉ. अंशु केडिया,** ए.पी.सेन मेमो.पी.जी.कालेज, लखनऊ	4 इकाई
खण्ड चार :	**डॉ. अमरेश चन्द्र शुक्ला,** सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. रश्मि त्रिवेदी, रीडर, आर.बी.डी.स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिजनौर	3 इकाई
खण्ड पाँच :	**डॉ. ए. एस.तिवारी,** सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. डी.पी.बाजपेयी, सेवानिवृत आचार्य, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. जे.पी.मिश्र, जे.एन. स्नातकोत्तर महा. विद्यालय, लखनऊ	2 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय प्रयागराज की ओर से डा0 अरूण कुमार गुप्ता कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित वर्ष 2021

मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0 लि0 42/7 जवाहर लाल नेहरू रोड प्रयागराज 211002

इकाई 1 धर्म और पुरूषार्थ

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 धर्म एवं रिलीजन में भेद

1.3 धर्म के विभिन्न अर्थ

- 1.3.1 धर्म का धात्वर्थ
- 1.3.2 धर्म और न्यास
- 1.3.3 ऋत एवं धर्म
- 1.3.4 आचार संहिता के रूप में धर्म
- 1.3.5 स्वभाव के अर्थ में धर्म
- 1.3.6 धर्म का शास्त्रोक्त अर्थ
- 1.3.7 निष्कर्ष

1.4 पुरूषार्थ के रूप में धर्म

1.5 धर्म के स्परूप

- 1.5.1 सार्वभौमिक पक्ष
- 1.5.2 विशिष्ट पक्ष

1.6 आपद्धर्म

1.7 स्वधर्म

1.8 पुरूषार्थ

- 1.8.1 पुरूषार्थ की आवश्यकता क्यों?
- 1.8.2 पुरूषार्थ का अर्थ
- 1.8.3 पुरूषार्थ विवेचन
- 1.8.4 चारों पुरूषार्थोंमें कौन सा श्रेष्ठ है?

1.9 सारांश

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची / उपयोगी पुस्तकें

1.11 सम्बन्धित प्रश्न

1.12 प्रश्नोत्तर

NMDG-102

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

* धर्म के विभिन्न अर्थ तथा धर्म एवं रिलीजन की तुलना कर सकेंगे।
* धर्म के स्वरूप की व्याख्या कर सकेंगे।
* आपद्धर्म का परिचय, कर सकेंगे।
* पुरूषार्थ की आवश्यकता, धारणा और उनकी तुलनात्मक श्रेष्ठता पर टिप्पणी सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

हिन्दुत्व में धर्म एवं पुरूषार्थ के विचार का उदय हिन्दू जीवन को सुगम एवं वैज्ञानिक बनाने तथा लौकिक और पारलौकिक समृद्धि को हस्तगत करने एवं नियंत्रित जीवन बिताने के लिए हुआ। उक्त दोनों धारणाएँ जीवन को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ती हैं। इनमें भौतिकता का नकार भी नहीं है। धर्म द्वारा मानव क्रियाओं का निश्चय एवं उनका मूल्यांकन किया जाता है।

1.2 धर्म और रिलीजन में भेद

प्राय: अंग्रेजी के शब्द रिलीजन का हिन्दी में अनुवाद धर्म के रूप में होना है जिससे संस्कृत के धर्म शब्द के लोग रिलीजन का समानार्थक समझने की भूल करते हैं। वास्तविकता यह है कि धर्म और रिलीजन में मौलिक भेद है। धर्म शब्द हिन्दू परम्परा में दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। प्रथम एक पुरूषार्थ के रूप में और दूसरे, कर्तव्यों के समुच्चय के रूप में। रिलीजन सम्प्रदाय का द्योतक है और इस अर्थ में संकुचित है। रिलीजन शब्द ईसाइयत और इस्लाम के लिए अधिक उपयुक्त है न कि हिन्दुत्व के लिए। धर्म शब्द का अर्थ व्यापक है, यह तो समस्त मानवता के लिए है। रिलीजन का केन्द्र कोई न कोई अलौकिक शक्ति अथवा समाजोपरि शक्ति है। इस शक्ति में विश्वास रिलीजन का मुख्य तत्व है। इस अलौकिक शक्ति की पूजा करने की विधियों का भी रिलीजन में समावेश है। धर्म का संबंध अलौकिक शक्ति से नहीं है। धर्म तो जीवन यापन का तरीका है जो व्यक्ति के जीवन को एक व्यक्ति की हैसियत से और समाज के सदस्य की हैसियत से नियंत्रित करता है।

1.3 धर्म के विभिन्न अर्थ

धर्म शब्द अनेक अर्थों से गुजर चुका है। अनेकार्थी होने के कारण इसमें कुछ अस्पष्टता आ गई है, साथ ही अर्थ में व्यापकता का प्रवेश हो गया है। धर्म का प्रयोग सभी प्रकार की माह्नव क्रियाओं को निश्चित करने तथा उनका मूल्यांकन करने के लिए हुआ है। उचित कर्तव्यों को ही डा0 राधाकृष्णन ने धर्म की संज्ञा दी है। जिमर के अनुसार धर्म समस्त नैतिक क्रियाओं की विधि अथवा दर्पण है। धर्मराज युधिष्ठिर सत्यवादन को ही धर्म बताते हैं। महाभारत में यह वर्णित है कि श्रेष्ठ पुरूष जिस मार्ग का अनुसरण करे वही धर्म है (महाजनों येन गता स पन्था:) ।

1.3.1 धर्म का धात्वर्थ — धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है धारण करना, आश्रय देना, सहारा देना, रोके रहना, गिरने न देना, बिखरने न देना। अत: जिसमें धारण करने की क्षमता हो वह धर्म है (धारयतीति धर्म:)। महाभारत के कर्ण पर्व में धारण करने की क्षमता के कारण ही इसे धर्म कहा गया है। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण के साथ संयुक्त है वह निश्चय ही धर्म है (धारणत्धर्म मित्याहु धर्मो धारयते प्रजा:। यत् स्याद्धारण संयुक्त स धर्म इति निश्चय:)।

समाज शास्त्र में धर्म शब्द का प्रयोग समाज को धारण करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। धर्म एक ऐसा तत्व है जो समाज को थामे हुए है और समाज को बनाये रखने में सहायक है। **समाज धर्म से पोषित होता है, फलता-फूलता है।** अधर्म समाज को नष्ट करता है, उसे विकार ग्रस्त बनाता है। इस प्रकार धर्म एक सद्गुण है और समाज का सहारा है।

1.3.2 धर्म और न्याय— न्याय का विधान धर्म के हाथ में है। धर्म भी औचित्य पर बल देता है और न्याय में भी औचित्य पर जोर है। इस प्रकार धर्म का प्रत्यय न्याय के समकक्ष है। धर्म में मनुष्यों को पुरस्कृत करने एवं दण्ड देने की योग्यता है। इस अर्थ में धर्म को न्यायाधीश या दण्डाधिकारी माना जा सकता है।

1.3.3 ऋतु एवं धर्म — धर्म को वैदिक 'ऋतु' की धारणा के समकक्ष माना गया है। ऋत संसार की उचित व्यवस्था के अर्थ का संकेतक है। ऋत वस्तुओं के सत्य का सूचक है। डा0 राधाकृष्णन 'द हिन्दू व्यू आव् लाइफ' में लिखते हैं कि धर्म वस्तुओं के सत्य के समरूप है। अधम्र उसका उल्टा है। नैतिक अनिष्ट सत्य के समरूप नहीं है। कीथ ने ऋत को ब्रह्माण्ड की व्यवस्था कहकर पुकारा है और वह अनृत के विरूद्ध नैतिक अवस्था का सूचक भी है। ऋत एक विश्वशक्ति है और ईश्वर भी उसके नियमों के अधीन है। **पी0 वी0 कर्ण का कहना है कि वैदिक ऋत की धारणा काफी उच्च और श्रेष्ठ है और बाद के धर्म सिद्धान्त का यह बीज है।**

1.3.4 आचार संहिता के रूप में धर्म— धर्म का प्रत्यय काफी व्यापक है और यह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करता है। पी0 वी0 कर्ण ने धर्म को एक ऐसे जीवन ढंग अथवा आचार संहिता के रूप में समझा जिसने एक मनुष्य के कर्म और क्रियाओं को समाज के एक सदस्य के रूप में और एक व्यक्ति के रूप में नियंत्रित किया जिसका उद्देश्य व्यक्ति को धीरे धीरे विकसित करना तथा इस लायक बना देना था कि वह अपने जीवन के चरम उद्देश्य को प्राप्त कर ले।

1.3.5 स्वभाव के अर्थ में धर्म — धर्म शब्द किसी वस्तु के आन्तरिक गुण अथवा स्वभाव का भी सूचक रहा है। उदाहरणार्थ आग का धर्म जलाना है,, सांप का धर्म काटना है, साधु का धर्म क्षमा करना है, रस्सी का धर्म बांधना है, नदी का धर्म बहना है, तालाब का धर्म शान्त रहना है, उक्त उदाहरणों में धर्म शब्द मौलिक गुण अथवा स्वभाव का परिचायक है।

1.3.6 धर्म का शास्त्रोक्त — कुछ शास्त्रकारों ने भी धर्म के अर्थ को खोलने का प्रयास किया है। पूर्व मीमांसा में जैमिनि कहते हैं कि धर्म वह है जिसमें प्रेरणा देने का लक्षण पाया जाता है। (चोदनालक्षणार्थो धर्म:) । वैशेषिक सूत्र के मत से 'धर्म वह है जिससे अभ्युदय और नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है।' (यतोभ्युदयनि:श्रेयस सिद्धि: स धर्म:)। अभ्युदय का

NIOS-SP

मतलब लौकिक सुख, समृद्धि से है। नि:श्रेयस का अर्थ पारलौकिक उपलब्धियों से है। अत: धर्म वह है जिससे इस लोक और परलोक दोनों जगह सुख प्राप्त होता है। कल्याण के हिन्दुसंस्कृति अंक में सुख और आनन्द का मूल धर्म को बताया गया है (धर्मे सुखमासीत)।

1.3.7 **निष्कर्ष** — धर्म के उक्त अर्थ इस बात के प्रमाण है कि धर्म अनेक संक्रमण कालों से गुजरा है और अनेक भिन्नताओं के बावजूद भी धर्म का इस्तेमाल सब कहीं सुदृढ़ सामाजिक संगठन के लिये अनिवार्य कर्तव्यों और दायित्वों के अर्थ में किया गया है। यांत्रिक नियमों की भाँति धर्म की धारणा कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं है अपितु एक गतिशील विचार है।

1.4 पुरूषार्थ के रूप में धर्म

चार पुरूषार्थों में धर्म का स्थान मिला है। मानव जीवन काल में अर्थ एवं काम का सेवन करना चाहता है। कहीं वह अर्थ एवं काम के अनुचित सेवन में न लग जाय इसलिए पुरूषार्थों में धर्म का विधान करके मनुष्य की इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने की व्यवस्था कर दी गई। धर्म की परिधि में रहते हुए अर्थ एवं काम का भोग स्वीकृत है। धनार्जन एवं काम सुख धर्म के नियमों के अनुकूल होना चाहिए। उदाहरण के लिए बैंक लूटकर, चेन खींच कर, अथवा फिरौती द्वारा धन कमाना धर्म विरूद्ध एवं अनुचित है। उचित साधनों से धन कमाने की छूट धर्म के अन्तर्गत है। स्वदारा में संतोष धर्म विहित है। **पर दार रत होना धर्म विरूद्ध है। इस प्रकार पुरूषार्थ के रूप में धर्म नैतिक नियमों की व्यवस्था है।** नैतिक नियम सदाचार पर बल देते हैं। ये नैतिक नियम व्यक्ति को नियंत्रित कर सामाजिक संतुलन को बनाये रखते हैं। धर्म एक नियमन करने की भी शक्ति है। इस अर्थ में धर्म की भूमिका सारथी अथवा चरवाहे जैसी है। सारथी के रूप में धर्म की भूमिका रथ में जुते काम रूपी अश्वों को उस दिशा में हाँकना जिससे अर्थरूपी रथ में बैठे मनुष्य को उसके अभीष्ट मोक्ष की गति प्राप्त हो जाय। चरवाहा (सेफर्ड) जानवरों को रखाने का काम करता है, उन्हें लहलहाते हरे भरे खेतों की ओर आकृष्ट होने से रोकता है। मनुष्यों के लिए सुरा, सुन्दरी और संगीत लहलहाते हरे भरे खेतों के समान हैं। यदि मनुष्य इनमें फँस जाता है तो वह अपना मार्ग भूल सकता है। इसके अलावा राजनैतिक और आर्थिक लोभ आधुनिक सांसारिक हरियालियाँ हैं। इनसे बचना है नहीं तो जीवन यात्रा अधूरी रह जायेगी (सब मुसाफिर यहाँ, सब सफर पर यहाँ, ठहरने की इजाजत किसी को नहीं)। यह धर्म रूपी चरवाहा मनुष्य रूपी पशु का मार्ग दर्शक (गाइड) है। महाभारत में वेदव्यास ने शायद इसीलिए धर्म को सभी पुरूषार्थों में श्रेष्ठ माना है। स्वर्गारोहण पर्व मेडु कहद्दा गया है कि जब धर्म से ही अर्थ और काम प्राप्त होते हैं तो धर्म का सेवन क्यों न किया जाय अर्थात धर्म का सेवन अवश्य किया जाय।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्माद् अर्थश्च कामश्च स कितर्थं न सेव्यते ।

धर्म हमें बताता है कि अर्थ और काम साध्य न होकर साधन मात्र है। वह जीवन जो अर्थ एवं काम की अमर्यादित तुष्टि पर बल देता है अवांछनीय एवं खतरनाक है। अत: यह आवश्यक है कि जीवन मोक्ष प्राप्ति के आदर्श द्वारा अनुशासित एवं नियंत्रित हो और इसी कार्य के लिए धर्म की आवश्यकता बताई गई है।

1.5 धर्म के स्वरूप

कर्तव्यों के समुच्चय के रूप में धर्म शब्द के दो पक्ष हैं (1) सार्वभौमिक पक्ष और (2) विशिष्ट पक्ष।

1.5.1 सार्वभौमिक पक्ष —कुछ धर्म मानव मात्र के लिए हैं। मनुष्य होने के नाते कुछ कर्म ऐसे हैं जो सभी देशों एवं कालों के मनुष्यों को करने पड़ते हैं। जाति, अवस्था, लिंग, प्रजाति, धर्म, भाषा आदि का असर इन सामान्य धर्मों पर नहीं पड़ता है। ये धर्म उक्त तत्वों पर निर्भर नहीं करते हैं। दुनिया में कहीं भी रह रहे मनुष्यों के लिए इनका विधान है। इसीलिए ये सार्वधर्म कहे जाते हैं। सामान्य धर्म और मानव धर्म के नाम से भी इन्हें जाना जाता है। मानव धर्म के नाम से साधारण एवं शाश्वत नियमों की रचना की गई थी इसके पीछे धारणा यह है कि देश, काल गुण और भ्रम के भेद होने पर भी मानव जीवन सर्वत्र समान हैं जिसके कारण कुछ आधारभूत नियमों एवं सिद्धान्तों से बंधा है। यही सर्वव्यापी आधारभूत नियम और सिद्धान्त मानव जीवन का निचोड़ है। और मानव के सुखी जीवन के आधार हैं। महाभारत, मनुस्मृति एवं योग सूत्र (पतंजलि द्वारा रचित) में इन सर्वव्यापी धर्मों का उल्लेख मिलता है। महाभारत के शान्ति पर्व में उल्लेख है कि सनातन धर्म यही है कि मनुष्य काल सच बोले, दान दे, तप करे, पवित्र हो, संतोषी हो, लोकलज्जा युक्त हो, क्षमाशील हो, उसके व्यवहार में सरलता हो, वह ज्ञानपूर्वक कार्य करे, उसमें शान्ति हो दया हो और ध्यान एकाग्र करने की प्रवृत्ति हो।

(अक्रोध: सत्यवचनं संविभाग: क्षमा तथा। प्रजन: स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव
च आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्व वर्णिका: । शान्ति पर्व 60.7-8)

मनुस्मृति में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय निग्रह सभी वर्णों के धर्म बताये गये हैं। इसके अलावा मनुस्मृति (6/92) में धर्म के दस लक्षणों (नियमों) की चर्चा है। इनके पालन में समाज व्यवस्थित रहता है और लौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है। ये दस लक्षण इस प्रकार हैं- धैर्य, क्षमा, दम (संयम), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (आभ्यन्तर एवं बाह्य शुद्धि अर्थात् सब प्रकार की शुद्धि), इन्द्रिय निग्रह (इन्द्रियों पर नियंत्रण), धी (बुद्धि द्वारा विचार करके कामों को करना, विद्या (सब प्रकार के ज्ञान विशेषकर आत्म ज्ञान की प्राप्ति का प्रयास करना), सत्यवादन, अक्रोध (जहाँ क्रोध करने का अवसर हो वहाँ भी क्रोध न करना (धृतिक्ष क्षमा दमोडस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रह: । धोर्विद्या सत्यम क्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्। अपने योग सूत्र में पतंजलि ने पाँच यम और पाँच नियमों (धर्म के नियमों) के पालन पर जोर दिया है। पाँच नियम - शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश प्राणिधान (ईश्वर में विश्वास और उस पर भरोसा)।

NMDC-102

ऊपर कहे गये धर्म के नियम सब मनुष्यों के लिए हैं। अत: इन्हें मानवधर्म अथवा सामान्य धर्म कहना अधिक अच्छा होगा।

1.5.2 विशिष्ट पक्ष— कुछ धर्म ऐसे हैं जिनका पालन सभी को नहीं करना है, केवल वे ही उनका पालन करेंगे जो विशेष रूप से उनसे संबंधित हैं। उदाहरण के लिए विद्यालय के प्राचार्य पद पर आसीन व्यक्ति ही प्राचार्यत्व के धर्म का निर्वाह करेगा न कि उस विद्यालय का अध्यापक, लिपिक अथवा चतुर्थश्रेणी कर्मचारी। समाज में अपने विशिष्ट पद के अनुकूल कर्तव्यों के पालन को विशिष्ट धर्म कहा गया है। एक व्यक्ति समाज में अनेक पदों को धारण किये हुए हैं। इन सभी पदों के योग को स्थिति संकुल नाम समाज शास्त्र में दिया गया है। अत: स्थिति संकुल से जुड़े करणीय कार्यों को विशिष्ट धर्म कहा गया हैं। वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, स्त्री धर्म, मित्र धर्म, राजधर्म और अपद्धर्म आदि विशिष्ट धर्म की श्रेणी में आते हैं। वर्णधर्म और आश्रम धर्म की विवेचना इस खण्ड को अगली इकाई में प्रस्तावित है।

(1) स्त्री धर्म —स्त्री धर्म के दो भाग किये जा सकते हैं— सधवा स्त्री के धर्म और विधवा स्त्री के धर्म। पति सेवा और पति-भक्ति सधवा स्त्री के धर्म हैं। अधिकांश धर्मशास्त्र विधवा स्त्री को दूसरा विवाह करने की आज्ञा देते हैं। इच्छा हो तो दूसरा विवाह करे, अन्यथा ब्रह्मचर्य से रहकर वैधव्य के नियमों का पालन करे। ब्रह्मचारिणी विधवा के जीवन के यम और नियम वैसे ही हैं जैसे अन्य नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के होते हैं (पाराशरस्मृति 4/31) । ब्रह्मचारिणी विधवा सभी प्रकार के भोग विलासों से दूर रहे और तपस्या का जीवन जिये।

(2) मित्र धर्म— आवश्यकता पड़ने पर काम आये वही सच्चा मित्र है। मित्र धर्म का निर्वाह करने के लिए मित्र व्यक्ति अपने मित्र के दु:ख से दु:खी हो और उसके सुख से सुखी है। अपने मित्र के दु:ख -सुख में भागीदार होना मित्रधर्म है। गोस्वामी जी मित्र धर्म पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं (जे न मित्र दु:ख हो हिं दुखारी। तिनहि बिलोकत पातक भारी') । वह मित्र जो अपने मित्र को उसके सामने तारीफ करता है और पीठ पीछे बुराई करता है वह अच्छा और सच्चा मित्र नहीं है। ऐसे मित्र का साथ तुरंत छोड़ देना चाहिए। मित्र के लिए जीने मरने वाला साथी सच्चा मित्र कहलाता है।

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत ताहशं मित्रं विषकुम्भंपयोमुखम् ॥

(3) राजधर्म— राजा के कर्तव्य प्रजा (सामान्यजनों) से भिन्न होते हैं। मनुष्य के विचार से राजा का यह पहला कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रजा अपने धर्म का पालन कर रही है या नहीं। सत्यमित्र दुबे ने अपनी पुस्तक 'मनु की समाज व्यवस्था' में राजा के दो प्रकार के कर्तव्यों का बखान किया है।

(1) धर्म संस्थापनार्थ दण्ड का प्रयोग और

(2) दण्ड प्रयोग की सामर्थ्य, क्षमता तथा योग्यता रखना।

प्रजा के समुचित पोषण की व्यवस्था करना, उसके हितों की रक्षा करना, उसके कल्याण के निमित्त कार्य करना - जैसे कुँआ खेदवाना, बाग लगवाना, सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगवाना, ठहरने के लिए धर्मशाला बनवाना, पाठशाला बनवाना आदि, उद्देश्य सिद्धि के लिए कुटिल नीति का सहारा लेना आदि राजधर्म है।

1.6 आपद्धर्म

यह धर्म हिन्दुओं की परम उदारता और लौकिक जीवन में निष्ठा का परिचायक है। यह धर्म पाश्चात्य विचारकों के इस चिंतन को आघात पहुँचाता है कि हिन्दुओं में जीवन रक्षण (लाइफ अफिर्मिंग) की नीति नहीं है बल्कि जीवन त्याग (नकार - लाइफ डिनाइंग) का दृष्टिकोण मुख्य है। जीवन रक्षा में गहरी दिलचस्पी दिखाने के लिए ही इस आपद्धर्म की व्यवस्था हिन्दू समाज में की गई है। यहाँ जीवन रक्षा को धर्म रक्षा से भी श्रेष्ठ स्थान दिया गया है क्योंकि जब जीवन ही नहीं होगा तो धर्म पालन कैसे होगा। मनु कहते हैं कि यदि भूख से प्राण निकलने की स्थिति हो तो मांस खा लेना भी वर्जित नहीं है। आपद्धर्म से तात्पर्य ऐसे धम्र से है जो मुसीबत या अपत्तिकाल के लिए हो । उदाहरण के लिए जीवों को न मारना (अहिंसा) एक सामान्य धर्म है पर नरभक्षी बाघ को मारना हिंसा नहीं है, प्लेग फैल रहा हो तो चूहों को मारना अधर्म नहीं है। आपद्धर्म अल्पकालिक होते हैं। मनु का कथन है कि 'आपत्तिकाल में प्रयोग करते हैं वे परलोक में उसका फल नहीं पाते।

1.7 स्वधर्म

धर्म पालन को लेकर कोई विभ्रम न हो इसलिए स्वधर्म की धारणा का विकास किया गया। समाज के निर्विध्न चलते रहने एवं व्यवस्थित रहने के लिए स्वधर्म का पालन ही आवश्यक है। सभी लोग अपने अपने धर्म का पालन करें। वें दूसरे के धर्म-पालन से दूर रहें। अंपने धर्म पालन में कमी रह जाती है तो भी अच्छा है। पर दूसरे के धर्म का पालन स्वयं धर्म पालक और समाज के हित में नहीं है। स्वधर्म पालन की महत्ता और दूसरे धर्म पालन से उत्पन्न विपत्ति (खतरे) की व्याख्या और समझने के लिए एक छोटी सी कहानी प्रस्तुत है। एक धोबी थ। उसके पास एक कुत्ता था और एक गधा। धोबी के कुत्ते के बारे में यह कहावत जंग जाहिर है कि 'धोबी का कुत्ता, न घर का, न घाट का'। धोबी कुत्ते की देखरेख एवं उसका पालन पोषण ठीक से नहीं कर रहा था। कुत्ता अप्रसन्न था। एक रात धोबी के घर चोर घुसा। कुत्ता अप्रसन्न होने के कारण नहीं भौंका। गधे ने कहा कुत्ते से कि भौंक कर स्वामी को जगा दो। कुत्ते ने उसका कहना नहीं माना। इस पर गधे ने ढीं पों, ढीं पों चिल्लाना शुरू किया। धोबी की निद्रा टूट गयी। वह डंडा लेकर उठा और गुस्से से गधे को मार डाला। गधे ने कुत्ते के धर्म का पालन किया जो उसका धर्म नहीं था। इसलिए दुर्गति को प्राप्त हुआ। गीता कहती है कि 'स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:'। अत: हिन्दू समाज में स्वधर्म पालन पर जोर है और यह एक अच्छी बात है।

1.8 पुरूषार्थ

पुरूषार्थ एक नैतिक व्यवस्था है जो व्यक्ति को समाज एवं समाजेत्तर आयाम से जोड़ती है। चारों पुरूषार्थों की पूर्ति द्वारा मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष की पूर्ति होती हैं। उसका सर्वांगीण विकास होता है।

1.8.1 पुरूषार्थ की आवश्यकता क्यों? — उपनिषद का कथन है कि ''संसार को पूजने वाला अंधकार में हैं लेकिन उससे भी अधिक अंधकार में वे हैं जो केवल ब्रह्म को पूजते हैं, जो दोनों को पूजता है वह अमरत्व को प्राप्त होता है'। पुरूषार्थ सिद्धान्त मनुष्य को संसार और ब्रह्म दोनों से जोड़ता है। अत: सांसारिक कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए मोक्ष प्राप्त करने हेतु इस सिद्धान्त की हिन्दू मनीषियों द्वारा रचना की गई।

1.8.2 पुरूषार्थ का अर्थ — मनुष्य इस दुनिया में और परलोक में जो कुछ पाना चाहता है उस सबकी अभिव्यक्ति ही पुरूषार्थ है। यह मनुष्य के प्रयोजन एवं उसके प्राप्य का द्योतक है। पुरूषार्थ मनुष्य के उद्देश्य अथवा लक्ष्य का विषय है। यह वह मुख्य प्रयोजन है जिसकी प्राप्ति या सिद्धि के लिए प्रयत्न करना मनुष्य के लिए आवश्यक एवं कर्तव्य हो। पुरूषार्थ संख्या में चार हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पुरूषार्थ के अन्तर्गत उन सभी क्रियाओं का समावेश है जो इस जीवन को सुखमय, समृद्ध एवं सार्थक बनाती है। पुरूषार्थ में तात्कालिक और चरम उद्देश्यों को स्थान प्राप्त है। पुरूषार्थ मानव जीवन को संतुलित स्वरूप प्रदान करते हैं। उसकी ऐच्छिक एवं पारलौकिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए पुरूषार्थ के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया गया। पुरूषार्थ का एक अर्थ उद्यम अथवा प्रयत्न है। इस प्रयत्न या परिश्रम को करने वाला पुरूषार्थी (उद्यमी) कहा जाता है। पुरूषार्थ का सिद्धान्त **'काम करो'** है। निरूद्यम दु:ख का कारण बनता है। निरूद्यम से दूर रहने या बचने की सलाह पुरूषार्थ के माध्यम से मनुष्य को दी गई है। 'बनता बस उद्यम ही विधि है' यह पुरूषार्थ का मुख्य तत्व है। परवर्ती पौराणिकों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने को पुरूषार्थ कहा है। अत: पुरूषार्थ अपने सभी अर्थों में मानव जीवन को सफल एवं सार्थक बनाने का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। पुरूषार्थ लौकिक और पारलौकिक जीवन का आधार है।

1.8.3 पुरूषार्थ विवेचन — 'त्रिवर्ग' की धारणा का विकास मनु द्वारा किया गया है जिसमें तीन पुरूषार्थ - धर्म, अर्थ एवं काम- सम्मिलित है। चौथा पुरूषार्थ मोक्ष है। यह चरम पुरूषार्थ है, मूल्यों का मूल्य है।

(1) धर्म — पुरूषार्थ के रूप में धर्म की व्याख्या इसी इकाई में हम कर चुके हैं। धर्म एक नियंत्रक शक्ति है। इसे एक डंडा या चाबुक कह सकते हैं। जो मानव रूपी पशु की पाशविक प्रवृत्तियों पर अंकुश इसलिए लगाता है कि कहीं वह अर्थ एवं काम के सेवन में अनैतिक एवं अनुचित साधनों का प्रयोग कर पथभ्रष्ट न हो जाय। धर्म मनुष्य को अपने न्यायोचित पथ पर चलते रहने के लिए बाध्य करता है। दुर्खीम ने बाध्यता को सामाजिक तथ्या का एक विशेषता बताया है। अत: धर्म एक सामाजिक तथ्य है अथवा नैतिक नियमों का ठेकेदार। नैतिकता

एवं न्याय की रक्षा के लिए धर्म का विधान है। अनैतिकता उसी प्रकार से धर्म से घबराती एवं भयभीत रहती है जैसे मोर पक्षी से सांप। जहाँ मोर होते हैं वहाँ या तो सांप रहते नहीं हैं और रहते भी हैं तो दबे दबे और सहमे सहमे । अनैतिकता नैतिकता के सामने सर उठाने का साहस नहीं करती। धर्म वह लक्ष्मण रेखा है जिसके बाहर जाने से जीवन रूपी सीता का अधर्म द्वारा अपहरण हो जाने की सम्भावना है। अत: अर्थ एवं काम की पूर्ति करते समय मनुष्य को धर्म की परिधि में रहने के लिए कहा गया है। इसी अर्थ में धर्म मानव जीवन का अनुशासक एवं नियंत्रक है और इसी अर्थ में उसकी उपमा चरवाहे अथवा सारथी से दी जाती है। संक्षेप में, **धर्म नैतिक नियमों की एक व्यवस्था है।**

धर्म का कार्य मनुष्य की संग्रह वृत्ति और भावनात्मक अभिलाषाओं को दिशा प्रदान करना है। धर्म का यह मार्ग दर्शन जीवन के आनन्द एवं मोक्ष में ताल मेल स्थापित करता है। सांसारिक हितों एवं आध्यात्मिक स्वतंत्रता में संगति बैठाना (लाना) धर्म द्वारा विहित अनुशासन से ही संभव है।

(2) अर्थ — अर्थ से तात्पर्य मनुष्य के आर्थिक और राजनैतिक जीवन, शक्ति और सम्पत्ति की इच्छा से है। अपने अर्थशास्त्र के विवेचन में पीगू अर्थशास्त्र को धन का शास्त्र बताते हैं। **धन सब कुछ नहीं है पर कुछ अवश्य है।** मानव इच्छाओं की पूर्ति के लिए (भोजन, कपड़ा एवं मकान के लिए) धन आवश्यक है। शिक्षा एवं सुख सुविधाओं की प्राप्ति के लिए धन का सहारा लेना पड़ता है। उद्योग, व्यापार तथा उत्पादन के लिए धन की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार धन के अन्तर्गत उन आर्थिक एवं अनार्थिक क्रियाओं को सम्मिलित किया गया है जिनमें धन की आवश्यकता पड़ती है। अर्थ द्वारा सांसारिक समृद्धि को हस्तगत किया जा सकता है । सांसारिक समृद्धि **धन और शक्ति** से संभव है। कपाडिया ने अर्थ को संग्रही वृत्ति के रूप में अर्थ को परिभाषित किया है। अत: मानवीय आवश्यकताएं और उनकी पूर्ति के साधनों का संगठन पुरूषार्थ का अर्थ पक्ष है।

(3) काम — काम के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक इच्छाएं और प्रवृत्तियां सम्मिलित हैं। संकुचित अर्थ में काम का अर्थ यौन इच्छाओं की पूर्ति है। विस्तृत अर्थ में काम से आशय मनुष्य में विद्यमान उन सभी इच्छाओं से है जिनका संबंध इन्द्रियों की संतुष्टि एवं सुख से है। काम का संबंध भावनात्मक और सौन्दर्यात्मक जीवन से भी है। शुद्ध यौन कामना के रूप में काम की अभिव्यक्ति उसकी निम्न स्तर पर अभिव्यक्ति है। कुछ भी हो यह ध्रुव सत्य है कि काम की निम्न स्तर पर पूर्ति के बिना मानव प्रजाति एवं समाज के सातत्य को बनाये रखना कठिन ही नहीं असम्भव है। यही कारण है कि इस काम की संतुष्टि कोधर्म द्वारा नियमित कर दिया गया है ताकि अनाचार, दुराचार और कदाचार को रोका जा सके।

(4) मोक्ष — इकाई 4 में हिन्दुत्व की मान्यताओं का बखान करते समय मोक्ष या मुक्ति के विषय में बताया जा चुका है। मोक्ष वह दशा है जब जीव ब्रह्ममय हो जाता है अथवा ब्रह्म से उसका एकाकार हो जाता है। वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इसका अर्थ है बन्धन मुक्त। सासारिक बन्धनों से बंधकर मनुष्य ईश्वर में विलीन नहीं हो सकता। ईश्वर में विलीन होना ही मोक्ष है। मुक्ति निर्वाण, कैवल्य, परमपद और आश्यात्मिक स्वतंत्रता इसके पर्यायवाची शब्द हैं। मोक्ष से ही मनुष्य शाश्वत आनन्त को प्राप्त कर सकता है। लौकिक आनन्द इस

NMDC-102

शाश्वत आनन्द के कण है। याद रहे सम्पूर्ण आनन्द की अनुभूति शाश्वत आनन्द में निहित है।

1.8.4 चारों पुरूषार्थों में कौन सा श्रेष्ठ है? — श्रेष्ठता एवं महत्ता प्रदिपादित करने के लिए उपयोगिता - अनुपयोगिता को कसौटी माना जा सकता है। यह सच है कि उपयोगिता और अनुपयोगिता का विचार अलग-अलग व्यक्तियों में अलग हो सकता है जैसे कामी को स्त्री प्रिय होती है और प्रेम प्रसंग को ही उसके लिए उपयोगिता है, वहीं लोभी को दाम (धन) से प्यार होता है और दाम ही उसके लिए सर्वस्व हो सकता है। इसके भगवान के प्रेमी के लिए भगवान ही सर्वस्व है। यहाँ व्यक्ति के हिसाब से उपयोगिता और अनुपयोगिता के निर्धारण से काम नहीं बनेगा। भारतीय समाज एवं हिन्दू चिंतन में जो उपयोगी है वही महत्वपूर्ण हैं। चारों पुरूषार्थों में वही सबसे श्रेष्ठ है जिसमें कतियाँ न हो और जो असीमित हो।

काम और अर्थ तो मूल्यवान नहीं हो सकते हैं क्योंकि इनमें सीमितता और कमियों के दोष हैं। चारों पुरूषार्थों की श्रेष्ठता पर अलग-अलग विचार करके हम इसका निर्णय करेंगे कि चारों में कौन श्रेष्ठ है?

(1) क्या काम मूल्यवान है? — चार्वाक दर्शन एवं कामी व्यक्ति की दृष्टि से काम मूल्यवान हो सकता है पर काम दु:ख का कारण बनता है इसलिए मूल्यवान नहीं है। मनुष्य अपनी अनन्त इच्छाओं की पूर्ति न कर पाने से दु:खी होता है, निराशा एवं अधान्ति का शिकार हो जाता है। जिससे जीवन अशान्त हो जाये उसे मूलयवान मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। दु:ख निराशा एवं अशान्ति के अलावा भी कारण है जो काम को परम पुरूषार्थ का दर्जा देने से रोकते हैं। भोग भोगने से भोगने की क्षमता का क्षय होता है यह अर्थशास्त्र का एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है। विषय भोगों से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं जैसे एड्स जैसा भयानक एवं प्राण लेवा रोग। विषय-सुख टिकाऊ न होकर क्षणिक होता है। अति कामी पुरूष का उत्तरार्ध जीवन दु:खमय होता है। अत: काम को परम पद का दर्जा नहीं दिया जा सकता।

(2) क्या अर्थ मूल्यवान है? — नहीं, इसमें भी अनेकानेक कमियाँ हैं। यह सच है कि भौतिकवादी व्यक्ति को अर्थ की महत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है। पैसा से ही पेट पालन होता है। पर ध्यान रहे कि पैसा का एक सीमा तक महत्व है उसके बाद नहीं। 'साईं उतना दीजिए जामे कुटुम समाय। न मैं भूखा मरूँ, न कोइ भूखा जाय' यह उक्ति धन प्राप्ति के विषय में सटीक लगती है। अधिक पैसा नाना प्रकार के जंजालों में फँसता है। सुख-चैन और नींद हराम करता है। धन संचय करके उसका भोग न कर पाये तो ऐसा धन व्यर्थ है। भर्तृहरि कहते हैं कि धन की तीन गतियाँ होती हैं। दान, भोग और नाश। धन आने पर धन का भोग करना चाहिए। भोग से बचे धन को दान कर देना चाहिए। जो ऐसा नहीं करते हैं उनके धन की तीसरी गति (अर्थात नाश) अपने आप हो जाती है। धन होने पर चोर, डाकुओं, लुटेरों और फिरौती मांगने वालों का भय सदा बना रहता है जो भय और चिंता का कारण हो उसे मूल्यवान कैसे माना जा सकता है?

(3) क्या धर्म मूल्यवान है? — हम सबके बनें और सब हमारे हों, हम सबकी सहायता करें और दूसरों की इच्छाओं को भी पूरा होने दें। ऐसा तभी होगा जब मनुष्य कुछ नियमों पर चलेगा। **धर्म इन नियमों का ही नाम है।** धर्म के विषय में इसी इकाई में हम बता चुके हैं कि इससे इस लोक में और पर लोक में सुख मिलता है। इस दृष्टि से तो धम्र सर्वश्रेष्ठ मूल्य ठहरता है। इस पर भी धर्म एक साधन है न कि साध्य।

(4) क्या मोक्ष मूल्यवान है? — चक्रवर्ती सम्राट और साधारण सम्राट में कौन श्रेष्ठ है? यह बताना सरल है। चक्रवर्ती सम्राट बड़ा है क्योंकि वह सम्राटों का सम्राट है। इसी तरह धर्म और मोक्ष में मोक्ष श्रेष्ठ है क्योंकि धर्म एक मूलय है जब कि मोक्ष मूल्यों का मूल्य है। भारतीय चिंतन के अनुसार मनुष्य अजर अमर होना चाहता है। संसार उसका वास्तविक निवास स्थान नहीं है बल्कि उसका वास्तविक निवास स्थान ईश्वर है। शाश्वत आनन्द और शाश्वत शान्ति मोक्ष द्वारा ही संभव है और यह अपने से उच्चतर किसी साध्य का साधन नहीं है। अत: मोक्ष सर्वश्रेष्ठ पुरूषार्थ है।

निष्कर्ष:

याद रहे मोक्षार्थी पुरूष के लिए मोक्ष सर्वोच्च मूल्य है पर बुभुक्ष के लिए धर्म सर्वोच्च मूल्य है। धर्म अर्थ और काम इन तीनों में धर्म सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि धर्मानुकूल चलने से कल्याण होता है।

1.9 सारांश

इस इकाई में सबसे पहले धर्म एवं रिलीजन में भेद बताया गया है। फिर धर्म के विभिन्न अर्थों पर तथा इसके बाद धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद आपद्धर्म एवं स्वधर्म की चर्चा हुई। इसके बाद पुरूषार्थ सिद्धान्त की आवश्यकता, पुरूषार्थ के अर्थ एवं महत्व का विवेचन हुआ है।

1.10 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. श्रीवास्तव, हरिशचन्द्र, भारतीय समाज संरचना, 1970, समाजशास्त्र प्रकाशन वाराणसी
2. कणे पी. वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, वाल्यूम दो, भाग दो
3. प्रभु पी. एच., हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन
4. दुबे, सत्यमित्र, मनु की समाज व्यवस्था
5. भट्ट, गौरीशंकर, भारतीय संस्कृति
6. आत्रेय, भीखन लाल, भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास
7. महाभारत (कर्ण पर्व एवं अनुशासन पर्व)
8. मनुस्मृति
9. पाराशर स्मृति

1.11 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय -

1. धर्म सिद्धान्त की आवश्यकता क्यों हुई? समझाइये।
2. धर्म के धात्वर्थ पर प्रकाश डालिए।
3. पुरूषार्थ के रूप में धर्म की महिमा की विवेचना कीजिए।
4. सामान्य धर्म की धारणा स्पष्ट कीजिए।
5. अर्थ क्यों एक सर्वश्रेष्ठ पुरूषार्थ नहीं है? समझाइये।

दीर्घ उत्तरीय -

1. धर्म के विभिन्न अर्थों को सविस्तार स्पष्ट कीजिए?
2. चारों में कौन पुरूषार्थ सर्वश्रेष्ठ है और क्यों?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. त्रिवर्ग में कौन सा पुरूषार्थ सम्मिलित नहीं है।

   (अ) धर्म (ब) अर्थ (स) काम (द) मोक्ष

2. शृष्टि को धारण करने के अर्थ में किसका प्रयोग हुआ है?

   (अ) धर्म (ब) अर्थ (स) आपद्धर्म (द) मोक्ष

1.12 प्रश्नोत्तर

1. द
2. अ

इकाई 2 वर्णाश्रम व्यवस्था एवं संस्कार

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 वर्णाश्रमधर्म

2.3 वर्ण व्यवस्था का अर्थ

2.4 वर्णधर्म

- 2.4.1 ब्राह्मण धर्म
- 2.4.2 क्षत्रिय धर्म
- 2.4.3 वैश्य धर्म
- 2.4.4 शूद्रधर्म

2.5 वर्ण प्रदान करने का आधार

2.6 वर्णव्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व

2.7 आश्रम व्यवस्था

2.8 आश्रम के प्रकार

2.9 गृहस्थ आश्रम

2.10 वानप्रस्थ आश्रम

2.11 संन्यास आश्रम

2.12 संस्कार

- 2.12.1 संस्कार का अर्थ
- 2.12.2 संस्कारों की संख्या
- 2.12.3 प्राग जन्म संस्कार
- 2.12.4 बाल्यावस्था के संस्कार
- 2.12.5 यौवन कालीन संस्कार
- 2.12.6 विवाह

2.13 सारांश

2.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

2.15 संबंधित प्रश्न

NMDC-102

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप —

* वर्णाश्रद्द धर्म की परिभाषा को स्पष्ट कर सकेंगे।
* वर्णाश्रम के समाजशास्त्रीय महत्व की व्याख्या कर सकेंगे।
* आश्रम के प्रकार स्पष्ट कर सकेंगे।
* संस्कार का अर्थ और विभिन्न संस्कारों पर टिप्पणी कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

व्यक्ति एवं समाज के संबंध की समस्या विश्व के हर समाज के समाज वैज्ञानिकों के लिए केन्द्रीय महत्व की होती है। यहाँ व्यक्ति और समाज अलग नहीं माना गया है। समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति की महिमा यहाँ है। उन्हें एक ही सिक्के के दो पहलू माना गया है और इसीलिए समाज में ऐसी व्यवस्था लागू की गई है जिससे व्यक्ति और समाज का बिना किसी बाधा के विकास होता रहे।

2.2 'वर्णाश्रम' धर्म

वर्णाश्रम धर्म अथवा व्यवस्था का निर्माण दो व्यवस्थाओं का सूचक है— वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था। वर्ण व्यवस्था एक प्रकार का कार्य विभाजन है। इस कार्य विभाजन का आधार गुण और कर्म रहे हैं। रूचि और योग्यता को भी इस श्रम विभाजन में यथेस्ट महत्व दिया गया है। कोई भी कार्य कुशलता अथवा दक्षता के साथ पूरा होता रहे इस हेतु व्यक्ति को योग्य बनाने की जरूरत है। व्यक्ति अपने जीवन के पग-पग पर अशुभ बातों को त्यागता चले और शुभ का वरण करे इस हेतु उसे पूरे जीवन भर और जीवन समाप्त होने के बाद संस्कारों के दौर से गुजरना पड़ता है। इन्हें जीवन पथ के संस्कार कहना अधिक उचित है। जीवन जीना एक आसान सा खेल नहीं है। जीवन जीना तो एक योग्यता है। योजना बनाकर योजना के अनुसार जीवन जीना अच्छा है। अनियोजित जीवन अर्थहीन होता है। जीवन की योजना दो स्तरों पर तैयार की जा सकती है - प्रथम व्यक्ति के स्तर पर और दूसरे समाज के स्तर पर। हिन्दू व्यवस्थाकारों ने समाज के स्तर पर जीवन योजना बनाई और उसे आश्रम नाम दिया। श्रम विभाजन के आधार पर समाज को स्वरूप दिया। समाज के इस स्वरूप को वर्ण व्यवस्था नाम दिया गया। पद भूमिका के आधार पर वर्ण एवं आश्रम व्यवस्थाएं प्रतिष्ठापित हुई। वर्णों के पद (स्थान) एवं कर्तव्य निश्चित कर समाज की व्यवस्था बनी तथा जीवन के चार सोपानों के कर्तव्य निश्चित कर आश्रम व्यवस्था रूपायित हुई। वर्णाश्रम व्यवस्था को वर्णाश्रम धर्म इसी लिए कहा गया है। क्योंकि दोनों व्यवस्थाओं में कर्तव्यों के पालन पर जोर है। प्रत्येक वर्ण एवं प्रत्येक आश्रम के लोगों के लिए करणीय कार्यों की सूची तैयार की गई जिन्हें करना उनका कर्तव्य घोषित किया गया।

2.3 वर्ण व्यवस्था का अर्थ

वर्णों के कर्तव्य एवं स्थान निश्चित करने वाली व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था कहते हैं। वर्ण सोपान क्रम में ब्राह्मणों का स्थान उच्च है, इसके बाद क्षत्रियों को स्थान दिया गया। इसके बाद वैश्यों को स्थान मिला। सबसे बाद को सबसे नीचा स्थान शूद्रों को मिला। यह स्थान उन्हें उनके कार्यों के महत्व के आधार पर मिला। पढ़ने और पढ़ाने का कार्य ब्राह्मणों को मिला क्योंकि ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रदान करने के लिए वे ही अपने स्वभाव, गुण एवं रूचि के आधार पर उपयुक्त थे। ज्ञान कोष की रक्षा का कार्य उन्हें सौंपना लाचारी थी क्योंकि उनके अलावा इस कार्य को कुशलता पूर्वक पूरा करने की शक्ति और सामर्थ्य अन्य किसी में नहीं थी। ज्ञान कोष की रक्षा का कार्य किसी भी राष्ट्र या समाज के लिए सर्वोपरि महत्व होता है। इसके बाद सुरक्षा का कार्य महत्वपूर्ण होता है। समाज की सुरक्षा अथवा रक्षा के लिए क्षत्रिय उपयुक्त पाये गये। क्योंकि क्षत्रियों में साहस था और उनकी भुजाओं में बल था। निर्बल किसी की रक्षा नहीं कर सकता। रक्षा के कार्य की कुशलता क्षत्रियों में थी। अत: रक्षा का भार उन्हें सौंप दिया गया। विशेषीकरण की दृष्टि से धन कमाने एवं पालन पोषण के कार्य के लिए वैश्य सबसे अधिक निपुण थे। अत: उन्हें कृषि, व्यापार और गोपालन के कार्य आवंटित कर दिये गये। सेवा का कार्य सबसे बाद को आता है। सेवा के लिए शूद्रों को चुन लिया गया क्योंकि सेवक ऐसा होना चाहिए जो प्रसन्नतापूर्वक सेवा का कार्य करे, सेवा करने से उसे जरा भी कष्ट न हो। हर्षपूर्वक्त सेवा का कार्य करने का भार शूद्रों को सुपुर्द कर दिया गया। सेवा करने वाला सदैव स्वामी के हितों की सोचता है्स। सेवक को सेवा का कोई लाभ नहीं मिलता। सेवा का लाभ तो उसके स्वामी अथवा सेवा के अधिकारी को मिलता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चारों वर्णों का यह उत्तरदायित्व था कि वह अपने-अपने लिए निर्धारित कर्तव्यों को करें। यहाँ ध्यान की बात यह है कि इन सभी प्रकार के कार्यों का महत्व समान है। समाज व्यवस्था तभी तक चलती रहेगी जब तक समाज के चारों अंग स्वधर्म (अपने अपने कर्तव्यों) का पालन करते रहेंगे। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वर्ण व्यवस्था एक आदर्श श्रम विभाजन की व्यवस्था थी।

2.4 वर्ण धर्म

सभी वर्णों के लिए मनुस्मृति एवं गीता के अनुसार निश्चित कर्म इस प्रकार थे।

2.4.1 ब्राह्मण धर्म — पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना,ब्राह्मणों के निश्चित कर्म थे (मनुस्मृति) । शान्त रहना, दमन, तपस्या, शौच, शान्ति अर्जन (सरलता) ज्ञान विज्ञान एवं अस्ति का भाव ब्राह्मणों के गोतोक्त स्वभावं जनित कर्म हैं।

2.4.2 क्षत्रिय धर्म — प्रजा की रक्षा करना, अध्ययन करना, दान देना यज्ञ करना और विषय भोगों से दूर रहना मनुस्मृति वर्णित क्षत्रियों के कर्तव्य हैं। शौर्य, दृढ़ता और कौशल प्रदर्शित करना, तेज से युक्त होना, युद्ध से न भागना, दान देना और ईश्वर भाव से सम्पन्न होना गीतोक्त क्षत्रिय कर्तव्य हैं।

NMDG-102

2.4.3 वैश्य धर्म — पशु पालन, यज्ञ करना, पढ़ना, दान देना, व्यापार करना, सूद पर रूपये बॉटना और कृषि करना मनुस्मृति वर्णित वैश्य के कर्तव्य हैं। वाणिज्य, कृषि और गोपालन वैश्य के गीतोक्त कर्म हैं।

2.4.4 शूद्र धर्म — गीता और मनुस्मृति दोनों ग्रन्थों में सेवा का कार्य वैश्य के हिस्से में आवंटित किया गया है। अत: उन्हें परिचर्या का एक मात्र कार्य दिया गया है जिसे उन्हें निष्ठापूर्वक एवं प्रसन्नता पूर्वक सम्पादित करते रहना है।

2.5 वर्ण प्रदान करने का आधार

'चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागश:' 'कर्म क्रिया विभेदेन चातुर्वण्यं प्रतिष्ठितम,' आदि गीता एवं महाभारत के श्लोकों से यही प्रमाणित होता है कि वर्ण का निश्चय गुण और कर्म के आधार पर होता है। कर्म को आधार मानने में कुछ कठिनाइयाँ दिखती हैं। इन कठिनाइयों में पहली कठिनाई यह है कि कर्मों का मापदण्ड क्या हो? यह कैसे तय हो कि किसके कर्म ब्राह्मण वर्ण में जाने के लायक हैं और किसके शूद्र वर्ण में दूसरी कठिनाई यह है कि वर्ण विशेष में जाने के लिए कर्मों का निर्धारण कौन करेगा? मान लो समाज सम्मत कमेटी बनाकर इस समस्या का निदान कर लिया जाय तो भी कठिनाइयाँ हैं। प्रथम, कमेटी भय और लोभ से अप्रभावित रहे इसकी सम्भावना जीवन में नहीं दिखती। दूसरे कमेटी के निर्णय को सभी मान लेंगे इसकी सम्भावना तो और भी बहुत कम है। फिर इतिहास में इसका कोई विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि कोई कमेटी ऐसी रही हो जो गुण कर्मों की परीक्षा करके वर्ण प्रदान करने का कार्य करती रही हो।

अब जन्म ही वर्ण निर्धारण का एक विकल्प बचता है। प्रारम्भ में शील, प्रतिभा एवं वैयक्तिक उपलब्धि के आधार पर वर्ण मिलने की बात का आभास मिलता है। कालान्तर में जन्म के आधार पर वर्ण मिलने लगे हो ऐसा सही प्रतीत होता है। वर्णोचित सम्मान मिलता रहे इसके लिए सभी वर्णों के लोगों से यह अपेक्षा की गई होगी कि वे अपने अपने वर्णानुसार कार्यों को सम्पन्न करते रहें। किसी वर्ण में जन्म ले लेने से वर्णोचित सम्मान नहीं मिलेगा। सम्मान तभी मिलेगा जब व्यक्ति अपने वर्ण के कार्य करेगा अन्यथा नहीं। उदाहरण के लिए ऐसा शूद्र जिसमें ब्राह्मण के लक्षण हों वह द्विजवत सेव्य माना गया ।

2.6 वर्ण व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व

वर्ण व्यवस्था की योजना एक उपयोगी सैद्धान्तिक योजना थी। यह एक तर्क संगत व्यवस्था थी। प्रथम वर्ण व्यवस्था एक आदर्श श्रम विभाजन की व्यवस्था थी। इसका कर्तव्य प्रधान होना इसका दूसरा गुण है। कार्यों की गुरूता के आधार पर श्रेणी करण इसे और तर्क सम्मत बनाकर इसके महत्व को विगुणित करता है। यह व्यवस्था एक मुक्त व्यवस्था थी जिससे इसमें स्थिरता और बेलोचपन के दुर्गुण नहीं आ पाये। अन्त में शक्ति का विकेन्द्रीकरण इस व्यवस्था में और अधिक जान डाल देने का कार्य करता है। इस व्यवस्था में शिक्षा शक्ति, आर्थिक शक्ति, राजनीतिक शक्ति एवं सेवा शक्ति का विकेन्द्रीकरण कर उसे और अधिक सशक्त बना दिया गया ।

यह व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था थी जिसमें विवाद विग्रह प्रतियोगिता आदि के लिए कोई स्थान नहीं था। यह प्रतियोगिता एवं संघर्ष मुक्त व्यवस्था थी।

2.7 आश्रम व्यवस्था

मनुष्य को अच्छा एवं अर्थपूर्ण जीवन जीने के लिए इस व्यवस्था को बनाया गया। यह जीवन की एक सुविचारित योजना थी। जीवन के उद्देश्य दो भागों में बाँट लिये गये। तात्कालिक उद्देश्य और अन्तिम उद्देश्य।

तात्कालिक उद्देश्यों में इसी संसार में सुख सुविधा प्राप्ति को स्थान दिया गया। अन्तिम उद्देश्य के रूप में मोक्ष का विधान है। इसके लिए यह जरूरी था कि इस संसार में कर्मनिष्ठ जीवन जीकर अन्त में मोक्ष की ओर उन्मुक्ता पर ध्यान केन्द्रित किया जाय। कुमार स्वामी आश्रमों 'पूर्णता' प्राप्ति का साधन मानते हैं। ऐक्षिक और पारलौकिक जीवन में, आश्रम व्यवस्था द्वारा, अनुठा समन्वय स्थापित हुआ है।

आश्रम का अर्थ

हिन्दू मान्यता के अनुसार मनुष्य का जीवन एक प्रकार से शिक्षा एवं आत्म संयम का जीवन है। इस शिक्षा की अवधि में उसे प्रशिक्षण के चार स्तरों से गुजरना पड़ता है। इन स्तरों को आश्रम कहा गया है। आश्रम शब्द की रचना संस्कृत की 'श्रम' धातु से हुई जिसका अर्थ उद्योग करना या परिश्रम करना है। यहाँ परिश्रम के दो अर्थ अभिप्रेत हैं। पहला, वह स्थान जहाँ परिश्रम किया जाता है और दूसरा परिश्रम करने की क्रिया का बोध कराता है। पहले अर्थ के अनुसार आश्रम रूकने, ठहरने के स्थल हैं। जीवन के ये पड़ाव स्थल या विश्राद्र स्थल इस उद्देश्य से बनाये गये हैं कि मनुष्य अपनी जीवन की यात्रा से उत्पन्न थकान को वहां दूर कर सके और भावी यात्रा तय करने की शक्ति एकत्रित कर सके। पी. एच् प्रभु कहते हैं कि अपने अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य द्वारा की जाने वाले जीवन यात्रा के मध्य पड़ने वाले विश्राम स्थल के रूप में आश्रमों को मानना चाहिए।

आश्रम के प्रकार

जीवन के कुल चार पड़ाव स्थल हैं - ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास।

2.8 ब्रह्मचर्य आश्रम

यह जीवन का प्रथम सोपान है। जीवन के प्रथम 25 वर्ष तक इस आश्रम में रहकर शिक्षा प्राप्त की जाती थी। यह आश्रम शिक्षा से जुड़ा है। उन दिनों शिक्षा का अर्थ वेदाध्ययन था। आज जैसी शिक्षा व्यवस्था उस समय नहीं थी। विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए गुरूकुल में रहते थे। गुरू को जब यह मालूम हो जाता था कि शिष्य में ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट इच्छा जाग्रत हो गई है तब वह उसे वेदों के ज्ञान से अवगत कराता था। शिक्षित होकर वह जीवन के दूसरे आश्रम में प्रवेश करता था। गृहस्थ आश्रम का जीवन उत्तरदायित्वों से भरा हुआ होता था। इन उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए बालक को इस आश्रम में तैयार किया जाता था।

NMDC-102

ब्रह्मचारी को संयमित जीवन बिताने की शिक्षा प्रदान की जाती थी। उसे अलंकरण, विलासिता की वस्तुओं और प्रमाद एवं आलस्य उत्पन्न करने वाले पदार्थों से दूर रहने की सलाह थी। इस आश्रम में रहकर वह उन कर्मों को करे जिससे उसके नैतिक चरित्र का निर्माण होता रहे।

ब्रह्मचारी के कर्तव्य — मनु ने विद्यार्थी के लिए कुछ कार्य करने की अनुमति दी है और कुछ कार्य उसके लिए वर्जित ठहराये हैं।

- ब्रह्मचारी यज्ञोपवति (उपवति सूत्र) आर्जन (मृगचर्म, मेखला और दण्ड को नियमपूर्व धारण करता रहे)।
- भिक्षा मांगकर भोजन करे तथा भोजनाधिक्य से बचे।
- प्रतिदिन स्नान करने के बाद देवता औरऋषियों को जल दे।
- मधु, मांस, सुगंध, माला, रस, स्त्री, सभी प्रकार के आसव और प्राणियों की हिंसा से दूर रहे।
- शरीर में उबटन, आँख में अंजन, जूता और छाता के प्रयोग से दूर रहे।
- काम क्रोध और लोभ से बचता रहे।
- नाच, गाना, बजाना से दूर रहे।
- जुआ खेलना, कलह, निंदा, झूठ, स्त्रियों को सकाम दृष्टि से देखना एवं उनका आलिंगन करना आदि सब मना है।

प्रमुख कर्तव्य — ईश्वर के बारे में ज्ञान प्राप्त कस्ना, पवित्र जीवन बिताना, शरीर और मस्तिष्क को अनुशासित रखना, धम्र का साहित्य पढ़ना, वेदों का अध्ययन करना, सादा जीवन एवं उच्च आदर्श को अपनाना ब्रह्मचारी के मुख्य कर्तव्य हैं।

2.9 गृहस्थ आश्रम

समावर्तन संस्कार के पश्चात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का विधान था। यहाँ उसे वैवाहिक जीवन यापन करना होता था, क्योंकि घर वही होता है जहाँ घर वाली हो (न गृहं काष्ठ पाषाणैः दायिता यत्र तद् गृहम्) विवाह इसलिए आवश्यक था क्योंकि विवाह गन्दगी और विकारों को धोकर मानव को निर्मल एवं उज्जवल बनाता है। इसका प्रभाव संस्कारक होता है। विवाह सेवा एवं परोपकार की भावनाओं में वृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त 'पुत्' नाम नरक से बचने और पितृ ऋण से अऋण होने के लिए भी विवाह की अनिवार्यता थी। विवाह मोक्षदायी माना जाता था।

वैदिक युग से लेकर धर्मशास्त्रों तक पंचमहायज्ञों को करना गृहपति का प्रमुख कर्तव्य बताया गया है। पाँच यज्ञ - ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ और नृ यज्ञ पाँच यज्ञ है जिनका अनुष्ठान गृहस्थ को प्रतिदिन करना चाहिए। ऋणों को चुकता करने के लिए इन पांच यज्ञों के अनुष्ठान की व्यवस्था की गई थी। पाँच महा यज्ञों की परिभाषा मनुस्मृति में बहुत सुन्दर एवं सरल ढंग से की गई है। श्लोक प्रस्तुत है।

अध्यापनं ब्रह्म यज्ञ: पितृ यज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमोदैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥

2.9.1 ब्रह्म यज्ञ — इस यज्ञ को करने से ऋषि ऋण से मुक्ति मिलती है। ऋषियों द्वारा रचित साहित्य के अध्ययन एवं अध्यापन पर ब्रह्म यज्ञ में जोर दिया गया है। इस यज्ञ का असली प्रयोजन वैदिक ज्ञान और परम्परा को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाना है।

2.9.2 पितृ यज्ञ — गृहपति परिवार जनों के अतिरिक्त मनुष्येतर प्राणियों (पितरों और देवताओं से भी जुड़ा है ऐसी मान्यता है गीता कहती है कि जिन पितरों को जल और पिण्ड नहीं प्राप्त होते हैं के पितर लोक से गिर पड़ते हैं अर्थात् वे वहाँ नहीं रह पाते हैं (पतन्ति पितरौ ह्येषां लुप्त पिण्डोदक क्रिया: 1/42) पितृ यज्ञ के माध्यम से पितरों को जल मिलता रहता है।

2.9.3 देव यज्ञ — गृहपति का यह कर्तव्य है कि देवताओं को प्रसन्न रखे क्योंकि वे वांछित फलदाता है उनके अशुभ फलों से बचने और शुभ फलों को पाने के लिए उन्हें प्रसन्न रखना आवश्यक है। उन्हें प्रसन्न रखने का तरीका होम अथवा हवन है। इसीलिए हवन करने को ही देवयज्ञ बतलाया गया है। हवन में डाली गयी आहुति सूर्य को मिलती है। सूर्य से वर्षा, वर्षा से अन्न और अन्न से प्रजा होती है। इसी कारण गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन होम करें।

2.9.4 भूत यज्ञ — सबको खिला पिला कर खाने की भावना भूत यज्ञ का निचोड़ है। इस यज्ञ में सभी प्राणियों को बलि (भोज्य पदार्थ का गोलक) अर्पित करने का विधान है। यह बलि हाथ से सफाइ करके पानी छिड़क कर पवित्र की गई भूमि पर रख दी जाती है। यह बलि देवतद्यओं, दिवाचर और निशाचर प्राणियों, पितरों कीड़े-मकोड़ों, पशु पक्षियों आाि के निमित्त होती है। इसमें विशाल प्राणि समूह के पोषण का भाव निहित है।

2.9.5 नृ यज्ञ — अतिथि पूजन ही नृ यज्ञ है। अतिथि का यहाँ अर्थ ऐसे मनुष्य से जिसके आने और जाने की तिथि का निश्चय न हो (न विद्यते तिथिर्यस्य स: अतिथि)। मनु के अनुसार गृहस्थ के चर एक रात ठहरने वाला ब्राह्मण अतिथि कहलाता है। अतिथि को देव तुल्य माना गया है। भारत आज भी अपने अतिथ्य के लिए विश्वविश्रुत है। अतिथि पूजन से धन, आयु, यश तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

पंचमहायज्ञों के अतिरिक्त गृहस्थ का दायित्व था कि वह ब्राह्मणों को दान दे अन्य आश्रम के लोगोडु को भिक्षा दे। पशु, पक्षियों एवं कीटों को संतुष्ट करना उसका कर्तव्य था। गृहस्थ की जिम्मेदारियाँ असीमित थीं।

गृहस्थ आश्रम महान क्यों?

- गृहस्थ आश्रम अन्य आश्रम के लोगों का आधार है। गृहस्थ भिक्षा देता है। इसी की भिक्षा से अन्य आश्रम के लोगों का दोषण होता है। इसलिए यह श्रेष्ठ है।
- जैसा अभी संकेत किया जा चुका है कि यह विशाल प्राणि समूह को खिलाने पिलाने का कार्य करता है। यह इसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।
- वंश प्रवाह और समाज प्रवाह सन्तानोपादन पर निर्भर है। यह कार्य गृहस्थ आश्रम में

ही संभव है। मानव प्रजाति के प्रवाह क्रम को न टूटने देने में गृहस्थ आश्रम की भूमिका श्रेष्ठ है। अत: इसकी महानता स्वत: सिद्ध है।

- ऋणों के उद्धार की दृष्टि से यह आश्रम सर्वश्रेष्ठ है।
- गृहस्थ विधसाशी होता है सबको खिलाने पिलाने के बाद शेषान्न का उपयोग करने वाला विधसाशी कहलाता है। सबको भोजन कराकर भोजन करने वाला महान, प्रतिष्ठित एवं प्रशंसनीय होता है। जिस आश्रम में ऐसे व्यक्ति हों वह आश्रम महान , प्रवर और प्रशंसनीय होगा।
- चारों पुरूषार्थों की पूर्ति अकेले इस आश्रम में ही संभव है। इस कारण इसकी प्राधान्य प्रतिष्ठा असंदिग्ध है।

2.10 वानप्रस्थ

इस आश्रम में व्यक्ति अपनी आयु का तृतीय भाग व्यतीत करता है। इस आश्रम के व्यक्ति को अरण्यवासी बनना होता था। जीवन के द्वितीय भाग को गृहस्थ में व्यतीत करने के बाद मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह जंगल चला जाय। वहाँ उसका समाज से विमुख होने के लिए समाजीकरण होता था। इस आश्रम में सन्यासी बनने की तैयारी की जाती थी।

2.10.1 कर्तव्य — वैखानस आश्रम में यज्ञ और अध्ययन के अतिरिक्त व्यक्ति नियम और अनुशासन का जीवन जीता था। परिवार और समाज के बन्धनों से ऊपर उठने के लिए उसे तैयारी करनी पड़ती थी। वानप्रस्थ अपनी भूख जंगल में उपलब्ध कन्द मूल और फलों से शान्त करे। बिना जुती हुई पृथ्वी से उत्पन्न अन्न का सेवन करें। वह सदा वेदाभ्यास में लगा रहे। कठोर तप करे। वह अपनी सहानुभूति का विस्तार परिवार की संकुचित परिधि को लांघ कर समस्त मानवता तक करे।

2.11 संन्यास

संन्यास का अर्थ पूर्ण वैराग्य है। यह जीवन का अन्तिम पड़ाव स्थल है। सन्यासी एकाग्र चित्त होकर ईश्वर में लीन होने का प्रयास करे। उसे एकाकी रहना चाहिए। समत्व बुद्धि का विकास सन्यासी के अति आवश्यक है। अपने मन, चित्त और बुद्धि को ईश्वर में लगाये। चित्त वृत्तियों का निरोध कर अन्तर्यामी भाव से चराचर जीवों में उसी परमात्मा की सत्ता को देखे। वह निष्काय कर्म करते हुये कर्मों की सीमा से ऊपर उठकर मरने के बाद तेजोमय लोक में जाता है जहाँ उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

2.12 संस्कार

अपने जीवन पर्यन्त एक हिन्दू संस्कारों के दौर से गुजरता रहता है। क्यों? उसे अशौच से बचाने तथा पवित्र बनाने के लिए संस्कारों का आयोजन हुआ। मनुष्य को उज्ज्वल एवं परिष्कृत करने तथा उपयोगी बनाने के लिए संस्कार प्रायोजित है। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन के साथ संस्कार नत्थी करने का यही प्रयोजन है।

2.12.1 संस्कार का अर्थ — संस्कार का अर्थ है- शुद्ध करना, पवित्र करना, परिष्कार करना, उज्जवल बनाना, योग्य बनाना एवं उपयोगी बनाना। अपने प्रकृत रूप में मनुष्य ही क्यों कोई भी वस्तु उपयोग के लायक नहीं होती। उन्हें उपयोगी बनाना पड़ता है। उपयोगी बनाने के लिए तथा गन्दगी धोने के लिए संस्कारों से होकर गुजरनद्य पड़ता है। मनुष्य को शुद्धि की क्रियाओं को करना पड़ता है। अन्न का उदाहरण लेते हैं। अन्न जिस रूप में खेतों में खड़ा होता है खाने लायक नहीं होता है। उसे खाने लायक बनाना पड़ता है। अन्न को साफ करनार कूटना, पीसना, पिसे आटे को चालना पड़ता है। यही अन्न संस्कार है। खान से निकले खनिज पदार्थों का उदाहरण लेते हैं। खान से निकले पदार्थ शुद्ध नहीं होते उसमें अन्य अनेक तत्व मिले रहते हैं। इसलिए खान से निकले पदार्थों का शोधन करने के लिए शोधक कारखाने हैं। जहाँ इन पदार्थों को शुद्ध किया जाता है। इसी प्रकार पुस्तक और सोने का भी संस्कार होता है। जब ये चीजें संस्कृत (प्योरीफाइड) हो जाती हैं तव उपयोगी बन जाती हैं। समाज वैज्ञानिक इसे भली भाँति जानते हैं कि मनुष्य जन्म से सामाजिक प्राणी नहीं होता । जन्म से तो वह जैविक प्राणी होता है पर समाज के सांचे में ढालकर उसे सामजिक प्राणी बनाया जाता है जैविक प्राणी को समाज का क्रियाशील सदस्य बनाने की प्रक्रिया समाजीकरण कहलाती है। संस्कार व्यक्ति का सामाजीकरण करते हैं। उसके स्वरूप को निखारते हैं, उसके मैल को धोकर निर्मल बनाते हैं। उसके अवगुणों को दूर कर उसे गुणों का पुज बना देते हैं। मनोवैज्ञानिक समवेत स्वरों में गाते हैं कि मनुष्य में कुछ पाशविक प्रवृत्तियां होती हैं। इन पाशविक प्रवृत्तियों के संशोधन के लिए और उसे समाज के अनुरूप बनाने के लिए संस्कार अति आवश्यक हैं। मनुष्य का सामाजीकरण करना भी संस्कार का उद्देश्य है। मानव की कमियों को दूर कर उसे अर्थवान बनाना ही, जैमिनी पूर्व मींमांस सूत्र के अनुसार संस्कार हैं। (संस्कारों नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्य: कस्यचिदर्थस्य)।

तंत्रवार्तिक में 'योग्यतां चारधाना: क्रिया: संस्कारा इत्युच्यन्ते' कहकर योग्यता प्रदान करने वाली क्रिया के रूप में संस्कार को परिभाषित किया गया है। हिन्दू संस्कार के उद्भट व्याखयता राजबली पाण्डेय का कथन है कि विधि पूर्वक संस्कारों के अनुष्ठान से व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्जनीय गुणों का प्रादुभार्व हो जाता है। वे कहते हैं कि संस्कार में शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक परिष्कार के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों का समावेश है।

2.12.2 संस्कारों की संख्या — संख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कोई संस्कारों की संख्या सोलह बताता है औरकोई चालीस अथवा अड़तालीस। यहाँ अति प्रमुख संस्कारों तक ही सीमित रहने का विचार है। यहाँ प्रम् जन्म संस्कार, वाल्यावस्था के संस्कार यौवनकालीन संस्कारों एवं अन्तिम संस्कार अति संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने का विकल्प चुना गया है।

2.12.3 प्राग जन्म संस्कार — गर्भाधान सीमन्तोन्नय एवं पुंसवन संस्कारों को इस कोटि में सम्मिलित किया जा सकता है। ये संस्कार आरम्भिक विचारों की छाया लगते हैं। गर्भस्थ शिशु के रक्षार्थ सम्भवत: सीमन्तोन्नयन (गर्भवती स्त्री के बालों को ऊपर उठाना) संस्कार का विधान हुआ होगा। पुंसवन में पुत्र प्रापति की अभिलाषा प्रमुख है। गर्भाधान सन्तानोत्पादन की पहली शर्त है। संक्षेप में, प्राग्जन्म संस्कारों का उद्देश्य आसुरी शक्तियों को प्रसन्न कर गर्भस्थ शिशु

NMDC-102

को उनके अशुभ प्रभावों से बचाना है।

2.12.4 बाल्यावस्था के संस्कार — जात कर्म, नामधेय, अन्न प्राशन, चौल अथवा चूड़ाकरण बचपन के संस्कार हैं। जातकर्म संस्कार हर्ष एवं उल्लास व्यक्त करने के लिए विहित है मेधाजनन, आयुष्य और बल इस संस्कार के तीन अनुष्ठान हैं। इन तीनों अनुष्ठानों से क्रमशः बालक के मेधावी, दीर्घजीवी और बलशाली होने की कामना की जाती थी। **नामधेय** संस्कार में बच्चे का नामकरण किया जाता था। बच्चे को नाम देना एक सामाजिक आवश्यकता थी। कई बच्चों में से एक को बुलाना हो तो नाम द्वारा उसे आसानी से बुलाया जा सकता है। सम्बोधित करने के लिए तथा व्यक्तियों को अलगाने के लिए नाम रखना अनिवार्य था। हिन्दू समाज में दो तरह के नाम होते हैं एक राशि का नाम तथा दूसरा घरेलू (घर में पुकारा जाने वाला) नाम। अन्नप्राशन संस्कार में पहली बार बालक को पकाया हुआ भोजन दिया जाता है क्योंकि एक अवस्था के बाद बालक की सम्यक वृद्धि के लिए माता का दूध अपर्याप्त होता जाता है। जच्चा एवं बच्चा दोनों के कल्याण के लिए माता के दूध के स्थान पर पकवान विशेष रूप से क्षीरपाक (खीर) देने का विधान है। चौल संस्कार में गभुआरे (गर्भ में उगे) बालों को पहली बार सिर से उतारा जाता था और चूड़ा रख दी जाती थी। चूड़ा चोटी रखना हिन्दुओं की बाह्य पहचान के लिए आवश्यक था। बालक की दीर्घायु के लिए यह संस्कार विहित था।

2.12.5 यौवन कालीन संस्कार — उपनयन समावर्तन और विवाह यौवन काल के संस्कार हैं। **उपनयन संस्कार** ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रवेश द्वार है। उपनीत बालक ही ब्रह्मचारी बन सकता था और द्विज कहलाता था। अनुपनीत बालक को शूद्र कहा जाता था उसे विद्याध्ययन से वंचित रखा जाता था। द्विज का अर्थ होता है दो बार जन्म लेने वाला। उपनयम को दूसरे जन्म के तुल्य माना जाता था। उपनयन का अर्थ है बालक को शिक्षा दिलाने के लिए आचार्य के पास ले जाना (उप समीपे आचार्या दीनां वटोर्नीतिर्नयनम् प्रापणमुदनयनम्)। उदनयन विद्यार्थी बनने का एक प्रमाण पत्र था। इसके बाद बालक गुरू के कुल में रहकर पढ़ाई का काम पूरा करता था।

समावर्तन — पढ़ाई का काम पूरा करने के बाद विद्यार्थी गुरू के कुल से अपने घर वापस लौट आता था। इस वापस लौटने की क्रिया को समावर्तन संस्कार का स्वरूप देकर इसे महत्ता प्रदान की गई। वीर मित्रोदय संस्कार भाष्य में समावर्तन का उक्त अर्थ बताया गया है।

तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनातरं गुरूकुलात् स्वगृहागमनम्।

इस संस्कार का प्रमुख कृत्य स्नान है। स्नान करने के बाद वह स्नातक बन जाता था। यह स्नान ज्ञान सागर में अवगाहन का प्रतीक है। ध्यान रहे सभी विद्यार्थी समावर्तन का कार्य नहीं करते थे। कुद तो गुरू के कुल में ही रह जाते थे जिन्हें नेष्ठिक ब्रह्चारी कहा जाता था जो समावर्तन के नियम का पालन करते थे उन्हें उपकुर्वाण कहा जाता था।

2.12.6 विवाह

हिन्दू समाज में विवाह को अनिवार्य और अविच्छेदप माना जाता था। हिन्दुओं में विवाह एक धार्मिक कृत्य है, एक सामाजिक कृत्य है। हिन्दू विवाह समझौता नहीं वरन् एक

संस्कार है। धर्मपालन, सन्तानोंत्पादन और रति विवाह के तीन उद्देश्य बताये गये हैं। हिन्दू विवाह एक संस्कार कैसे है। इसे संस्कार मानना कहां तक उचित है इसकी व्याख्या करना यहाँ अभीष्ट है।

यदि विवाह विवाह सूत्र में आबद्ध स्त्री पुरूषों को सन्मार्ग पर ले जाता है, उनके विचारों को पवित्र एवं नैतिक बनाता है, बुराइयों की तरफ से उन्हें दूर ले जाता है और अच्छाइयों की ओर प्रवृत्त करता है तो इसका प्रभाव संस्कारक माना जाना चाहिए। यदि उन्हें पतन की ओर ले जाता है तो विकारक है। विवाह संस्था पर गम्भीरता से विचार करने पर यही बात सिद्ध होती है कि विवाह का प्रभाव संस्कारक है। न कि विकारक।

विवाह विवाहेत्तर संबंधों पर अंकुश लगाता है और इस प्रकार अवैध यौन संबंधों को निरूत्साहित करता है। इस क्षेत्र में पत्नी पति पर निगाह रखती है और पति पत्नी पर। यह एक सुखद और आदर्श स्थिति है दोनों एक दूसरे के हितैषी बन जाते हैं। संतान उत्पन्न होने पर दोनों प्राणपण से उसाक पालन करते हैं और पाल पोष कर उसे बड़ा करते हैं विवाह कर्तव्य पालन का भाव दोनों में जगाता है और उसे जीवन पर्यन्त बनाये रखता है।

बाल बच्चों का ख्याल उन्हें जीवन भर बना रहता है जिससे वह गलत कामों से बचने का प्रयास करते हैं। जीवन में यह कहते सुना जाता है कि बाल बच्चे वाले होकर क्या हम ऐसा करेंगे? यहाँ ऐसा शब्द गलत और अनुचित काम की ओर संकेत करता है। यही नहीं जब कोई किसी से बेहद नाराज होता है तो उससे यह कहता है कि बाल बच्चों का मोह न होता तो तुम्हारी हत्याकर देते। वाह क्या अच्छी बात है कि बाल बच्चे और पत्नी का ख्याल हत्या जैसे जघन्य अपराध करने से मनुष्य को रोकता है। जियो और जीने दो से आगे बढ़कर 'जिओ और जिलाओ' बचो और बचाओ' के सुन्दर एवं स्वस्थ विचारों एवं भावनाओं को व्यवहार में उतारने के लिए दोनों को प्रेरित करता है और वे इन आदर्शों पर चलते देखे जाते हैं।

विवाह मनुष्य की संकुचित सोच को विस्तृत बनाकर अन्यों के ख्याल अर्थात् परोपकार को बढ़ावा देता है। दय, करूणा ममता एवं अपनत्व के भावों को पैदा करता है। स्वार्थ एक प्रकार का मैल है। परोपकार का पाठ पढ़ाकर विवाह इस कल्मष को धो देता है। मनुष्य में विद्यमान कमियों को दूर करता है।

यदि कोई युवक विवाह के पहले निरंकुश जीवन बिताने लगता है औरअपनी जिम्मेदारी नहीं समझता है । रात कोघर में देर से आता है। माता पिता के नियंत्रण असफल हो जाते हैं तो विवाह कराकर उसे नियंत्रण में लाने का प्रयास वृद्ध जनों द्वारा किया जाता है। विवाह के बाद ऐसे व्यक्ति सुधरते देखे जाते हैं। पत्नी और बच्चों का आकषर्ण गुरूत्वाकर्षण की भांति काम करता है। ऐसे लोग जो दफ्तर में देर तक रूकते थे वे दफ्तर से समय पर घर लौटने लगते हैं। विवाह हो जाने पर अवारा जीवन व्यतीत करने वाले एक अच्छा इंसान एवं एक अच्छा नागरिक बनकर समाज एवं परिवार के प्रति अपने उत्तर दायित्वों को पूरा करते हैं।

कुछ अपरिपक्व लोग विवाह को बन्धन बताकर उसकी निंदा करते हैं, उसे चिंता पैदा करने वाला बताते हैं, उससे अपनी उन्नति का मार्ग अवरूद्ध होने की बात करते हैं। विवाह के प्रति यह नकारात्मक सोच एक प्रकार की नादानी है। यदि विवाह को बन्धन मान लिया जाय और

मनुष्य की परम स्वतंत्रता में बाधक मान लिया जाय तब तो विवाह और अधिक संस्कारक प्रमाणित होता है क्योंकि बन्धन तो समाज की एक आवश्यक शर्त है। बिना बन्धन के तो समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा। विवाह को बन्धन मान लेने में कोई हर्ज नहीं है। यह बन्धन स्त्री - पुरूष की चंचलता एवं उच्छृंखलता पर प्रतिबंध लगाता है। विवाह को चिंताजनक बताना मानसिक दुर्बलता अथवा खोखलेपन का सूचक है और यह एक तुच्छ और संकुचित विचार है । विवाह तो चिंताओं को दूर करता है। पत्नी पति की अनेक चिंताओं को दूर करती है। पति उसकी चिंताओं को दूर करता है। **विवाह चिंताजनक न होकर चिंता निवारक है**। यह कहना कि विवाह उन्नति का मार्ग अवरूद्ध करता है यह भी मानसिक दिवालियेपन का सूचक है। विवाह तो उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। कोई माता-पिता नहीं चाहते कि उनके बच्चे उन्नति न करें। कोई पत्नी नहीं चाहती कि परिवार की उन्नति न हो। आलसी एवं निकम्मा लोगों के लिए विवाह उन्नति का मार्ग अवरूद्ध करने वाला लग सकता है क्योंकि उन्नति में बाधक तत्व उनका निकम्मापन है और वे दोष मढ़ देते हैं विवाह पर। यह कहाँ का न्याय है।

निष्कर्ष:

हिन्दू विवाह एक संस्कारक क्रिया है क्योंकि इससे पति-पत्नी में मधुर संबंधों की सृष्टि होती है और सन्तानोंत्पादन के बाद वे संबंध और प्रगाढ़ हो जाते हैं। हिन्दू विवाह स्वयं में किसी भी प्रकार से विकारक प्रभाव डालने वाला नहीं है। यह स्त्री-पुरूष के जीवन का आलोक है।

2.13 सारांश

पहले वर्णाश्रम धर्म की जानकारी दी गई। वर्ण और आश्रम के महत्वपूर्ण पक्षों को समझाते हुए अन्त में संस्कार के अर्थ और प्रयोजन पर विचार करते हुए विवाह के संस्कार होने की बात तर्क पूर्ण ढंग से समझाने की चेष्टा की गई है।

2.14 संदर्भ ग्रन्थ/सहायक पुस्तकें

1. मिश्र, जगदीश प्रसाद एवं मिश्रा, सुधा 'भारतीय समाज' 2001, भारत प्रकाशन, 17, अशोक मार्ग, लखनऊ।
2. दुबे, सत्यमित्र, 'मनु की समाज व्यवस्था', 1964, किताब महल, इलाहाबाद।
3. कणे पी. वी., हिस्ट्री आव् धर्मशास्त्र, वाल्यूम 2 भाग 1
4. महाभारत
5. मनुस्मृति
6. गीता
7. पाण्डे, राजबली, हिन्दू संस्कार ।
8. प्रभु, पी. एच., हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन

9. कपाड़िया, के0 एम0, मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया

10. कुमार स्वामी 'हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म'

11. आत्रेय, भीखनलाल, भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास

12. राधाकृष्णनन्, सर्वपल्ली, प्राच्य धर्म एवं पाश्चात्य विचार, 1967, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

2.15 सम्बन्धित प्रश्न

लघुउत्तरीय

1. वर्ण व्यवस्था को आदर्श श्रम-विभाजन मानना कहाँ तक उचित है? स्पष्ट कीजिए।
2. वर्ण निर्धारण का आधार कर्म मानने में क्या कठिनाइयाँ हैं?
3. वर्ण व्यवस्था के समाज शास्त्रीय महत्व को संक्षेप में समझाइए।
4. ब्रह्मचारी के कर्तव्यों पर प्रकाश डालिए।
5. संस्कार का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय

1. हिन्दू विवाह को संस्कार मानना कहाँ तक उचित है? सम्यक प्रकाश डालिए।
2. वर्ण निर्धारण की समस्या पर विचार करते हुए वर्ण व्यवस्था के महत्व की चर्चा कीजिए।
3. आश्रम व्यवस्था जीवन की एक सुन्दर योजना है। व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. प्रारम्भ में वर्ण का निर्धारण ::, ::, एवं ::: के आधार पर होता था।
2. वर्ण व्यवस्था एवं :: :: की व्यवस्था थी।
3. मनुष्य की जीवन यात्रा के मध्य पड़ने वाले :: :: को आश्रम कहा गया है।
4. :: करना देव यज्ञ है।
5. :: करना पितृ यज्ञ है।
6. जिन विद्यार्थियों का समावर्तन होता था उन्हें ::: कहा जाता था।
7. जिनका समावर्तन नहीं होता था वे : : कहलाते थे।

इकाई 3 कर्म एवं पुनर्जन्म का सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 कर्म एवम् पुनर्जन्म की अवधारणा

3.3 कर्म के प्रकार

3.4 कर्म और संसार

3.5 कर्म के विभिन्न सिद्धान्त

3.6 कर्म और भाग्य

3.7 कर्म और सिद्धान्त का महत्व

3.8 कर्म के सिद्धान्त के दोष

3.9 सारांश

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

3.11 सम्बन्धित प्रश्न

3.12 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

* कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
* कर्म के प्रकार और विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकेंगे।
* कर्म के सिद्धान्तों का महत्व और दोषों का उल्लेख कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

कर्म एवम् पुनर्जन्म की संकल्पना भारतीय दर्शन का मूलभूत सिद्धान्त है। मनुष्य की यह जिज्ञासा सदैव रही है कि मृत्यु के बाद मनुष्य कहाँ जाता है। इस जिज्ञासा का हल वैदिक साहित्य में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता परन्तु उपनिषदों के काल से यह जिज्ञासा शान्त होती हुई दिखाई पड़ती है और यहाँ तक कि इस संकल्पना को बौद्ध और जैन धर्म के अनुयायी भी स्वीकार करते हैं।

3.2 कर्म एवम् पुनर्जन्म की अवधारणा

शाब्दिक दृष्टि से कर्म शब्द की व्युत्पत्ति 'कृ' धातु से हुई जिसका अर्थ है 'करना', व्यापार या हलचल। गीता में भी कर्म का प्रयोग इसी सामान्य अर्थ में किया गया है। गीता के अनुसार

मनुष्य जो कुछ भी करता है वही उसका कर्म है, चाहे वह कायिक, वाचिक या मानसिक हो। (गीता 5/8,9)। कर्म का सम्बन्ध संस्कृत भाषा के शब्द 'कर्मन्' से है जिसका अर्थ कर्तव्य, कार्य, क्रिया या दैव से है। कर्म तीन तत्वों से मिलकर बना है:-

(1) **कर्ता** — कर्म किसी न किसी व्यक्ति के द्वारा ही सम्पादित किया जाता है जो कर्ता के नाम से जाना जाता है।

(2) **परिस्थिति** — कर्ता कर्म को शून्य में नहीं करता वरन् उसके लिए एक परिस्थिति का होना आवश्यक है।

(3) **प्रेरणा**— प्रत्येक कर्म का कोई न कोई कारण अवश्य ही होता है। यह कारण ही उस कर्म की प्रेरणा या प्रेरक शक्ति है।

प्रत्येक भारतवासी का विश्वास है कि सत्कर्म का फल अच्छा होता है और दुष्कर्मों का फल बुरा होता है। और कर्म के फल किसी भी प्रकार से टाला नहीं जा सकता। कर्म की अवधारणा को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि व्यक्ति को अपने कर्मों का फल किस प्रकार से मिलता है। मनुष्य काममय है, उसकी जैसी कामना होगी वैसी ही उसकी इच्छाशक्ति होगी, वैसा ही उसका कर्म होगा, और जो कुछ कर्म वह करता है वैसा ही वह फल प्राप्त करेगा। विज्ञान की विशेषता है कि कार्य और कारण का सिद्धान्त प्रत्येक लागू होता है। प्रत्येक कारण का कोई न कोई परिणाम अवश्य होगा। क्रिया की प्रति क्रिया अवश्य होती है किन्तु दिशा उसकी विपरीत होती है। कर्म क्रिया के रूप में और फल प्रतिक्रिया के रूप में निरन्तर होती रहती है।

3.3 कर्म के प्रकार

मनुष्य को अपने सभी कर्मों का फल इसी जीवन में नहीं भुगतना पड़ता बल्कि अपने अच्छे व बुरे कर्मों को भोगने के लिए मनुष्य को विभिन्न योनियों में जन्म लेना पड़ता है। मनुष्य के वर्तमान जीवन का पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और इसी आधार पर वेदान्त दर्शन में कर्म के तीन प्रकार बताये गये हैं।

(1) सञ्चित कर्म

(2) प्रारब्ध कर्म

(3) क्रियमाण या सञ्चीयमान

प्रथम कर्म अतीत अस्तित्वों के कर्मों का योगफल है, जिसके प्रतिफलों की अनुभूति अभी नहीं की जा सकी है। कर्म इस जन्म में किया गया हो या पूर्व जन्म में वह सब सञ्चित कर्मों की श्रेणी में आते हैं। मीमांसकों ने इसे अदृष्ट कर्म की संज्ञा दी है।

प्रारब्ध कर्म उसे कहते हैं जो इस वर्तमान जीवन के आरम्भ होने के पूर्व सञ्चित कर्मों में सबसे प्रबल था, जिसे ऐसा परिकल्पित किया गया है कि उसी के आधार पर वर्तमान जीवन निश्चित होता है। यानी पूर्व काल के वे कर्म जिनका फल जीवन भोग रहा है। इस वर्तमान जीवन में मनुष्य जो नये कर्म संगृहीत करता है वही क्रियमाण या सञ्चीयमान कर्म है।

गीता में तीन प्रकार के कर्म बतलाये गये हैं।

1. सात्विक
2. राजसिक
3. तामसिक

फल की आशा का त्याग करके बिना आसक्ति के जो कर्म सम्पादित किये जाते हैं उन्हें सात्विक कर्म कहते हैं। फल की इच्छा रखते हुए अंहकारपूर्ण भाव से किया गया कर्म वह कर्म है जो मोह से बिना वर्तमान तथा भविष्य के सोचे किया जाता है। (गीता 18/23-25)

3.4 कर्म और संसार

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवधारणायें कर्म और संसार के सिद्धान्त से सम्बन्धित है। कर्म शब्द का प्रयोग सभी प्रकार की क्रियाओं के लिए किया जाता है। जन्म और पुनर्जन्म के क्रम का नाम ही संसार है। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की एक आत्मा होती है जो अमर होती है मृत्यु के साथ शरीर का अन्त तो हो जाता है परन्तु आत्मा अमर रहती है। जन्म और मृत्यु का यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक मानव के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। संसार जीव का वह कार्य क्षेत्र है जहाँ जन्म और पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है।

हिन्दू सामाजिक संगठन में प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का भोग अवश्य करना पड़ता है यदि व्यक्ति ने सुकर्म किये हैं तो वह स्वर्ग का भागीदार होता है और यदि उसने अपने जीवन काल के कुकर्म किया है तो नर्क का भागी होगा। ऐसा माना जाता है कि अगले जन्म में समाज में उसकी क्या स्थिति होगी वह उसके इस जन्म के अच्छे बुरे कर्मों पर ही निर्भर करती है। ऐसा विश्वास है कि आवागमन का क्रम एक निश्चित चक्र की भाँति संसार में निरन्तर चलता रहता है। इस आवागमन के चक्र से मुक्ति का केवल एक ही मार्ग है कि व्यक्ति अपने सुकर्मों का अनुसरण करते हुये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के क्रम का पालन करता रहे। व्यक्ति को जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती उसका इस संसार के लगातार पुनर्जन्म होता रहेगा।

3.5 कर्म के विभिन्न सिद्धान्त

(1) मनु का सिद्धान्त

मनु के अनुसार सभ कर्म मानसिक (मन) वाचिक (वाणी) तथा कायिक (शरीर) की उपज है। धर्मयुक्त कर्मों को मनु ने महत्व दिया है। व्यक्ति को अपने कर्मों को भोगने के लिये ही बारबार पुनर्जन्म होता है। मनु के अनुसार जो व्यक्ति मन से पाप करता है वह मानस पाप कर्म है जैसे मन से दूसरों को बुरा चाहना ऐसा व्यक्ति अगले जन्म में निम्नजाति में जन्म लेता है । वाणी से जो पाप करता है वाङ्मय पाप श्रेणी में आता है जैसे झूठ बोलना, दूसरों को अपशब्द कहना ऐसा व्यक्ति अगले जन्म में पशु-पक्षी का शरीर धारण करता है तथा शरीर से जो पाप करता है वह शारीरिक पाप कर्म है जैसे व्यभिचार पूर्ण

जीवन यापन करना - दूसरों का धन लेना ऐसा व्यक्ति अगले जन्म में पेड़ पौधे के रूप में शरीर धारण करता है। इस प्रकार अच्छे व बुरे कर्मों के आधार पर ही व्यक्ति का पुनर्जन्म होता है। (मनुस्मृति, 12. पृ0 23)

(2) याज्ञवल्क्य का सिद्धान्त

मनुस्मृति में वर्णित क्रम के सिद्धान्त को याज्ञवल्क्य ने अधिकांश रूप से स्वीकार किया है। किये कर्म के अनुसार ही धर्म व अधर्म की स्थिति व्यक्ति को प्राप्त होती है। कर्म से जो फल व्यक्ति को प्राप्त होते हैं उन्हें तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

(1) जाति अर्थात् उच्च यानिम्न योनि की स्थिति प्राप्त होना,

(2) आयु अर्थात दीर्घ या अल्प आयु प्राप्त करना,

(3) भोग अर्थात व्यक्ति को मिलने वाला आनन्द अथवा कष्ट।

धर्म उचित कर्म में ही निहित है (पी0 एच0 प्रभू हिन्दू शोसल आर्गनाइजेशन पृ0 35)

याज्ञवल्क्य के अनुसार व्यक्ति को ऐसे कार्यों को करना चाहिए जिससे उत्तम जाति, दीर्घ आयु और असीम सुख की प्राप्ति सम्भव हो सके। याज्ञवल्क्य ने कुछ उचित क्रमों का भी उल्लेख किया है बलि, धार्मिक कृत्य और संस्कार, अनुशासन, दानशीलता, तथा वेदों का अध्ययन।

(3) शुक्रनीतिसार का सिद्धान्त

शुक्रनीति में उल्लेख है कि मनुष्य का वर्तमान जीवन पुनर्जन्म के ही क्रमों का प्रतिफल है। इस जीवन में सब कुछ भाग्य (दैव) तथा कर्म पर आधारित है। कर्म दो भागों में विभाजित है,

(1) व्यक्ति द्वारा - पिछले जन्मों में किये गये कर्म

(2) व्यक्ति द्वारा - वर्तमान जन्म में किये गये कर्म

शुक्रनीति में भाग्य के महत्व को स्वीकारा अवश्य है परन्तु भाग्य सब कुछ नहीं है। मनुष्य इस जीवन में किये गये कर्मों के द्वारा अपने भाग्य को बदल सकता है। मनुष्य का जीवन भाग्य ओर कम्र दोनों पर ही निर्धारित होता है (शुक्रनीति पृ0 97-98)।

(4) पातंजलि योगसूत्र का सिद्धान्त

पातंजलि के अनुसार 'अविद्या' या 'असत्य ज्ञान' मनुष्य के कष्टों का मूल कारण है। अविद्या या मिथ्या ज्ञान के चार भेद हैं-

(1) अस्मित:- संवय को अत्याधिक महत्व प्रदान करना,

(2) राग :- उन विषयों में लगाव जो सांसारिक आनन्द देती है,

(3) द्वेष :- उन वस्तुओं का घृणापूर्वक त्यागना जो दु:ख का कारण है।

(4) अभिनिवेश :- जीवन के प्रति अत्यधिक लगाव और मृत्यु का भय।

पातंजलि के अनुसार उपर्युक्त अविद्या की समाप्ति से ही मनुष्य सभी प्रकार के बन्धनों से जीवन मरण के अनन्त चक्र से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। ज्ञान प्रापति से मनुष्य योगी बन जाता है कर्मयोगी किसी भी परिस्थिति में कर्म को नहीं त्यागता और न ही कर्म करना छोड़ता है, अपितु

NDC-2

वह कर्म के फल की आशा को त्याग देता है और बिना किसी फल की आशा से कर्म करता रहता है। प्रतिफल की आशा त्यागने से ही उसे परम शान्ति या मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो जाती है।

(5) जैन-दर्शन का सिद्धान्त

जीव अपने कर्मों के अनुसार ही शरीर धारण करता है पूर्व जन्म के विचार, वचन तथा कर्मों के कारण जीव के जीवन में वासनाओं की उत्पत्ति होती है। वासनाएं तृप्त होना चाहती है, परिणाम यह होता है कि इनकी क्रियाशीलता के कारण एक विशिष्ट प्रकार का शरीर बनता है। इस प्रकार जैन मत के अनुसार जीव अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण करता है। शरीर का अर्थ केवल स्थूल शरीर से नहीं समझना चाहिए बल्कि शरीर का अर्थ इन्द्रिय, मन तथा प्राण से है। कर्म असंख्य है तथा वासनाओं का संकुल है। कर्मों से ही शरीर का रूप, रंग, आयु, जाति, गोत्र और धर्म का निर्धारण होता है। कर्म मनुष्य के लिए बन्धन या मुक्ति का निर्धारण होता है। अत: मानव जीवन का चरम उद्देश्य सत्कर्म और ज्ञान की प्राप्ति ही होना चाहिए।

(6) बौद्ध दर्शन का सिद्धान्त

महात्मा बुद्ध के उपदेशों के अनुसार कर्म दो प्रकार के होते हैं-

(1) राग, द्वेष तथा मोह के कारण होता है।

(2) बिना राग, द्वेष तथा मोह से होता है।

प्रथम प्रकार का कर्म विषय के प्रति आकर्षण पैदा करता है तथा ऐसे संस्कारों को उत्पन्न करता है। दूसरे प्रकार का कर्म अनासक्त भाव से तथा अनित्य मान कर किया जाता है, जिसमें पुनर्जन्म की सम्भावना ही नहीं रह जाती है। अनासक्त कम्र से ही निर्वाण प्राप्त होता है और निर्वाण बार-बार जन्म ग्रहण के चक्र से मुक्ति प्रदान कर देता है।

(7) वेदान्त - दर्शन का सिद्धान्त

वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्म को तीन भागों में बाँटा है :-

(1) संचित कर्म (पूर्वकाल के कर्म जो मनुष्य के खाते में जमा है)

(2) प्रारब्ध कर्म (पूर्व काल के वे कर्म जिनका फल मनुष्य भोग रहा है)

(3) क्रियामाण या संचीयमान कर्म (वे नवीन कर्म जो मनुष्य के खाते में जमा हो रहे है)

वेदान्त दर्शन के मतानुसार मनुष्य को पूर्व में किये गये कर्मों का फल अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ता है। इस भोग के बाद ही पुनर्जन्म से मुक्ति सम्भव है। ज्ञान के द्वारा भोग भोगने के प्रभाव को कम किया जा सकता है, पूर्ण ज्ञान और पूर्णानन्द प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति अनासक्त हो कर कर्म करता हैऔर उसके लिए फिर जन्म मरण के बन्धन से मुक्ति मिल जाती है।

(8) गीता में कर्म का सिद्धान्त

गीता में कर्मवाद के सिद्धान्त को बहुत महत्व प्रदान किया गया है। गीता के उपदेशों में स्पष्ट है कि आत्मज्ञानी पुरूषों के जीवन बिताने के अनादिकाल से दो मार्ग चले आ रहे हैं।

(1) साङ्ख्यानाम या साङ्ख्य (ज्ञानीयों की निष्ठा)

(2) कार्म योग (कर्म योगियों की निष्ठा) (गीता 3/3)

इन दोनों मार्गों में गीता में कर्मयोग को श्रेष्ठ माना है क्योंकि आत्मा तो अजन्मा है। यह शरीर न कभी जन्मता है और न मरता है तथा यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला नहीं है यह जन्मरहित, नित्य-निरन्तर रहने वाला शाश्वत और अनादि है शरीर के मर जाने पर भी यह नहीं मारा जाता। मनुष्य जैसे पुराने कपड़ों को छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है ऐसे ही देही पुराने शरीर को दोड़कर दूसरे नये शरीरों में चला जाता है ।(गीता 2/20-22)

अत: मनुष्य को जन्म और मृत्यु के विषय में व्यर्थ का शोक न करके अपना कर्म करते रहना चाहिए, क्योंकि कर्म योग में एक बार प्रारम्भ किये हुए कर्म का नाश नहीं होता वह जन्म जन्मान्तर तक सक्रिय बने रहते हैं। (गीता 2/40)।

गीता में वर्णित कर्म सिद्धान्त का यही सार है (मनुष्य को) कर्तव्य कर्म करने में ही तेरा अधिकार है फलों में कभी नहीं (अत: तू) कर्मफल का हेतु भी मत बन और तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो (गीता 2/47)। ऐसा सिर्फ इस उद्देश्य से किया गया था कि यदि कर्म करने वाला व्यक्ति फल के विषय में सोचेगा तो वह कम्र को उचित प्रकार से नहीं कर पायेगा। अत: मनुष्य को फल की आशा त्याग करके कर्मों को करना चाहिए। गीता में तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं।

(1) कर्म - वास्तव में मनुष्य जो कुछ भी करता है वह सब गीता के अनुसार कर्म ही है चाहे वह (1) कायिक हो (2) वाचिक हो (3) मानसिक हो । (गीता 5/8-9)

(2) अकर्म — कर्मत्याग न होकर, निष्काम कर्म है।

(3) विकर्म — मनुष्य जो भी कर्म करते हैं यदि उनमें से सात्विंक कर्म घटा दे तो दो प्रकार के कर्म अवशेष बचते हैं— (1) राजस (2) तामस

इनमें तामस कर्म मोह और अज्ञान की उपज है इसलिए उन्हें 'विकर्म' कहते हैं।

विभिन्न गुणों के आधार पर , गीता के अनुसार, कर्मों की तीन भागों में बॉटा जा सकता है।

1. सात्विक 2. राजस 3. तामस

जिस ज्ञान के द्वारा साधक फलप्राप्ति की इच्छा न रखते हुये मन में न प्रेम न द्वेष रखते हुये, आसक्ति भाव से स्वधम्र करते हुये निर्धारित कर्म करता है उसके उस कर्म को सात्विक कर्म समझना चाहिए।

राजस ज्ञान में 'राग' की मुख्यता होती है जिससे राग आ जाता है उसमें किसी के प्रति आसक्ति पैदा कर देता है तो किसी के प्रति द्वेष पैदा कर देता है।

जो कर्म भोगें की इच्छा से अथवा अंकार से और परिश्रमपूर्वक किया जाता है वह राजस कहा गया है।

NMDC-102

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न देख कर मोहपूर्वक आरम्भ किया जाता है वह तामस कहा जाता है (गीता 18/22-25)

3.6 कर्म और भाग्य

भाग्य की अवधारणा कर्म के सिद्धान्त पर आधारित हैं क्योंकि भाग्य कर्म फल का ही परिणाम है। किसी भी व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसका भाग्य उसके इस जन्म के कर्मों के आधार पर तय किया जाता है यदि किसी भी व्यक्ति ने सदकर्म किए हैं तो उसे अगले जन्म में अच्छी परिस्थिति मिलती है यदि ऐसा नहीं किया है तो अगले जन्म में उसकी परिस्थिति में गिरावट आ जाती है।

कुछ विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि भारत में कर्म का सिद्धान्त भाग्यवाद का आधार रहा है। मैकडोनल (Macdonell) का कथन है कि पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धान्त के मिलेजुले प्रभाव के परिणाम स्वरूप व्यक्ति को एक तरफ, वर्तमान जन्म को पूर्वजन्मों का प्रतिफल मानकर भाग्य पर सन्तोष करना पड़ता है दूसरी तरफ, इससे व्यक्ति की क्रियाशीलता में शिथिलता आ जाती है और वह वैराग्य की ओर उन्मुख होता है। (लेक्चर्स आन कम्परेटिव रिलीजन 1925, पृ0 67) । साथ ही यह भी मान्यता है कि कर्म सिद्धान्त में व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई स्थान नहीं है जिससे व्यक्ति अन्ततोगत्वा निराशावादी हो जाता है। ए0 वी0 कीथ जो संस्कृत के दूसरे महत्वपूर्ण विद्वान हैं कर्म के सिद्धान्त को भाग्यवादी सिद्धान्त माना है (पी0 एच0 प्रभू पृ0 43)।

वास्तव में भाग्य अतीत में स्वयं के द्वारा ही किए हुये कर्मों का प्रतिफल माना गया है। आज व्यक्ति जिस रूप में भी है, अपने पूर्व जन्मों के संचित कर्मों में से प्रारब्ध अर्थात वर्तमान जीवन में वह जिन कर्मों का भोग कर रहा है, का ही परिणाम है। भाग्य, पूर्व में हमारे द्वारा ही किए गये कर्मों की प्रतिक्रिया है। व्यक्ति के स्वयं के कर्म ही उसके भाग्य का कारण है। वास्तविकता यह है कि भाग्य कर्म पर आधारित है, न कि कर्म भाग्य पर। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है।

3.7 कर्म के सिद्धान्त का महत्व

कर्म का सिद्धान्त सामाजिक जीवन में सुव्यवस्था और संगठन स्थापित करने में सहायक सिद्ध होता है। कर्म फल पर विश्वास के कारण ही समाज में सब कार्य सुचारू रूप से चलते रहते हैं।

यह सिद्धान्त इसलिए भी बहुत महत्वपूर्ण है कि बौद्ध और जैन धर्म भी इसके पक्षधर हैं जबकि हिन्दू धर्म के अनेक पक्षों के ये कटु आलोचक भी रहे हैं। डा0 राधाकृष्णन का मत है कि कर्म का सिद्धान्त भविष्य के प्रति आशा और अतीत के प्रति विस्मृणन पर बल देता है। (एस0 राधाकृष्णन: फिल्साफी आफ दि उपनिषद पृ0 125)।

समाजशास्त्री मैक्स बेवर का विचार है कि यह सिद्धान्त पूरे इतिहास में सबसे अधिक सन्तुलित दैवी विश्वास का प्रतिनिधित्व करता है (मैक्स बेवर : दि रिलीजन आफ इण्डिया पृ0 121) यह सिद्धान्त अकर्मण्यता अथवा आलस्य की भावना को त्याग कर अपने सत्कर्मों द्वारा अपने भविष्य के भाग्य को बदलने के लिए मनुष्य को प्रोत्साहित करता है।

3.8 कर्म-सिद्धान्त के दोष

कर्म के सिद्धान्त का आधार पुरूषार्थों की पूर्ति रहा है, लेकिन कर्मवाद में प्रारब्ध के जुड़ जाने के कारण भाग्य की धारण अधिक महत्वपूर्ण हो गयी जिससे ऐसा लगता है कि व्यक्ति के व्यवहार में भाग्यवादिता प्रबल है। वास्तव में जब सब कुछ पूर्वजन्म के कर्मों पर ही निर्भर है तो व्यक्ति इस जीवन में क्यों कार्य करे। यदि इस जीवन में किये गये कर्मों का फल भविष्य के जीवन में मिलेगा तो ऐसी स्थिति में मनुष्य के प्रयासों में शिथिलता आ जाती है ।

कर्म के सिद्धान्त में पारलौकिक जीवन को लौकिक जीवन की तुलना में अधिक महत्व प्रदान किया गया है जिसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य आध्यात्मिक कल्याण में अधिक लग गया और लौकिक दायित्व के प्रति उदासीन हो गया। इस दृष्टिकोण से कर्म के सिद्धान्त ने भाग्य वाद को अधिक प्रोत्साहित किया और भौतिक प्रगति के प्रति उदासीन रहा ।

3.9 सारांश

कर्म के सिद्धान्त का भारतीय समाज के ऊपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी यह जानता है कि व्यक्ति को अपने किये का फल भोगना ही पड़ेगा। यदि व्यक्ति उचित कर्म करता है, अपने दायित्वों एवम् कर्तव्यों को भली प्रकार से पूरा करता है तो उसे अच्छा फल अवश्य ही मिलेगा। कर्म व्यक्ति की क्रिया के रूप में और फल उसकी प्रतिक्रिया के रूप होती रहती है। यह कर्म तब तक चलता रहता जबतक व्यक्ति को पुनर्जन्म से युक्ति नहीं मिल जाती। मुक्ति का अर्थ इस संसार के आवागमन से छुटकारा पाना और अपने अन्तिम लक्ष्य, मोक्ष का प्राप्त होना। कर्म के सिद्धान्त में लौकिक जीवन की उपेक्षा की गई है। तथा पारलौकिक जीवन को अधिक महत्व दिया गया है। यद्यपि मनुष्य के जीवन में प्रेरणा भरना ही कर्म के सिद्धान्त की मौलिक विशेषता है जो मानव को अटूट क्रियाशीलता को प्रेरित करता है।

3.10 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन - पी0 एच0 प्रभू
2. धर्म शास्त्र का इतिहास - डा0 पाण्डुरंग वामन काणे
3. श्रीमद्भगवद्गीता - गीता प्रेस गोरखपुर
4. दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ - डा0 राधाकृष्णन्

NMD-02

3.11 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भाग्य पर एक टिप्पणी लिखिए
2. कर्म भाग्य नहीं है? क्या इससे आप सहमत हैं।
3. कर्म के प्रकार बताइये।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कर्म के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए तथा इसके महत्व को समझाइये।
2. कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
3. कर्म की व्याख्या कीजिए तथा इसके गुण-दोष बताइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्न में से कौन एक कर्म का तत्व नहीं है।

   (अ) कर्ता (ब) परिस्थिति (स) सम्पत्ति (द) प्रेरणा

2. वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्म कितने प्रकार के होते हैं?

   (अ) एक (ब) दो (स) तीन (द) चार

3. गीता में किस प्रकार के कर्म के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है।

   (अ) निष्काम (ब) कामिक (स) वाचिक (द) मानसिक

3.12 प्रश्नोत्तर

1. स
2. स
3. अ

इकाई 4 हिन्दुत्व की मान्यताएँ एवं अनेकता में एकता

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 हिन्दुत्व का परिचय एवं अर्थ

4.2.1 हिन्दुत्व का अर्थ

4.2.2 हिन्दुत्व का व्यावहारिक पक्ष

4.3 हिन्दुत्व की मान्यताएँ

4.3.1 सृष्टि के विषय में मान्यता

4.3.2 ब्रह्म विषय व मान्यता

4.3.3 कर्म के सिद्धान्त में विश्वास

4.3.4 आत्मा विषयक विश्वास

4.3.5 मुक्ति

4.3.6 मरणोत्तर जीवन की मान्यता

4.3.7 सार्वभौमिकता

4.3.8 मूर्ति पूजा

4.3.9 गुरु की मान्यता

4.3.10 अवतार

4.3.11 योग

4.3.11.1 राजयोग

4.3.11.2 कर्म योग

4.3.11.3 भक्ति योग

27.3.11.4 ज्ञान योग

4.3.12 ऋण

4.3.12.1 ऋषि ऋण

4.3.12.2 पितृ ऋण

4.3.12.3 देव ऋण

4.3.12.4 मनुष्य ऋण

4.3.13 पंच महायज्ञों की मान्यता

4.3.14 पुरुषार्थ

4.3.15 वर्णाश्रम

4.3.16 संस्कार

4.3.17 तीर्थ

4.3.18 ओम

4.4 अनेकता में एकता

4.4.1 भौगोलिक अनेका

4.4.2 प्रजातीय भिन्नता

4.4.3 सांस्कृतिक भिन्नता

4.5 अनेकता में ऐक्य भाव

4.6 सारांश

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

4.8 प्रश्नोत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करके आप निम्न बातों को समझने में समर्थ होंगे :

* हिन्दुत्व का परिचय
* हिन्दुत्व का अर्थ
* हिन्दुत्व की विशेषताएँ
* हिन्दुत्व की मान्यताएँ—ज्ञानकाण्डीय एवं कर्मकाण्डीय
* अनेकता की स्थिति
* नानत्व को एक सूत्र में बांधने वाली एकता

4.1 प्रस्तावना

हिन्दुत्व ऐतिहासिक युग के पूर्व का धर्म है। इसे हिन्दू धर्म भी कहते हैं। अनेकानेक चोटों को सहता हुआ यह धर्म आज भी विद्यमान है। विवेकानन्द जी कहते हैं कि आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार वेदान्त की प्रतिध्वनि है। वेदान्त के अति उच्च आध्यात्मिक भाव से लेकर सामान्य मूर्तिपूजा तक के लिए इसमें (हिन्दुत्व में) स्थान है। हिन्दुत्व को हमने वेदों से प्राप्त किया है जो अपौरुषेय माने जाते हैं। आध्यात्मिक जगत को चलाने वाले नियम

गुरुत्वाकर्षण के नियम की तरह काम करते रहते हैं। इनका पता नहीं था तब भी ये काम करते थे गुरुत्वाकर्षण के नियम की भाँति। यदि मानव इन्हें भूल जायें तो भी ये कार्य करते रहेंगे। इन आध्यात्मिक नियमों का न कोई आदि है और न अन्त।

4.2 हिन्दुत्व का परिचय एवं अर्थ

हिन्दुत्व अतिपुरातन (जिसके उदय की तिथि का पता नहीं है), श्रद्धा एवं भक्ति युक्त धर्म है। जो बाहर से आये हुए (प्रवासी) समुदायों को छोड़कर सबको स्पर्श करना है। फ्रांस काथलिक धर्म नहीं हैं क्योंकि फ्रांस के अलावा भी काथलिक देश हैं, पाकिस्तान इस्लाम नहीं है क्योंकि और भी अनेक मुस्लिम राज्य हैं, भारत हिन्दुत्व है। यहाँ आये हुए पर्यटक के लिए अनिवार्य रूप से हिन्दुत्व ही भारत को सबसे पहले और सदा के लिए सब देशों से अलग करता है। सर्व व्यापक सूर्य के प्रकाश की तरह हिन्दुत्व भारत की हर ध्वनि और दृष्टि में व्याप्त (फैला हुआ) है। शरीर का जो संबंध खून से है वही भारत का संबंध हिन्दुत्व से है। सेंगल रोनाल्ड अपनी पुस्तक 'द क्राइसिस आव इण्डिया' में हिन्दुत्व को भारत के जीवन की गति अथवा बहाव कहते हैं। बाजार की प्रकृति, ग्रामीण श्रम-विभाजन, गाँव और राज्य की सरकार, जन्म, विवाह और मृत्यु की औपचारिकताएँ—ये सभी हिन्दुत्व के रूप हैं।

हिन्दुत्व व्यक्ति का उसके समाज से संबंध उसके देर से अधिकार और कर्तव्यों का विधान करके तय करता है। यह व्यक्ति को उसकी पत्नी, उसके माता-पिता, उसके बच्चों और सर्वाधिक उसी से जो संबंध है उसे बता देता है। एक भारतीय (हिन्दू) क्या करता है, कैसे सोचता है, क्या विश्वास करता है, कैसे जीवन जीता है, कैसे अनुभव करता है आदि सब पर हिन्दुत्व का प्रभाव पड़ता है। प्रश्न है यह हिन्दुत्व क्या है?

4.2.1 हिन्दुत्व का अर्थ

हिन्दुत्व की परिभाषा देने का कार्य एक कठिन कार्य है। बहुत से लोगों के लिये यह एक ऐसा नाम हो सकता है जिसकी कोई अन्तर्वस्तु नहीं है। क्या हिन्दुत्व विश्वासों का एक संग्रहालय है, अनुष्ठानों का एक सम्मिश्रण है, या केवल एक मैप है, एक भौगोलिक अभिव्यक्ति है। इसकी अन्तर्वस्तु यदि कोई है तो वह युग-युग में और एक समुदाय से दूसरे समुदाय में बदलती रहती है। हिन्दुत्व पर प्रकाश डालते हुये सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन अपनी 'धर्म और समाज' नामक कृति में लिखते हैं 'हिन्दुत्व किसी जातीय तथ्य पर आधारित नहीं हैं यद्यपि हिन्दू सभ्यता का मूल वैदिक आर्यों के आध्यात्मिक जीवन में है। उसके मूल के चिन्ह अभी लुप्त नहीं हुए हैं फिर भी इसने द्रविणों और यहाँ के अन्य निवासियों के सामाजिक जीवन से इतना कुछ ग्रहण किया है कि आधुनिक हिन्दुत्व में से वैदिक और वैदिक भिन्न तत्वों को सुलझाकर अलग कर पाना कठिन है। भारत एक परम्परा, एक भावना एक प्रकाश है। उसकी भौतिक और आत्मिक सीमाएं एक नहीं पृथक-पृथक हैं। भारत आध्यात्मिक मान्यताओं को अन्य मान्यताओं की अपेक्षा अधिक महत्व देता है।'' अत: हिन्दुत्व में आध्यात्मिकता पर सबसे अधिक बल है।

4.2.2 व्यावहारिक पक्ष

डॉ० राधाकृष्णन ने हिन्दुत्व के व्यावहारिक पक्ष को भी उजागर किया है। आपका कथन है कि व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दुत्व विचारों के एक स्वरूप से कहीं अधिक एक जीवन प्रणाली है। विचार जगत में हिन्दुत्व पूर्ण स्वच्छन्दता प्रदान करता है वहीं **एक कठोर आचरण की संहिता को लागू** करता है। आस्तिक और नास्तिक, सन्देही और अज्ञेय वादी सभी हिन्दू हो सकते हैं यदि वे संस्कृत और जीवन की हिन्दू प्रणाली को स्वीकार करते हैं। विद्यानिवास मिश्र अपनी कृति हिन्दू धर्म, जीवन में सनातन की खोज' में लिखते हैं 'धर्म वस्तुत: जीने का एक तरीका है। यह विश्वासों से अधिक जीने की प्रक्रिया पर आधारित है।' हिन्दू धर्म न तो देश से बंधा है और न काल से। हिन्दू जीवन दर्शन को अपनाने वाला किसी देश का व्यक्ति अपने को हिन्दू कह सकता है। निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दू धर्म ज्ञान को आचरण से जोड़ते रहने की एक अनवरत प्रक्रिया है।

हिन्दुत्व में धार्मिक अनुरूपता पर उतना जोर नहीं है जितना जीवन के आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण पर। हमारे चाहे जो भी ईश्वरपरक विश्वास अथवा तात्विक मत हों, हम सभी इसमें सहमत हैं कि हमें दयालु और ईमानदार कृतज्ञ और दीन-दुखी के प्रति सहानुभूति होनी चाहिये। हिन्दू नैतिक जीवन पर बल देता है और इन सभी से भाई चारा अथवा संसर्ग मानता है जो नैतिक नियमों के दावों से अपने को बंधा हुआ मानते हैं। **हिन्दुत्व कोई पंथ अथवा सम्प्रदाय नहीं है बल्कि इन लोगों का भाई चारा है जो न्याय को स्वीकार करते हैं** और सत्य को खोजते हैं। हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज करता है। हिन्दू धर्म सृष्टि के साथ तादात्म्य पर बल देने वाला धर्म है और उसके समस्त अनुष्ठान (यज्ञ, उपासना और भक्ति) इस तादात्म्य के लिये साधन हैं। यज्ञ और उपासना उसके बाह्य और आभ्यन्तर पक्ष हैं।

4.3 हिन्दुत्व की मान्यंताएँ

4.3.1 सृष्टि के विषय में मान्यता

सृष्टि अनादि तथा अनन्त है। ऐसा नहीं है कि ईश्वर आया और उसने विश्व की रचना की और तब से सो रहा है क्योंकि ऐसा नहीं है। सर्जनात्मक ऊर्जा का प्रवाह अब भी है। ईश्वर अनवरत सृष्टि करता रहता है और कभी भी विश्राम नहीं करता। गीता का एक उद्धरण प्रस्तुत है जिसमें कृष्ण कहते हैं 'यदि मैं एक सेकेण्ड के लिये भी विश्राम की स्थिति में रहूँ तो यह विश्व नष्ट हो जायेगा।' यदि सर्जनात्मक ऊर्जा एक सेकेण्ड के लिये ठहर जाती है तो सब कुछ नष्ट हो जाता है। ऐसा समय कभी नहीं रहा है जब वह ऊर्जा पूरे विश्व में काम न कर रही हो; लेकिन एक चक्रों का नियम (प्रलय) अवश्य है। क्रिएशन को प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) कहना अधिक तर्क संगत लगता है। संस्कृत का शब्द 'सृष्टि' अधिक उपयुक्त नहीं है।

क्रिएशन का अर्थ अभाव अथवा शून्य में कुछ के उत्पन्न होने का विचार लिया जाये तो यह एक भयानक और अपरिष्कृत (अनगढ़) विचार हैं। अर्थात् अभाव से भाव का ख्याल अथवा अनस्तित्व से अस्तित्व का विचार अनुपयुक्त है। सम्पूर्ण प्रकृति का अस्तित्व है। यह और उत्कृष्टतर हो जाती है शान्त हो जाती है और विश्राम की अवधि के बाद फिर सब कुछ सामने

प्रक्षेपित हो जाता है और वही संयोग, वही उद्विकास और वही अभिव्यक्तियाँ थोड़े समय के लिये प्रकट होकर क्रीड़ा करती रहती है केवल पुन: टुकड़ों में विभक्त होने, उत्तमतर और अधिक उत्तमतर होने के लिये जब तक सब कुछ शान्त होकर पुन: उत्पन्न नहीं हो जाता। समय, स्थान और कारण सभी इसी प्रकृति के अन्तर्गत हैं। अत: यह कहना कि इसका आदि है और एक बकवास है। न इसका आदि है और न ही इसका अन्त। हमारे **शास्त्रों में जहाँ आदि और अन्त का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ एक चक्र के आदि और अन्त का प्रयोग हुआ है उसका अर्थ एक चक्र के आदि और अन्त से है, इससे अधिक कुछ नहीं**। स्वामी विवेकानन्द की एक उपमा से यह और अधिक स्पष्ट हो सकेगा। सृष्टा और सृष्टि मानों दो रेखायें हैं, जिनका न आदि हैं और न अन्त, और जो समानान्तर है।

4.3.2 ब्रह्म विषयक मान्यता

इस सृष्टि को किसने बनाया? उत्तर ईश्वर (ब्रह्म) ने। अंग्रेजी के गॉड शब्द के लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त माना जाता है। ब्रह्म सभी अभिव्यक्तियों का सामान्य कारण है। यह ब्रह्म क्या है? वह शाश्वत, अनवरत रूप से शुद्ध, अनवरत रूप से जाग्रत, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, पूर्णरूपेश दयावान, सर्वव्यापक, अरूप और अखण्ड है उसने विश्व को रचा। यदि वह सदा विश्व के बनाने और थामने का कार्य करता है तो दो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इस संसार में पक्षपात दिखाई पड़ता है। एक खुश होकर जन्मता है तो दूसरा दु:खी होकर। एक अमीर है तो दूसरा गरीब। यह पक्षपात सूचक है। फिर क्रूरता भी है क्योंकि यहाँ जीवन की शर्त मृत्यु है। एक जानवर दूसरे के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। प्रत्येक मानव अपने भाई से कुछ अधिक ही अच्छा पाने का प्रयास करता है। यह प्रतियोगिता, क्रूरता, भयानकता, और रात-दिन हृदय विदारक आहें हमारे इस संसार (विश्व) की वस्तुओं की दशाएँ हैं। यदि यही ब्रह्म की सृष्टि हो, तो वह ब्रह्म दुष्ट से भी अधिक बुरा है। वह मानव द्वारा कल्पित किसी दैत्य से भी बुरा है। वेदान्त कहता है अरे इस पक्षपात का दोषी ब्रह्म नहीं है। यह दोष तो प्रतियोगिता अथवा होड़ का है। इस होड़ का निर्माण किसने किया? उत्तर स्वयं हमने। एक उदाहरण का सहारा लेकर इसे स्पष्ट किया जा सकता है। एक बादल सभी खेतों में समान पानी की वर्षा करता है। पर अच्छी तरह से जुते हुए खेत को वर्षा का लाभ मिलता है। जिस खेत की ठीक से जुताई नहीं हो पाती उसको वर्षा का लाभ नहीं मिलता। इसमें बादल दोषमुक्त है। ईश्वर की कृपा शाश्वत और अपरिवर्तनशील है। उसमें विभेद हम लोग उत्पन्न करते हैं। पर कुछ सुखद और कुछ दु:खद जन्म पाते हैं। इसकी व्याख्या कैसे की जाय? वे इस बिभेद के बनने में इस जन्म में कुछ नहीं करते परन्तु पिछले जन्म में उन्होंने ऐसा कुछ जरूर किया जिससे यह विभेद उत्पन्न हुआ। यह विभेद पूर्व जन्म की क्रिया द्वारा व्याख्यायित होता है।

4.3.3 कर्म के सिद्धान्त में विश्वास

इस सिद्धान्त से हिन्दू, बौद्ध और जैन सभी सहमत हैं। हम सभी मानते हैं कि जीवन शाश्वत है ऐसा नहीं है कि जीवन अनस्तित्व से उत्पन्न हुआ हो। जीवन का अस्तित्व अवश्य रहा होगा। हममें से प्रत्येक अनन्त अतीत का परिणाम है। एक बच्चा जो संसार में जन्म लेता है उसके पास एक असीम अतीत का बोझ होता है क्योंकि अच्छाई या बुराई के लिए वह अपने अतीत

NIOS-180

के कर्मों का हिसाब लगाता है। इसी से विभेदीकरण का निर्माण होता है। यही कर्म का नियम है। प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है। यही नियम पूर्व नियति (प्री डेस्टीनेशन) और भाग्य (फेट) के सभी सिद्धान्तों को सर में खटखटाता है और हमें मनुष्य और ब्रह्म के बीच समन्वय का एकमात्र साधन प्रदान करता है। हम और केवल हम, कोई अन्य नहीं, अपनी पीड़ा के लिये उत्तरदायी है। **हमीं कारण हैं और हमीं कार्य हैं**। इसलिये हम स्वाधीन हैं। यदि हम दु:खी हैं तो अपनी निज की देन के कारण। इससे यह भी संकेत मिलता है कि यदि हम चाहें तो हम प्रसन्न हो सकते हैं। यदि हम अपवित्र हैं तो निज के कारण। इससे यह संकेत मिलता है कि हम यदि चाहें तो पवित्र हो सकते हैं। मानव इच्छा सभी परिस्थितियों से परे टिकी रहती है। इस मानव इच्छा के सामने सभी शक्तियाँ, यहाँ तक कि प्रकृति भी घुटने टेक देती है। वशीभूत हो जाती है, सेविका बन जाती है। यही कर्म के नियम का फल है।

4.3.4 आत्मा विषयक विश्वास

ब्रह्म को समझने के लिये आत्मा का ज्ञान आवश्यक है। भारत और भारत के बाहर बाह्य प्रकृति का अध्ययन करके परे की झलक को पाने के प्रयास हुए हैं पर असफलता हाथ लगी है। जितना अधिक हम भौतिक संसार का अध्ययन करते हैं हमारी और आर्थिक भौतिक बनने की प्रवृत्ति होती है जिससे हमारे पास जो थोड़ी सी आध्यात्मिकता होती है वह भी लुप्त हो जाती है। इसलिये यह मार्ग आध्यात्मिकता अथवा सर्वोच्च ज्ञान के लिये उपयुक्त नहीं है। यह हृदय से आना चाहिये, आत्मा से आना चाहिये बाह्य कार्य परे और असीम के विषय में कोई शिक्षा नहीं देते हैं केवल आन्तरिक अथवा आभ्यन्तर द्वारा ही यह सम्भव है। अत: केवल आत्मा और आत्मा के विश्लेषण द्वारा हम ब्रह्म को समझ सकते हैं। आत्मा की प्रकृति के बारे में मतमतान्तर होने के बाद भी हम सभी सहमत हैं कि आत्मा का न कोई आदि है और न अन्त और अपनी प्रकृति से अमर है। आत्मा में सभी शक्तियां, शुद्धता सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता आदि छिपे हैं। प्रत्येक मानव और पशु में सर्वव्यापक और सर्वज्ञ आत्मा निवास करती है। हम और छोटे पशु में केवल अभिव्यक्ति में अन्तर है परन्तु सिद्धान्त में वह मेरे समान है, वह मेरा भाई उसकी और हमारी आत्मा एक है। यह एक महानतम सिद्धान्त अथवा मान्यता है जिसे हिन्दुत्व ने दिया है। भारत में मनुष्य का भाईचारा सार्वभौमिक जीवन का भाई-चारा है, जानवरों और चीटियों तक के जीवन का भाई-चारा है।

मानस और आत्मा में अन्तर है। मानस शरीर से परे हैं इस पर भी मानस आत्मा नहीं है। वह सूक्ष्म शरीर है जो उत्कृष्टतम कणों से निर्मित है जो जन्म से मृत्यु तक जाता है। मानस के पीछे आत्मा (मनुष्य का आत्म) है। आत्मा मानस और शरीर से अलग है। सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा जन्म और मृत्यु से गुजरती है। समय आने पर जब वह पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, सर्वज्ञ हो जाता है तो उसे जन्म मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है। तब उसे यह स्वतन्त्रता मिल जाती है कि वह सूक्ष्म शरीर को रखे या फिर उसे सदा के लिये छोड़ दे और समस्त अनन्तता तक वह स्वतन्त्र रहे। आत्मा का लक्ष्य छुटकारा है। यह हिन्दुत्व की एक विशिष्टता है। हमारे यहाँ स्वर्ग और नरक भी हैं पर ये असीम अथवा अनन्त नहीं हैं। मानव शरीर

देवताओं से भी श्रेष्ठ है, सभी योनियों में सबसे श्रेष्ठ हैं। बहुत से देवता स्वर्ग से सुखों को त्यागकर नीचे गिरकर मानव बन जाते हैं। यह पृथ्वी कर्म-भूमि है। यह पृथ्वी है जहां से हम मुक्ति पा सकते हैं। इसलिये ये स्वर्ग भी प्राप्त करने योग्य नहीं हैं। मुक्ति ही सबसे बड़ा स्वर्ग है। बाह्य और आन्तरिक प्रकृति से छुटकारा पाने का विचार मुख्य है। क्योंकि न ही जीवन न हो जन्म न हो मृत्यु। न और अधिक आनन्द और न अधिक दु:ख। संसार में जिसे हम सुख और अच्छा कहते हैं शाश्वत आनन्द के कण हैं। अत: शाश्वत आनन्द से हमारा उद्देश्य है।

4.3.5 मुक्ति

वेद के मत से आत्मा ब्रह्म स्वरूप है, वह केवल पंचभूतों के बन्धनों में बंधी हुई है और उन बन्धनों के टूटने पर वह अपने पहले के पुर्नत्व को प्राप्त कर लेगी। इस अवस्था का नाम मुक्ति है। बन्धनों के रहते मुक्ति कहां। बन्धन् से छूट जाना ही मुक्ति है। बन्धन तो अनेकानेक हैं पर सबसे बड़ा बन्धन भव-बन्धन हैं जिसे जन्म मृत्यु का बन्धन भी कहते हैं। हिन्दुओं में मुक्ति की बड़ी महिला एवं मान्यता है। मुक्ति को मूल्यों का मूल्य कहा गया है। धर्म, अर्थ और काम मूल्य है। इन तीनों का भी मूल्य है मुक्ति। इसक लिये ईश्वर साक्षात्कार की आवश्यकता है। मुक्ति का अर्थ है स्वाधीनता अपूर्णता, जन्म मृत्यु अधि-व्याधि से छुटकारा। चरम मुक्ति को चरम पुरुषर्थ माना गया है।

आत्मा केवल ईश्वर की दया से ही इस बन्धन से मुक्ति पा सकती है। केवल शुद्ध पवित्र स्वभाव वालों पर ही वह दया करती है। पवित्रता से उसके अनुग्रह की प्राप्ति हो सकती है। विशुद्ध और निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है। तुलसीकृत रामायण में भगवान स्वयं कहते हैं।

निर्मल मन जन सो मोंहि पावा।

मोंहि कपट छल छिद्र न भावा॥

ईश्वर के प्रति अहैतुकि भक्ति नि:स्वार्थ प्रेम से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

4.3.6 मरणोत्तर जीवन की मान्यता

मृत्यु जीवन का अंत नहीं है। मृत्यु तो जीर्ण शीर्ण शरीर का त्याग है। जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश करती है और आगे का जीवन जीने लगती है। इस प्रकार हिन्दू का जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण है कि यहद् जीवन (वर्तमान जीवन) स्वयं में मूल्यवान नहीं है। यह तो पिछले और अगले जीवनों की शृंखला की एक कड़ी है। हिन्दुओं की मान्यता के अनुसार जीवन शृंखलामय है। पिछले जीवन का संबंध इस जीवन से और इस जीवन का संबंध अगले जीवन से है। यह जीवन का सिलसिला तब तक चलता रहेगा जब तक मोक्ष न मिल जाय। मोक्ष मिल लाने पर जीवन का प्रवाह मिट जायेगा। एक जीवन एक स्तर के समान है। मोक्ष पाने के लिये उसे ऐसे कई स्तरों से गुजरना पड़ सकता है मानव जीवनऐसे विभिन्न स्तरों से होकर शाश्वत जीवन तक पहुंचने के लिए एक तीर्थयात्रा है। जब मनुष्य ध्यान द्वारा अपने को पवित्र कर और ज्ञान प्राप्त कर मरता है अथवा ऋषिगण और ज्ञानी जन जब मरते हैं

NMDC-102

तो उन्हें ऐसे रास्ते से ले जाया जाता है कि वे वापस नहीं लौटते हैं वे जो ज्ञानी नहीं प्राप्त कर पाये हैं और इस जीवन में अच्छे कर्म करते रहे हैं। मरने के बाद, पहले, वे धुएं से होकर गुजरते हैं, फिर रात को, फिर कृष्ण पक्ष (15 दिन) को, फिर छः माह तक जब सूर्य दक्षिणायन में होता है और वहां से वे अपने पूर्वजों के लोक में जाते हैं, फिर आकाश में (ether) फिर चन्द्रलोक में और वहां से देवताओं का खाद्य बन जाते हैं और बाद में देवता के रूप में जन्म लेते हैं औरवहां तक तक रहते हैं जब तक शुभ कर्म अनुमति देते हैं। जब शुभ कर्मों का असर समाप्त हो जाता है तब पृथ्वी पर उसी मार्ग से वापस आ जाते हैं। पहले वे गगन (ether) बनते हैं फिर वायु, फिर धुआं, फिर कुहरा, फिर बादल और पानी की बूंदों के रूप में धरती पर गिरते हैं, फिर खाद्य पर्दा में मिल जाते हैं और मनुष्यों द्वारा खा लिए जाते हैं और अन्त में उनके बच्चे (संतानें) बन जाते हैं। जिनके कर्म अच्छे होते हैं। अच्छे परिवारों में जन्म लेते हैं और जिनके कर्म बुरे होते हैं उन्हें बुरे जन्मों की प्राप्ति होती है। जीवधारी इस धरती पर आते-जाते रहते हैं अतः पृथ्वी न तो कभी पूरी तरह रिक्त होती है और न कभी पूरी तरह से भरी हो। यह तो इस बात का निदान हुआ कि जो स्वर्ग में होते हैं वे वहां धरती पर कैसे वापस आते हैं।

हिन्दू मान्यता के अनुसार ईश्वर के सान्निध्य के बिना कोई स्वर्ग स्थाई नहीं है। वे लोग जिनका ईश्वर से एकाकार नहीं हो पाया है, लेकिन इस संसार में उन्होंने अच्छे कर्म किये हैं इस उद्देश्य से किये हैं कि वे उनका आनन्द भोगेंगे। वे मरने के बाद इस-उस स्थान से स्वर्ग पहुंचते हैं और वहां देवताओं के बच्चों के रूप में वैसे ही जन्म लेते हैं जैसे हम यहां जन्म लेते हैं और वे वहां तब तक रहते हैं जब तक उनके अच्छे का आधारभूत विचार सामने आता है कि हर वस्तु जिसका नाम और रूप होता है नश्वर है इसलिये ये स्वर्ग भी अवश्य नश्वर होने चाहिये क्योंकि वहां भी नाम और रूप रहते हैं। स्वर्ग शाश्वत है एक भ्रामक विचार है क्योंकि नाम रूप वाली हर वस्तु समय में प्रारम्भ होती है समय में रहती और समय में विलीन हो जाती है। ये वेदान्त के सिद्धान्त स्थाई हैं और इसलिये स्वर्ग त्याग दिये जाते हैं।

4.3.7 सार्वभौमिकता

हिन्दुत्व की यह एक दृढ़ मान्यता है कि यह एक सार्वभौमिक धर्म है। सार्वभौमिक धर्म देश और काल तक मर्यादित नहीं हो सकता है। हिन्दुत्व की इस मान्यता की ओर प्रारमभ में ही संकेत किया जा चुका है। हिन्दु धर्म उस भगवान की भाँति अनन्त है जिस भगवान के संबंध में वह उपदेश देता है। इद्य भगवान का प्रकाश कृष्ण भक्तों पर ईशु प्रेमियों पर, सन्तों और पापियों पर समान रूप से पड़ता है। यह धर्म न तो ब्राह्मणों का है, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसलमानों का। इन सभी धर्मों का समष्टिरूप होने पर भी इसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला है। कामना है कि यह इतना व्यापक बने कि अपनी असंख्य प्रसारित भुजाओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य को गले लगा ले।

4.3.8 मूर्ति पूजा

हिन्द धर्म में मूर्ति पूजा की मान्यता है। हिन्दू मूर्ति पूजक हैं। वह अच्छी तरह जानता है कि

मूर्ति में ईश्वर नहीं है। ईश्वर उसके पीछे है। मूर्ति के माध्यम से वह अपने आराध्य देव में मन लगाता है। ईश्वर उसके पीछे हैं। मूर्ति के माध्यम से वह अपने आराध्य देव में मन लगाता है। हिन्दू लोग पवित्रता, नियत्व और सर्वव्यापकत्व के भावों को देवताओं की मूर्तियों से जोड़कर अथवा उन्हें आधार बनाकर आगे की ओर बढ़ते हैं। मूर्ति पूजा अथवा बाह्य पूजा तो सबसे निचला स्तर है। मानसिक प्रार्थना इसके आगे का स्तर है तथा परमेश्वर से साक्षात्कार उच्चतम स्तर है। मूर्तिपूजा जीवन की एक आवश्यक अवस्था के रूप में स्वीकार्य है। मूर्तिपूजा के माध्यम से ब्रह्म भाव को अधिक सरलता से अनुभव किया जा सकता है। मूर्तियाँ आध्यात्मिक उन्नति में सहायक हैं। विवेकानन्द जी कहते हैं कि मूर्तियाँ मानों वे खूटियाँ हैं जिनमें धार्मिक भाव लटकाये जाते हैं।

मूर्तिपूजा अविकसित मन के लिये उच्च आध्यात्मिक भाव ग्रहण करने का सरल उपाय है। मूर्ति पूजा घर में भी हो सकती है और मन्दिर में भी। बाह्य पूजा चाहे घर में हो या मन्दिर में यह व्यक्तिगत होती है, सामूहिक नहीं। कीर्तन देखने में सामूहिक पूजा जैसा लगता है पर उसमें प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका अलग होती है। असली कीर्तन वही है जिसमें मनुष्य अपने में खो जाये। समूह की ताल परचलने वाला कीर्तन तो तमाशा है। वाह्य पूजा अथवा मूर्ति पूजा अपने को अपने भीतर खींचने का कार्य है। पूजा के लिये एकाग्रता की आवश्यकता है इसलिये पूजा सामूहिक रूप से नहीं की जा सकती। वाह्य पूजा समष्टि चैतन्य की ही पूजा है। मूर्ति पूजा हिन्दुत्व में अनिवार्य नहीं है। प्रत्येक हिन्दू के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह मूर्ति पूजा कासहरा ले परन्तु मूर्ति पूजा गलत है यह कहने का अधिकार किसी को नहीं है।

4.3.9 गुरु की मान्यता

हिन्दू धर्म में गुरु की आवश्यकता और महत्ता को सहर्ष स्वीकारा गया है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है इसका मतलब यह नहीं है कि हिन्दुत्व में बाह्य सहायता पर कोई रोक है, बल्कि अधिकतर मामलों में ऐसी सहायता पूर्णरुपेण आवश्यक है। बाह्य सहायता मिलने पर आत्मा की उच्चतर शक्तिों और सम्भवनाओं की चाल बढ़ जाती है, आध्यात्मिक जीवन जाग्रत हो जाता है, वृद्धि अनुप्रमाणित हो जाती है और अन्त में मनुष्य पवित्र एवं पूर्ण हो जाता है पुस्तकों के ज्ञान द्वारा अन्त:प्रेरणा की चाल अथवा गति को रफ्तार नहीं दी जा कती है। इस कार्य के लिये दूसरी आत्मा का सहारा लेना पड़ता है। इस अन्य या दूसरी आत्मा को गुरु कहते हैं वह व्यक्ति जिसकी आत्मा से अन्त:प्रेरणा उभरी जाती है उसे गुरु कहते हैं और वह व्यक्ति जिसकी आत्मा तक अन्त:प्रेरणा ले जायी जाती है उसे शिष्य कहते हैं। गुरू के पास ईश्वर से सान्निध्य कराने की शक्ति होती है। गुरू के पास गोबिन्द (परमात्मा) से मिला देने की क्षमता हतोती है। गुरू का सत्संग करने से विवेक में वृद्धि होती है। यहाँ गुरू से तात्पर्य धर्म-शिक्षक से है। जो अपने शिक्ष्य का ब्रह्म से साक्षात्कार करा दे। ''आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा :' की स्थिति अच्छी मानी गयी है। गुरु (वक्ता) आश्चर्य जनक क्षमताओं वाला हो और शिष्य (श्रोता) चतुर हो तभी भव्य आध्यात्मिक जाग्रति का परिणाम निकलता है।

NMDC-102

4.3.10 अवतार

अवतार का अर्थ उतरना होता है। जब परमात्मा अथवा ईश्वर अपने उच्चतम दिव्य स्तर से मनुष्य के स्तर तक उतरता है या मानव से उच्च स्तर पर या मानव से निम्न स्तर पर उतरता है तब उसे अवतार कहते हैं। अपने भक्तों के कष्टों के निवारण हेतु अथवा किसी क्रूरता को मिटाने हेतु या फिर अधर्म को रोकने और धर्म की स्थापना के लिये भगवान विष्णु अवतरित होते हैं और पृथ्वी के पाप-बोझ को हल्का करने के लिये अवतार का विधान है। ईश्वर ने दस अवतार लिये हैं जिनमें से पूर्णावतार तो कृष्णावतार है। इसमें ईश्वर ठीक ठीक मानवस्तर तक उतर आया है। न जरा सा कम और न जरा सा ज्यादा। ये अवतार मनुश्य के माध्यम से ईश्वर की उच्चतम अभिव्यक्तियाँ हैं। इन अभिव्यक्तियों को छोड़कर हम ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकते हैं। इन अवतारों को पूजने के लिये हम बाध्य हैं। जब हम ईश्वर के बारे में सोचते हतैं जैसा कि वह अपनी निरपेक्ष पूर्णता में है हम अपने को असफल पाते हैं क्योंकि जब तक हम मनुष्य हैं हम मनुष्य की अपेक्षा किसी अन्य उच्च चीज के रूप में उसे नहीं जान सकते। समय आने पर हम उसे अपनी मानव प्रकृति से आगे जाकर जैसा वह है जान सकते हैं, लेकिन जब तक हम मानव हैं उसकी पूजा हमें मानव रूप में करनी चाहिये।

ईश्वर मनुष्य की असफलताओं को समझता है और मानवता का भला करने के लिये मानव बन जाता है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम॥

परित्राणाम साधूनां विनाशय च दुष्क्रताम।

धर्म संस्थापनार्थाय संभवाभि युगे युगे॥

अवतार के विषय में श्री कृष्ण उक्त घोषणा करते हैं।

भगवान रामकृष्ण कहते हैं ''जब एक विशाल ज्वारीय तरंग आती है सभी छोटी नदियाँ और खाइयाँ बिना किसी प्रयास के मुंह तक भर जाते हैं, उसी प्रकार जब अवतार होता है आध्यात्मिकता की एक ज्वारीय तरंग दुनियां में उठती है लोग हवा में आध्यात्मिकता का अनुभव करते हैं।

4.3.11 योग

वेद सम्मत हिन्दुत्व में दो धारायें थीं। यज्ञ की धारा और योग की धारा। यहां योग की धारा पर विचार करना है योग मनुष्य को बाल्य जगत से खींचकर अन्तर्मुख करता है और उसे ऐसी एकाग्रता की स्थिति में पहुँचाता है जहां शरीर के रहते हुये भी शरीर, मन, चित्त, अहंकार इन सबसे वह अलग हो सकता है। इस योग की धारा ने ही आत्म तत्व की जिज्ञासा को जन्म दिया। योग का अर्थ है एकत्व अथवा एकाकार होने की स्थिति। परमात्मा का साक्षात्कार ही योग है। एकत्व के लिये प्रयत्नशील मनुष्य योगी कहलाता है। हिन्दुत्व में चार प्रकार के योग हैं। राजयोग, कर्मयोग, भक्ति योग और ज्ञान योग। स्वामी विवेकानन्द जी ने

सरल एवं सजीव ढंग से इन चारों पर प्रकाश डाला है। जो कर्म मार्ग से ईश्वर का साक्षात्कार करता है वह कर्मयोगी है, जो ज्ञान मार्ग से उसे खोजता है वह ज्ञानयोगी होता है, जो प्रेम मार्ग से उसकी तलाश करता है वह भक्तियोगी है। राज योग से जो उसे खोजता है वह राज योगी है।

4.3.11.1 राज योग

ज्ञान के तीन साधन है—सहजवृत्ति, युक्ति विचार और अतीन्द्रिय बोध (इनट्यूशन)। पहला ज्ञान साधन पशुओं का है, दूसरा मनुश्यों का और तीसरा देव-मानवों का। युक्ति विचार ही विकसित होकर अतीन्द्रिय बोध बनता है अर्थात् युक्ति विचार का विरोध तभी अतीन्द्रिय बोध द्वारा नहीं होता है वरन् वह तो उसे पूर्ण बनाता है। ज्ञान प्रापित की एक ही रीति हमारे पास है। इसे एकाग्रता अथवा मनोयोग कहते हैं। जितनी अधिकं एकाग्रता होगी उतना अधिक ज्ञान प्राप्त होगा। कोई भी कार्मिक अपने काम में जितनी अधिक एकाग्रता कर सकेगा उतना ही अधिक उसका काम अच्छा होगा। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, 'एकाग्रता की शक्ति ही ज्ञान के कोषगृह की एक मात्र कुंजी है।'' राजयोग प्रणाली इसी का वर्णन करती है। मन को किस प्रकार वश में करना चाहियें इसकी पूरी शिक्षा राजयोग में दी जाती है। हमारा चित्त अस्थिर रहता है इसे स्थिर रखने के लिये राजयोग एक उपाय है।

4.3.11.2 कर्मयोग

कर्मयोग कर्म के लिये कर्म करना सिखाता है। आसक्ति रहित कर्म करना सिखाता है। कर्मयोगी की स्थिति एक दाता जैसी होती है जो भलाई के कार्य करता है बिना बदले में कुछ पाने की भावना से। फल में आसक्ति न रखकर वह निष्काम कर्म करता हैं (कर्मध्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन)। बदले में कुछ पाने की भावना से किया गया कार्य दु:ख और बन्धन का हेतु बनता है। कर्मयोगी निष्काम कर्म करता हुआ ईश्वर का साक्षात्कार करता है अथवा ईश्वर में ली हो लेता है।

4.3.11.3 भक्ति योग

भावना से ओतप्रोत और प्रेमी स्वभाव वाले व्यकित के लिये भक्ति योग ईश्वर को पाने का एक अच्छा उपाय है। ईश्वर प्रेम स्वरूप है, वह प्रेम प्रेमी है। वह सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है पर प्रेम से प्रकट होता है (हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम से प्रगट होंहि मैं जाना॥)। भक्ति योगी का ईश्वर से अगाध प्रेम होता है जिससे उसका मन निर्मल हो जाता है। भगवान कहते हैं कि निर्मल मन जन उसे पा सकते हैं (निर्मल मनजन सो मोहिं पावा। मोंहि कपट छल छिद्र न भावा॥) कहते हैं कि ईश्वर का निवास प्रेम में है। जहां प्रेम है वहां ईश्वर है। माता के चुम्बन में पति के चुम्बन में, प्रेमी के चुम्बन में ईश्वर है। प्रेम में और प्रेम में वे प्रगट हो जाते हैं। प्रेम कुछ मांगता नहीं। प्रेम का सबसे बड़ा पुरस्कार प्रेम ही है। प्रेम से हृदय का विस्तार होता है। हृदय के विस्तार से ईश्वर प्रगट होता है। भक्ति योग की यही शिक्षा है।

4.3.11.4 ज्ञान योग

ज्ञान योगी संसार के परे जाने का इच्छुक होता हें। उसकी आत्मा सत्य के सहन रूप को देखना

चाहती है। उसकी आत्मा इस सर्वव्यापी परमात्मा में समा जाना चाहती है। ईश्वर उसके स्वयँ की आत्मा है यह विचार उसमें समा जाता है। उसके लिये हर वस्तु ईश्वर हो जाती है। वह सारे विश्व को सीय-राम मय समझने लगता है। छान्दोग्य उपनिषद (6/8/7) में जो लिखा है वह वही कह उठता है। 'स य एषोऽणिमा ऐतदात्यमिंद सर्व तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति' वह (ज्ञान योग) मनुष्य को यही शिखा देता है कि वह स्वरूपत: ब्रह्म ही है। इस संसार में चर-अचर, निम्न में श्रेष्ठ जीवों, तक, सभी उसी प्रभु का प्रकाश हैं।

आत्मा के ब्रह्म स्वरूप को जान लेना, उसमें विलीन हो जाना, उसका साक्षात्कार करना ही हिन्दू धर्म (हिन्दुत्व) का सार है।

4.3.12 ऋण

हिन्दुत्व की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति चार ऋणों को लेकर जन्म लेता है। इस चारों ऋणों को उसे जीवनकाल में चुकाना पड़ता है। ये हैं-ऋषि ऋण, देव ऋण, पितृ ऋण और मनुश्य ऋण। इसके पीछे निहित धारणा यह है कि ऋषियों, देवताओं पितरों और मनुष्यों ने जो उपकार किये हैं, उनसे हमने लाभ उठाया है इसलिये यह हमारा नैतिक कर्तव्य बनता है कि उस लाभ का प्रतिफल वह समाज को दे। ऋण की व्यवस्था व्यक्ति को उसके कर्तव्यों के प्रति सचेत करती है और उसे अपने और अपनों से आगे बढ़ने के लिये पेरित करती है। उसके ह्रदय को विस्तृत करती है।

4.3.12.1 ऋषि ऋण

ऋषि ऋण को चुकाने के लिये मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह तप-पूर्वक पूव्र ऋषियों से प्राप्त अनुभव को जीवन में उतारकर अपना अनुभव बना ले। वह उनके द्वारा दिये गये ज्ञान को व्यवहार में लाये और उसमें वृद्धि करके अगली पीढ़ी के सौंप दें। लोग ये समझते हैं कि इस ऋण का परिशोध ब्रह्मचर्य आश्रम में हो जाता है। पठन-पाठन द्वारा ऋषि ऋण से मुक्त होने की बात कही गयी है। यह विद्याध्ययन का काय्र सभी लोग सभी कर सकते हैं।

4.3.12.2 पितृ ऋण

पितृ ऋण से उद्धार होने का उपाय पुत्र संतान को पैदा करने से है। जिसके पुत्र हो जाता है वह पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है ऐसी हिन्दुओं में मान्यता है। इसलिये हिन्दू समाज में पुत्री की तुलना में पुत्र को अधिक महत्व प्राप्त है। तर्पण द्वारा पितृ ऋण का परिशोध हो जाता है। तर्पण पर अधिकार पुत्र को ही है। पितृ ऋण का असली अर्थ है परिवार भाव के प्रति दायित्व का बोध। परिवार को इकाई मानने से उसकी छुद्र निजता अपने आप लुप्त हो जाती है। परिवार भावना विकसित होते-होते वह विश्व को अपने में समेट लेती है। पितृ ऋण का भाव भविष्यत में आशा का भाव है, इस क्षण से मुक्ति के लिये गृहस्थ आश्रम की अनिवार्यता पर जोर है। पितृ ऋण का भार लेने का मतलब पालन पोषण का भार अपने ऊपर लेना है।

4.3.12.3 देव ऋण

देव ऋण तीसरा ऋण है इसे यज्ञ उपासना से चुकाया जाता है। ''होम'' करके इसे चुकाने की

बात मनु करते हतैं। यज्ञ का अर्थ है कि अपने को अतिशय प्रिय वस्तु देवताओं को देना है अर्थात् देवता के लिये इष्ट द्रव्य का त्याग। देव ऋण से मुक्ति का आश्य केवल बाह्य अनुष्ठान नहीं है। बल्कि अपने भीतर सोये हुये देवता का आह्वान है। हिन्दू अपने देवता को परोक्ष प्रिय मानता है। जिस मूर्ति के रूप में वह देवता को पूजता है देवता उस मूर्ति में न रहकर उसके द्वारा ध्याये गये अर्थ में रहता है।

4.3.12.4 मनुष्य ऋण

चौथा ऋण मनुष्य ऋण है। इस ऋण को चुकाने के लिये सेवा भाव आवश्यक है। इसलिये इस ऋण को चुकाने के लिये निर्वर्ण, शूद्र अथवा परिव्राजक बनना पड़ता है। इस ऋण का भार अनुभव करने वाला व्यक्ति अपने देश, काल, वर्ग, परिवार और अन्य छोटी-छोटी सीमायें लांघकर ही समस्त भूतों (प्राणियों) के हित की बात सोच सकता है। वह बेघर होकर विश्वग्राही बनता है। एक जगह बंध जाने से उसका सबकी सेवा का वत खंडित हो जाता है। उसे जीवन भर दूसरों की विपत्तियों को बंटाते रहना है। इस प्रकार इस ऋण को चरम एवं परम होने का दर्जा प्रापत हुआ और इसे चुकाने के लिये समर्पित व्यक्ति कभी वैरागी हुआ तो कभी सन्यासी।

4.3.13 पंच महायज्ञों की मान्यता

नित्य यज्ञ गृहस्थ के लिये एक आवश्यक कर्तव्य था। उसे प्रतिदिन पंचमहायज्ञों को करते रहने की सलाह दी गई थी। गृहपति का यह दायित्व था कि वह ऋषियों, देवताओं, पितरों, मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों को संतुष्ट रखने के लिये पंचमहायज्ञों को नित्य करता रहे। आश्रम व्यवस्था का विवरण इस खण्ड की इकाई 2 में देते समय पंचमहायज्ञों के विषय में विसतार से कहा गया है।

4.3.14 पुरूषार्थ

इस खण्ड की इकाई एक में पुरूषार्थ के विषय में लिखा जा चुका है। यहां इतना कहना पयाप्त है कि पुरूषार्थ का प्रयोग मूल्य के अर्थ में हुआ है। बड़े छोटे मूल्यों का अनुमान पुरूषार्थ की धारणा से हो जाता है। ऋणों की व्यवस्था को अधिक सप्रयोजन बनाने हेतु चार पुरूषार्थों की व्यवस्था की गयी है।

4.3.15 वर्णाश्रम

इस खण्ड की इकाई दो में वर्णाश्रम व्यवस्था की विवेचना की जा चुकी है।

4.3.16 संस्कार

नियत नैमित्तिक धर्म मनुष्य के जीवन चक्र की विभिन्न अवस्थाओं से जुड़े हैं। संस्कारों का सिलसिला जीवन भर तो चलता ही है पर मरने के बाद भी संस्कार चलते रहते हैं। गर्भाधान प्रथम संस्कार है और अन्त्येष्टि अन्तिम। इकाई दो में संसकारों पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा चुका है।

MDC-182

4.3.17 तीर्थ

हिन्दुओं के तीर्थ स्थल पवित्र स्थान माने जाते हैं। वहां जाकर उन्हें देखने से सुख मिलता है। आनन्द की अनुभूति होती है। कहते हैं तीर्थाटन से मानव के पाप धुल जाते हैं। धोने का काम जल से होता है। जल नदियों में मिलता है। गंगा, यमुना, गोदावरी आदि पवित्र नदियाँ हैं। इन पवित्र नदियों में स्नान करके आदमी पवित्र हो जाता है, निर्मल हो जाता है, शरीर और मन को निर्मल होकर मनुष्य ईश्वर को पा सकता है। *तीर्थ का एक अर्थ जल है।* नदियों के उद्गम, नदियाँ, सरोवर और सागर जलराशि है। अत: ये सभी तीर्थ हैं। अधिकतर तीर्थ स्थल नदियों के किनारे स्थित हैं।

सच्ची तीर्थभावना तीर्थाटन से पूरी नहीं होती, नदियों में नहाने से भी पूरी नहीं होती। श्री विद्यानिस मिश्र कहते हैं कि "तीर्थ भावना पूरी होती है ऐसे उल्लास से जिसमें सभी पवित्र लगते हैं, साथ नहाने वाले आदमी, नहाया जाने वाला तीर्थ और उस आदमी की श्वास सब कुछ।" प्राश्यचित्त के उद्देश्य से हिन्दूओं में तीर्थ व्रत करने का विधान है। तीर्थ और व्रत दोनों में मन की शुद्धि होती है।

हिन्दू चार धर्मों के दर्शन से पुण्यार्जन की बात करता है। ये चार पवित्र तीर्थ हैं।

1. बद्रीनाथ उत्तरांचल, उत्तर भारत में स्थित है।
2. रामेश्वर तमिलनाडु दक्षिण भारत में स्थित है।
3. पुरी उड़ीसा पूर्व भारत में स्थित है।
4. द्वारिका गुजरात, पश्चिम भारत में स्थित है।

कुछ स्रोत तीर्थ हैं कुछ मुख्य सरोवर तीर्थ हैं और कुछ संगम तीर्थ हैं। इनमें नहाने से भी पाप धुल जाता है और मनुश्य की पापात्मा पुण्यात्मका में बदल जाती है।

सभी तीर्थों का भ्रमण करके जब कोई दम्पत्ति घर लौटता है तो भण्डारे (भोज) का आयोजन करता है। बिना भण्डारे के तीर्थाटन का फल अधूरा रहता है ऐसी मान्यता हिन्दुओं में हैं।

4.3.18 ओम्

ओम का उच्चारण विशेष फलदायी है। किसी मंत्र, स्त्रोत अथवा आरती करते समय ओम का उच्चारण पहले होता है। यह एक ईश्वरीय ध्वनि है जिससे जीवन का उद्भव हुआ। वेदों में इसे, त्रिमूर्ति का प्रतीक माना गया है। ब्राह्मा, विष्णु और महेश को त्रिमूर्ति में स्थानदिया गया है। कहते हतैं कि ओम् विष्णु के तीन डगों विश्व के तीन लोगों और तीन पवित्र अग्नियों का प्रतीक है।

4.4 अनेकता में एकता

भारतीय समाज की बनावट का विचार जैसे ही मस्तिष्क में आता है एक बात तुरन्त कौंध जाती है कि इसकी रचना अनेकानेक तत्वों में हुई है। इन तत्वों में भी वैमित्य परिलक्षित होता है। इसकी बनावट की विविधता के साथ विचारों की विविधता, भावनाओं की विविधता, रीतिरिवाजों की विविधता, खाद्य पदार्थों की विविधता, पहनावे की विविधता, पूजा की

विविधता पर्वों की विविधता, तीर्थों की विविधता, यज्ञों की विविधता, ईश्वर को पाने के साधनों की विविधता, जीवन जीने की विविधता, जीवन की अवस्थाओं की विविधता, कर्तव्यों की विविधता, प्रजाति, संस्कृति, प्रोद्योगिकी, यातायात, उद्योग, भाषा, धर्म आदि की विविधता और भौगोलिक विविधता आदि भारतीय समाज की विविधता के परिचायक हैं। रूचि, कद, रंग, ज्ञान आदत के आधार पर भी विविधता है।

नानात्व अथवा अनेकत्व समाज के लिये अनिवार्य है। केवल समानता से समाज की रचना का विचार निर्मूल है। विभेदों का अस्तित्व समाज के निर्माण में सहायक है। स्त्री-पुरुषों में लिंगीय भेद जो जन्मजात है संतानोत्पादन में सहायक है। किसी भी समाज का अस्तित्व सन्तानोत्पादक पर निर्भर है। व्यक्ति जन्म लेते हैं और मरते हैं। मरने वालों का स्थान जन्म लेने वाले लेते रहते हैं। इस प्रकार परिवार एवं समाज की निरन्तरता का क्रम चलता रहता है। समाजशास्त्रियों का कहना है कि विभेदीकरण समाज के विकास का परिचायक है। परनतु यदि समाज में भेद ही भेद हों और इन्हें समानता तथा विभिन्नता के आधार पर जन्मी एकता द्वारा विजित न किया जाय तो समाज में संघर्श के अलावा कुछ न बचेगा। दुर्खीम आदिम समाज को यांत्रिक एकता द्वारा ओर सावयवी एकता द्वारा विभेदीकृत समाज (आधुनिक समाज) को बंधा हुआ मानते हैं। विभिन्नता पारस्परिकता की जननी है। विभिन्नता पारस्परिक एकता को जनम देकर समाज में सहयोग की भावना पैदा करती है। विभिन्नता से प्रतियोगिता का जन्म होता है। यदि समाज में सभी पद एक जैसे हों, समान प्रतिष्ठा एवं महत्व वाले हों, और समान प्रयास से प्राप्त हो सकते हों तो प्रतियोगिता के लिये स्थान न बचेगा। हाँ, यदि पदों की संख्या पाने वालों की संख्या से काफी कम है तो प्रतियोगिता होगी क्योंकि कुछ लोग पदों को न पा सकेंगे।

4.4.1 भौगोलिक अनेकता

भारत एक ऐसा देश है जिसकी भौगोलिक बनावट रंग-बिरंगी है-अनेकता सूचक है—जलवायु ऋतुओं, मिट्टी, वर्षा, पैदावार, भौतिक नावट, नदियों आदि की अनेकता (भिन्नता) यहाँ विद्यमान है। जाड़ा, गर्मी और बरसात तीन प्रमुख ऋतुयें हैं जायद, रबी, खरीफ तीन फसलें उगायी जाती हैं। कभी शुष्क हवाएं चलती हैं, कभी उनमें नमी होती हैं और कभी कंपा देने वाली हवाएं चलती हैं। कहीं पठार है कहीं जंगल है, कहीं मरूस्थल है तो कहीं समतल और उपजाऊ जमीन है। कहीं का जल खारा अथवा कठोर है और हीं का जल मृदु है। कंकरीली पथरीली, ऊँची-नीची, ऊसर (बंजर) और उपजाऊ, बलुई और रेतीली जमीनें हैं। ऋजु परिवर्तन के साथ वस्त्रों एवं रहन-सहन में परिवर्तन होता रहता है।

4.4.2 प्रजातीय भिन्नता

भारती की प्रजातीय रचना का आधार प्रजाती भिन्नता है। यहां एक ही प्रजाति के लोग नहीं रहते हैं। कई प्रजातियों के लोग भारत में निवास करते हैं। भारत में समय-समय पर अनेक प्रजातियों के लोग आते रहे हैं और यहां वसते रहे हैं जिससे उनमें मिश्रण भी हुआ है। और यहां किसी भी प्रजाति का शुद्ध स्वरूप नहीं मिल पाता। प्रजाति वर्गीकरण-रिजले ने भारत में पाई जाने वाली जातियों को तीन वर्गों में रखा है।

NIOC-18

(अ) द्रविडियन (ब) इण्डो आर्यन और (स) मंगोलियन

इन तीनों के मिश्रण सेबनी तीन मिश्रित प्रजातियों का उल्लेख भी आप ने किया है।

1. मंगोला द्रविडियन
2. आर्यो-द्रविडियन और
3. साथो द्रविडियन

आज कल उत्तर प्रदेश में आर्यो द्रविडियन, बंगाल में मंगोलों द्रविडियन और महाराष्ट्र में सीथो द्रविड़ियन मिश्रित प्रजातियाँ पायी जाती हैं।

4.4.3 सांस्कृतिक भिन्नता

भारत की संस्कृति भी बहुरंगी है। कई संस्कृतियों के दर्शन भारतीय समाज में किये जा सकते हैं। भारत में भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी लोग रहते हैं। ये लोग कई क्षेत्रों में फैले हैं। जाति, विवाह, परिवार के आधार पर अनेकरूपता यहाँ की विशेषता है। घरों की बनावट, सजावट, रूढ़ियों, परम्पराओं और प्रथाओं के आधार पर भी वैभिन्य के दर्शन होते हैं। शासन प्रणाली में भी सरकारों के बदलने से अनेकत्व उत्पन्न होता है। हिन्दू, मुस्लिम, पारसी, ईसाई और यहूदी धर्म के मानने वाले यहां रह रहे हैं। हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, मलयालम, कन्नड़, तमिल, तेलगू, पंजाबी, गुजराती, उड़िया, मराठी आदि भाषाओं को बोलने वाले लोग रहते हैं। भारत में तीन हजार से ऊपर जातियाँ पाई जाती हैं, जातियों की संख्या में अनेकता का यह एक प्रमाण है। प्रतिष्ठा और सम्मान की दृष्टियों से भी जातियों में भिन्नता है। पवित्रता और पवित्रता के आधार पर भी जाति भेद यहाँ हैं।

भारत की संस्कृति विश्व की संस्कृतियों में विशिष्ट स्थान रखती है। सांस्कृतिक बहुलता इस संस्कृति की विशेषता है। भिन्न भारतीय तत्व भी इस संस्कृति में प्रवेश पा चुके हैं। संक्षेप में जाति, प्रजाति, भौगोलिक बनावट, भाषा, धर्म, ईश्वर परक, विश्वास, खान-पान, विवाह, रहन-सहन, वेश भूषा आदि की विभिन्नता यहां पर्याप्त मात्रा में देखी जा सकती है।

4.5 अनेकता में ऐक्यभाव

उक्त वर्णित विभिन्नता का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि भारतीय समाज एक खिरा हुआ समाज है। उसमें संगठन की कमी अथवा अभाव है। इन भिन्नताओं के एक सूत्र में पिरोने वाले तत्वों (एकता) की कमी नहीं है। इन नाना प्रकार के तत्वों में तालमेल, समस्वरता, समरसता पर्याप्त मात्रा में है जो भिन्नताओं को ढक लेती है। अनेकता में एकता के प्रत्ययय द्वारा भारतीय समाज में भिन्नता के मध्य व्याप्त एकता एवं संगठन का बोध कराया जाता है। भेदों के रहे हुये भी अभेद की स्थिति यहाँ है। *भेद केवल भाषित होते हैं पर अन्दरूनी एकता है।* एकता प्रदान करने वाला प्रथम तत्व है भारतीयता अथवा राष्ट्रीयता। चाहे कितने भेद हों यहां के निवासियों में पर राष्ट्रीयता अथवा भारतीयता उन्हें एकता के सूत्र में बांधने का कार्य करती है। भारत के रहने वाले सभी तिरंगा ध्वज के सामने नतमस्तक हैं। उदाहरण के लिये बाहरी आक्रमण के समय भिन्न-भिन्न धर्मों को मानेनवाले, विभिन्न विचारधाराओं एवं

विश्वासों के पोषक व्यक्ति समस्त भेदों को भुलाकर एक हो जाते हैं। संगठित अथवा एक होकर बाहरी आक्रमण का मुकाबला करते हैं। पाकिस्तान एवं चीन से हुये युद्ध के समय हमने इस एकता का परिचय दिया है तमिल और बिहार के निवासी सांस्कृतिक दृष्टि से भिन्न हैं। पर देश के बाहर जब वे मिलते हैं तो उनमें इतनी आत्मीयता इस आधार पर उमड़ती है कि वे एक देश हैं और इस आधार पर संगठित अथवा एक दिखते हतैं। अत: राष्ट्रीयता अथवा भारतीयता भेदों को अभेद में परिवर्तित करती हैं। एकता लाने वाला दूसरा तत्व उदारता है। उदारता भिन्न-भिन्न लोगों को अपनी भिन्नताओं को बनाये रखने हुये साथ-साथ रहने का अवसर प्रदान करती है। उदारता भिन्न धाराओं में बहने वाले लोगों को एकता के सूत्र मे पिरोने की शक्ति रखती है। उदारता समनवय की भावना को जन्म देती है, सहनशीलता को उत्पन्न करती है। सहनशीलता अन्तरों के रहते हुये भी लोगों में एकजुटता का भाव पैदा करती है। समन्वय तीसरा तत्व है, जो भिन्नता को एकता का स्वरूप प्रदान करती है। सामान्यता (सामान्य तत्वों) के आधार पर भी हम संगठित होते हैं। अत: सामान्यता एकता उत्पन्न करने वाला चौथा तत्व है। कर्म के सिद्धान्त, पुनर्जन्म और मोक्ष जैसे सामान्य तत्वों के आधार पर सभी हिन्दू एक हैं। बौद्ध और जैन लोग भी जो नास्तिक हैं उक्त सामान्य तत्वों में विश्वास रखते हतैं। इस तरह उक्त सामान्य तत्व सभी हिन्दुओं में एकता का भाव पैदा करते हैं। जैसे एक सूत्र में पिरोए हुये मूंगे अलग-अलग होते हुये भी अलग अस्तित्व नहीं रखते हैं वैसे ही भिन्न-भिन्न तत्व एकता वर्धक तत्वों (एक सूत्र में बांधने वाले तत्वों) की उपस्थिति में अपना अस्तित्व खो देते हैं। समन्वय का गुण भारतीय समाज की अनुपम देन है। सबको एक में समेटने का अच्दा प्रयास यहां देखने को मिलता है। भारतीय संघर्ष से दूर रहना चाहता है। और इसलिये समन्वय का मार्ग चुनता है। संघर्ष से बचकर हिन्दुओं ने अपनी संस्कृति की रक्षा कर ली जबकि संघर्ष में फंसकर विश्व की अनेक संस्कृतियाँ जन्म लेकर लुप्त हो गई। संघर्ष की जगह हमने प्रेम, आत्मीयता और भाईचारे की भावना को अपनाया जिससे हमारी संस्कृति हजारों वर्षों का आघात सहते हुये आज भी बनी है। *व्यार से संबंध बनते हैं* और रार से बिगड़ते हैं "रार ठानेंगे नहीं और हार मानेंगे नहीं' इस सिद्धान्त से यही बात सिद्ध होती है कि प्यार वश में करने का अथवा जीत का सर्वोत्तम उपाय है। प्यार से बात बनती है और घृणा से बिगड़ती है।

समभाव एवं समझौता भाव

भिन्न और विरोधी तत्वों की एक सूत्र में बांधने स बिखराव का डर बना रहता है और कभी कभी असंगठन की स्थिति भी उभर सकती है। इन कठिनाइयों के बाद भी समभाव द्वारा सर्वसमावेशन के कार्य में हमें काफी सफलता मिली है। *समभाव वास्तव में भेदों को मिटाने में सर्वाधिक सक्षम* है। गीता में इसे समत्व बुद्धि कहा गया है। जिस व्यकित में समभाव जाग्रत हो जाता है उसे मान मिलने पर प्रसन्नता नहीं होती है और अपमान की स्थिति में दु:ख नहीं होता है। यह भेदों में भी अभेद की स्थिति है। जब भेद अभेद में बदल जाय तो इसका सहज परिणाम एकता ही है।

आर्य-अनार्य संस्कृति के संगम से समनवय का आरम्भ हुआ। अनार्य संस्कृति की बहुत सी बातों को आर्यों ने अपनी संस्कृति में लपेट लिया। जैसे अनार्यों को शूद्र बनाकर अपना बना

लिया। इस परभी जो शेष रह गये उन्हें पंचम वर्ण में स्थान देकर अपना लिया। पहले तीन पुरुषार्थ थे और तीन ही आश्रम थे, क्योंकि आर्य वैराग्य पंथी नहीं थे। प्रागार्यों, बौद्धों एवं जैनियों की वैराग्य वृत्ति को आर्य संसकृति में स्थान देने के लिये मोक्ष को चौथा पुरुषार्थ एवं संन्यास को चौथा आश्रम बना लिया। भगवान शिव जो प्रागार्य देता कहे जाते हैं उन्हें अपने देवगण में सम्मिलित ही नहीं किया बल्कि उन्हें देवाधिदेव के रूप में प्रतिष्ठित किया। आर्यों में जो वृक्षों और जन्तुओं की पूजा होती है। सम्भवत: उन्होंने अनार्यों से ही ग्रहण किया है। सर्पों की पूजा के लिये नाग पंचमी का त्योहार है पीपल और बरगद की पूजा हिन्दूओं में आज भी होती है। जादू-टोना और पूजा पाठ जैसे अनार्य तत्वों को आर्यों ने स्वीकार कर लिया। प्रागार्य टोटेमिक समूह जिन पशुओं, जन्तुओं और पक्षियों को पूज्य समझते थे आर्यों ने उन्हें संस्कृति में मिलाने के लिये उन्हें अपने देवताओं का वाहन बना लिया। बैल शिव का वाहन है। चूहा गणेश जी की सवारी है। गरूण पक्षी विष्णु का वाहन बना लिया गया। भैंसा का यमराज की सवारी मान लिया गया। हंस सरस्वती जी का वाहन है। दुर्गा जी के वाहन के रूप में शेर की प्रतिष्ठा है।

मुसलमानों के आगमन के पूर्व भारत देश में धार्मिक सांस्कृतिक क्षेत्र में जो कार्य होते थे उन्हतें हिन्दू कार्य माना जाता था। मुसलमान और ईसाई जब यहाँ आये तो जिस प्रकार अनार्यों से *समन्वय और समझौता* का प्रयास हिन्दुओं ने किया था उसी तरह मुसलमानों और ईसाइयों से भी समझाता करने की कोशिश की और अपनी उदार भावना से उन्हे प्रभावित करने का पूर्ण प्रयास किया परन्तु खेद है कि हिन्दुओं को इस प्रयास में सफलता नहीं मिल पाई। कारण यह था कि मुसलमानो और ईसाइयों का धार्मिक संगठन सबल था। दूसरे से शासक थे। उक्त दोनां कारणों से जो समन्वय हुआ वह मिश्रण बनकर रह गया। और हिन्दू मुसलमानों एवं ईसाइयों की धार्मिक सांस्कृतिक बातों को बचा नहीं पाये। हिन्दुओं की इस उदारता का प्रभाव कुछ मुसलमानों पर अवश्य पड़ा जिससे वे हिन्दू देवी-देवताओं की भक्ति में कविता लिखने लगे जैसे रसखान और रहीम आदि।

4.6 सारांश

हिन्दुत्व के रिचय एवं अर्थ को बताते हुये उसके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष की जानकारी दी गयी। तत्पश्चात् हिन्दुत्व की समस्त मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया। इसी तारतम्य में अनेकतामें एकता के भाव को स्पष्ट किया गया। अनेकता के बिन्दुओं को बतला कर एकता लाने वाले तत्वों पर प्रकाश डाला गया।

4.7 सहायक पुस्तकें/सन्दभ्र ग्रन्थ

1. मिश्र, विद्या निवास, हिन्दू धर्म जीवन में सनातन की खोज, 1979, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली।
2. स्वामी विवेकानन्द, हिन्दू धर्म अठारहवाँ संस्करण, राधाकृष्ण मठ, नागपुर
3. एस० राधाकृष्णन, द हिन्दू व्यू आव् लाइफ, 1961, अनविन बुक्स

4. सेगल रोनाल्ड, द क्राइसिस आव् इण्डिया, 1968 जयको पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे

5. स्वामी विवेकानन्द, इंशेन्शियल्स आव् हिन्दुयिज्म'

6. कुमार स्वामी, ए० के०, हिन्दुयिज्म एण्ड बुद्धिज्म,

4.8 प्रश्नोत्तर

लघु उत्तरीय

1. हिन्दुत्व से आप क्या समझते हैं?
2. सृष्ट के विषय में हिन्दू विचार स्पष्ट कीजिये।
3. ब्रह्म की धारणा पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।
4. मानस और आत्मा में अन्तर बताइये।
5. मुक्ति का आशय स्पष्ट कीजिये।
6. हिन्दुओं में मूर्तिपूजा की विवेचना कीजिये।

दीर्घउत्तरीय

1. योग का अर्थ बताइये। राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञान योग पर सम्यक प्रकाश डालिये।
2. अनेकता में एकता से क्या समझते हो। एकता लाने वाले तत्वों पर प्रकाश डालिये।
3. सृष्टि, ईश्वर और आत्मा के विषय में हिन्दू विचारों पर प्रकाश डालिये।

वस्तुनिष्ठ

1. एकता लाने वाले चार तत्वों के नाम बताइये।
2. चार योगों के नाम लिखों।
3. पांच महायज्ञों के नाम बताओ।
4. चार ऋण कौन से हैं?
5. त्रिमूर्ति में कौन-कौन देवता शामिल हैं उनके नाम लिखो।

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये।

1. क्रिएशन को .....कहना अधिक तर्क संगत लगता है।
2. अंग्रेजी के गाड शब्द के लिये .....शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त माना जाता है।
3. .....और .....मानों दो रेखाएं हैं, जिनका न आदि है और न अन्त और जो समानान्तर है।
4. जीवन की शर्त .....है।
5. ब्रह्म को समझने के लिये .....का ज्ञान आवश्यक है।

6. मानस .....शरीर हैं।

7. यह पृथ्वी .....है।

8. ईश्वर के सान्निध्य के बिना कोई स्वग.....नहीं है।

9. मूर्तियाँ मानों वे .....हैं जिनमें धार्मिक भाव लटकाये जाते हैं।

10. वह व्यक्ति जिसकी आत्मा से अन्त:प्रेरणा उभरी जाती है वह .....है।

11. वह व्यक्ति जिसकी आत्मा तक अन्त:प्रेरणा ले जायी जाती है वह .....है।

खण्ड

2

विवाह एवं परिवार

इकाई 5

हिन्दू विवाह एवं तत्सम्बन्धी सामाजिक विधान

इकाई 6

मुस्लिम – इसाई और जनजातीय विवाह एवम् परिवार

इकाई 7

संयुक्त परिवार : संरचना, प्रकाग्र, उपादेयता, परिवर्तन एवं कारक

इकाई 8

विवाह एवं परिवार में परिवर्तन

संदर्भ ग्रन्थ सूची

NMDC-102

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो के.पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.एन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ल, कुलसचिव	सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो० सी.एस. एस. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
आचार्य एवं अध्यक्ष, समाज शास्त्र विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

प्रो. जयकान्त तिवारी — विषय विशेषज्ञ
आचार्य समाजशास्त्र विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रो. वी. के. पंत — सम्पादक
सेवा निवृत्त आचार्य एवं अध्यक्ष , समाज शास्त्र विभाग
(कुमायुँ विश्वविद्यालय, नैनीताल) लखनऊ

MASY-104 : – *भारतीय समाज : निरन्तरता एवं परिवर्तन*

लेखक मण्डल :

खण्ड एक :	**डॉ. जे. पी. मिश्र**, जे. एन. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
	डॉ. ए. एस. तिवारी, सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
खण्ड दो :	**डॉ. रश्मि त्रिवेदी**, रीडर, आर.बी.डी. स्नातकोत्तर महिला विद्यालय, बिजनौर	1 इकाई
	डॉ. ए. एस. तिवारी, सेवानिवृत्त रीडर, लखनऊ	2 इकाई
	डॉ. ए. के. सिंह, डी.ए.वी.पी.जी.कालेज, कानपुर	1 इकाई
खण्ड तीन :	**डॉ. अंशु केडिया**, ए.पी.सेन मेमो.पी.जी.कालेज, लखनऊ	4 इकाई
खण्ड चार :	**डॉ. अमरेश चन्द्र शुक्ला**, सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. रश्मि त्रिवेदी, रीडर, आर.बी.डी.स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिजनार	3 इकाई
खण्ड पाँच :	**डॉ. ए. एस.तिवारी**, सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. डी.पी.बाजपेयी, सेवानिवृत आचार्य, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. जे.पी.मिश्र, जे.एन. स्नातकोत्तर महा. विद्यालय, लखनऊ	2 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित. इस कार्य का कोई भी अंश उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

खण्ड - 2 : खण्ड परिचय - विवाह एवं परिवार

इस खण्ड में हिन्दू, मुस्लिम , ईसाई एवं जनजातीय विवाह एवं परिवार की संरचना, प्रकार्या, उपादेयता एवं परिवर्तन पर प्रकाश डाला गया है। इसमें चार इकाइयाँ हैं। **पहली इकाई का** शीर्षक है ''हिन्दू विवाह एवम् तत्सम्बन्धी सामाजिक विधान'' है। इसमें हिन्दू विवाह के विभिन्न पक्षों को विस्तृत धारणा की गई है। हिन्दू विवाह की अवधारणा, धार्मिक संस्कार के रूप में उसकी स्थापना को स्पष्ट किया गया है। हिन्दू विवाह के उद्देश्यों, आदर्शों, परम्परागत स्वरूपां, विवाह के नियमों एवं समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। **इकाई दो** का शीर्षक है ''मुस्लिम, ईसाई एवं जनजातीय विवाह एवं परिवार'' है अध्ययन की सुविधा के लिए इकाई दो को तीन वर्गों में बाटा गया है। 1 वर्ग में मुस्लिम परिवार एवं विवाह विधि को स्पष्ट किया गया है। मुस्लिम परिवार की विशेषताओं एवं संस्कारों का परिचय दिया गया है। 2 वर्ग में ईसाई परिवार एवं विवाह की विधि को स्पष्ट किया गया है। 3 वर्ग में जनजातीय परिवार एवं विवाह को स्पष्ट किया गया है। **ईकाई तीन** का शीर्षक है ''संयुक्त परिवार: अवधारणा, विशेषताएं, उपादेयता, परिवर्तन के कारक'' हैं। इसमें संयुक्त परिवार की अवधारणा और परिभाषा को स्पष्ट किया गया है। संयुक्त परिवार के प्रकर्यों एवं दोषों का चित्रण किया गया है। संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारणों की व्याख्या की गई है। तथा संयुक्त परिवार में संरचनात्मक एवं अन्त: क्रियात्मक परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है। **ईकाई चार** का शीर्षक है ''विवाह एवं परिवार में परिवर्तन'' है । इसमें परिवार में संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक परिवर्तन को स्पष्ट किया गया है। हिन्दू, मुस्लिम एवं ईसाई परिवार में परिवर्तन का चित्रण किया गया है। पारिवारिक विघटन की प्रकृति एवं परिवार में हुए आधुनिक परिवर्तनों के कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

NMDC-102

इकाई 5 हिन्दू विवाह एवम् तत्सम्बन्धी सामाजिक विधान

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 हिन्दू विवाह की अवधारणा

5.3 हिन्दू विवाह-एक धार्मिक संस्कार

5.4 हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार मानने के कारण

5.4.1 धार्मिक विधि-विधानों का समावेश

5.4.2 मोक्ष प्राप्ति का साधन

5.4.3 धार्मिक कर्तव्यों का पालन

5.4.4 पतिव्रत्य और सतीत्व की धारणाएँ

5.4.5 वेद मन्त्रों का उच्चारण

5.4.6 परमपिता द्वारा निर्धारण सम्बन्धी मान्यता।

5.4.7 पत्नी के सम्बोधक शब्द

5.4.8 धार्मिक आदेशों एवं निषेधों का महत्व।

5.4.9 विवाह पवित्र बन्धन एवं स्वर्ग का द्वार।

5.5 हिन्दू विवाह के उद्देश्य अथवा आदर्श

5.5.1 धर्म शास्त्रों में वर्णित हिनदू विवाह के उद्देश्य या आदर्श

5.5.1.1 धर्म

5.5.1.2 प्रजा

5.5.1.3 रति

5.5.2. अन्य उद्देश्य या आदर्श

5.5.2.1 परिवार के सदस्यों के प्रति कर्तव्य पालन

5.5.2.2 संस्कृति की निरन्तरता

5.5.2.3 सामाजिक जीवन की निरन्तरता

5.5.2.4 व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास

5.6 हिन्दू विवाह के स्वरूप : परम्परागत एवं आधुनिक

5.6.1 परम्परागत स्वरूप

5.6.1.1 ब्राह्म विवाह

5.6.1.2 दैव विवाह

5.6.1.3 आर्ष विवाह

5.6.1.4 प्रजापत्य विवाह

5.6.1.5 असुर विवाह

5.6.1.6 गान्धर्व विवाह

5.6.1.7 राक्षस विवाह

5.6.1.8 पैशाच विवाह

5.6.2 आधुनिक स्वरूप

5.6.2.1 ब्रह्म विवाह

5.6.2.2 आसुर विवाह

5.7 हिन्दू विवाह के नियम अथवा जीवन साथी के चुनाव का क्षेत्र

5.7.1 अन्तर्विवाह

5.7.2 बहिर्विवाह

5.7.2.1 सगोत्र बहिर्विवाह

5.7.2.2 प्रवर बहिर्विवाह

5.7.2.3 सपिण्ड बहिर्विवाह

5.7.3 अनुलोम विवाह

5.7.4 प्रतिलोम विवाह

5.8 हिन्दू विवाह सम्बन्धी सामाजिक विधान

5.8.1 ब्रिटिशकाल में बने सामाजिक विधान

5.8.1.1 हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856

5.8.1.2 बाल विवाह निग्रह अधिनियम, 1929

5.8.1.3 हिन्दू विाह निर्योग्यता निवारक अधिनियम, 1946

5.8.2 स्वतन्त्र भारत में सामाजिक विधान

5.8.2.1 हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम, 1949

5.8.2.2 विशेष विवाह अधिनियम 1954

5.8.2.3 हिन्दू विवाह अधिनियम 1955

5.8.2.4 दहेज निरोधक अधिनियम, 1961

5.9 हिन्दू विवाह संस्था पर सामाजिक विधानों का प्रभाव एवं आधुनिक परिवर्तन

NMDC-102

5.10 सारांश
5.11 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई-1 के अन्तर्गत आप हिन्दू विवाह के विभिन्न पहलुओं की विस्तृत व्याख्या एवं तत्सम्बन्धी सामाजिक विधानों तथा उनके इस संस्था पर पड़ने वाले प्रभावों से परिचित हो सकेंगे। इसे पढ़ने के बाद आप—

* हिन्दू विवाह की अवधारणा को समझ सकेंगे;

* हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार के रूप में स्वीकार किये जाने के कारणों से परिचित हो सकेंगे।

* हिन्दू विवाह के उद्देश्यों, आदर्शों, परम्परागत स्वरूपों, विवाह के नियमों एवं समस्याओं पर प्रकाश डाल सकेंगे।

* हिन्दू विवाह सम्बन्धी विभिन्न सामाजिक विधानों का उल्लेख कर सकेंगे तथा साथ ही विवाह संस्था पर पड़ने वाले प्रभावों/होने वाले परिवर्तनों को भी समझ सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई हिन्दू विवाह के विवेचनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। इस इकाई में भारतीय समाज की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था हिन्दू विवाह के विभिन्न पहलुओं को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। सर्वप्रथम हिन्दू विवाह की अवधारणा एवं उद्देश्यों का वर्णन किया गया है ताकि आप सम्पूर्ण विवेचना को सरलतापूर्वक समझ सके। प्रत्येक समाज में विवाह सामाजिक व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है और विवाह के आधार पर ही समाज की प्रारम्भिक इकाई परिवार का निर्माण होता है। समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से स्त्री-पुरुष की यौन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये, उसे एक निश्चित प्रणाली के अन्तर्गत नियन्त्रित करने तथा उसे स्थिर रखने और परिवार को एक स्थायी रूप देने के लिये विवाह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है जो परिवार का आधार है और बच्चों के जन्म व पालन-पोषण तथा आर्थिक सहकारिता व सामाजिक उत्तरदायित्व की नींव रखता है।

व्यक्तिगत दृष्टिकोण से विवाह की आवश्यकता यौन सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति, सन्तान प्राप्ति की स्वाभाविक इच्छा तथा मानसिक संवेगात्मक संतुष्टि है, वहीं सामाजिक दृष्टिकोण से विवाह का महत्व बच्चों को जन्म देना और उसके द्वारा समाज की निरन्तरता बनाए रखना है।

परम्परागत आधार पर भारतीय समाज में हिन्दू विवाह की एक विशिष्ट प्रकृति एवं धार्मिक आधार है। इसी दृष्टि से इस इकाई में हिन्दू विवाह के परम्परागत आधारों का उल्लेख किया जाएगा। परन्तु समय-समय पर बने सामाजिक विधानों ने हिन्दू विवाह की प्रकृति को प्रभावित किया है और उसमें अनेक परिवर्तन आए हैं। प्रस्तुत इकाई में इस पक्ष की भी विस्तृत चर्चा की जाएगी।

MDD202

इस इकाई में दिये गये विवरण को बोधगम्य बनाने का प्रयास किया गया है, ताकि आप अभ्यास, मेहनत व लगन से इसे समझ कर परीक्षा की अच्छी तैयारी कर सकें।

5.2 हिन्दू विवाह की अवधारणा

विवाह का अर्थ है दो विपरीत लिंगियों के मध्य पाये जाने वाले यौन सम्बन्धों को संस्थागत रूप प्रदान करना तथा प्रथा या कानून की मान्यता प्राप्त करना, किन्तु विवाह की यह परिभाषा हिन्दू विवाह को पूरी तरह स्पष्ट नहीं करती।

हिन्दू विवाह को सामान्यत: एक धार्मिक संस्कार के रूप में स्वीकार किया जाता है। डॉ० के० एम० कपाड़िया ने अपनी पुस्तक 'मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया' में लिखा है कि 'विवाह प्राथमिक रूप से कर्तव्यों की पूर्ति के लिए होता है, इसलिये विवाह का आधारभूत उद्देश्य धर्म था।' (डॉ० के० एम० कपाड़िया : मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, पेज 168)

इस प्रकार हिन्दुओं में विवाह न तो एक मित्रतापूर्ण समझौते के रूप में समझा जा सकता है, न ही संविदा के रूप में और न ही केवल यौन सम्बन्धों की पूर्ति के लिए किये गये बन्धन के रूप में।

हिन्दुओं में गृहस्थ आश्रम को स्वर्ग के तुल्य माना जाता है। धार्मिक कार्यों की पूर्ति, संस्कारों की पूर्ति, पितृ ऋण से मुक्ति-पुरूषार्थ के अनुसार जीवन लक्ष्य की प्राप्ति एवं स्थायित्व आदि के लिये हिन्दू व्यक्ति विवाह करते हैं। मनु ने "मनुस्मृति" में लिखा है कि "माँ बनने के लिये ही स्त्रियों की उत्पत्ति हुई है एवं पिता बनने के लिए पुरुषों की, इसलिये वे आदेश देते हैं कि पुरुषों को अपनी पत्नी के साथ ही धार्मिक कार्य सम्पन्न करने चाहिये।" (मनुस्मृति, 9/96)

धर्म, प्रजा और रति के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु धार्मिक कृत्यों द्वारा सम्पन्न एवं प्रथा द्वारा मान्य एक स्त्री व पुरुष का विधिवत् सम्बन्ध ही हिन्दू विवाह है।

5.3 हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार

हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है जो कि धर्म के निर्वाह के लिये किया जाता है, न कि आनन्द के लिए। यह कोई सामाजिक और कानूनी समझौता नहीं है। हिन्दू विवाह में किसी भी प्रकार की कोई कागजी कार्यवाही नहीं होती, वरन् इसके पूर्ण होने में कुछ धार्मिक विधि विधानों, जीवन के संस्कारों का इतना अधिक महत्व है कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त धर्मशास्त्रों में विभिन्न संस्कारों का विधान किया गया है। जीवन की शुद्धता के लिये किया गया विवाह संस्कार भी एक महत्वपूर्ण संस्कार है और इसी संस्कार के द्वारा हिन्दू व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार दिया जाता है। इसीलिए हिन्दू विवाह को गृहस्थाश्रम का प्रवेश द्वार भी कहा जाता है। इस नवीन जीवन में प्रवेश पाने के लिए संस्कार के रूप में कुछ धार्मिक कृत्यों अथवा अनुष्ठानों को करना पड़ता है और प्रत्येक स्तर पर परमपिता परमात्मा को साक्षी मान कर प्रतिज्ञायें की जाती हैं। इसीलिए हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार के नाम से सम्बोधित किया गया है।

गत कुछ दशकों में हिन्दू विवाह अनेक परिवर्तनों के बीच से गुजरा है; तो क्या यह अब भी पवित्र है या इसे भी एक समझौता माना जाये? हिन्दू विवाह में हुये महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हैं कि आज युवा वर्ग धार्मिक कृत्यों की पूर्ति के लिए विवाह नहीं करते, वरन् मित्रता के लिये करते हैं और विवाह बन्धन भी अब अटूट नहीं रह गये हैं। क्योंकि तलाक वैधानिक एवं सामाजिक मान्यता प्राप्त कर चुका है विद्वानों का मत है कि तलाक की अनुमति से विवाह की पवित्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है, क्योंकि तलाक अन्तिम उपाय के रूप में ही प्रयोग होता है न क पुनर्विवाह के रूप में। इसी प्रकार यद्यपि विधवा विवाह को मान्यता प्रदान कर दी गयी है किन्तु ऐसे विवाह विस्तृत रूप से प्रचलित नहीं है। परस्पर विश्वास तथा जीवन साथी के प्रति प्रतिबद्धता आज भी विवाह के मूल तत्व माने जाते हैं। जब तक विवाह केवल यौन संतुष्टि के उद्देश्य से ही नहीं किया जाता रहेगा, बल्कि साथ रहने तथा "संतान प्राप्ति" के लिये किया जोयगा, तब तक विवाह हिन्दुओं के लिये धार्मिक पवित्र संस्कार बना रहेगा। विवाह में स्वतन्त्रता (साथी के चुनाव की) विवाह में स्थायित्व को दृढ़ बनाती है न कि नष्ट करती है तथा वैवाहिक व्यवहार को शुद्ध बनाती है। कपाड़िया ने भी कहा है कि "विवाह अभी भी धार्मिक संस्कार के रूप में जारी है, केवल नैतिक स्तर ऊँचा उठा है। (डॉ० के० एम० कपाड़िया, मैरजि एण्ड फैमिली इन इण्डिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, देहली, 1996 एवं 1972)

5.4 हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार मानने के कारण

हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार मानने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं :

5.4.1 धार्मिक विधि विधानों का समावेश—हिन्दू विवाह पद्धति में कुछ ऐसे धार्मिक विधि-विधान अथवा कृत्य सम्मिलित हैं जिनको पूरा किये बिना विवाह को पूर्ण नहीं माना जाता है। जैसे—यज्ञ, पारिग्रहण और सप्तपदी। यज्ञ द्वारा अग्नि देवता को लाई, जौ, खीलें, मिष्ठान आदि की आहुतियाँ दी जाती हैं और मन्त्रों का उच्चारण करते हुये भावी वैवाहिक जीवन के प्रति आस्था व्यक्त की जाती है। पारिग्रहण के अन्तर्गत कन्या का दान वर को दिया जाता है और वर इस दान को ग्रहण करता है। कन्यादान भगवान को साक्षी मानकर मन्त्रों के उच्चारण द्वारा सम्पन्न किया जाता है। सप्तपदी की क्रिया में वर वधू गांठ बांधकर अग्नि देवता के चारों ओर सात कदम चलते हैं जिसका अभिप्राय होता है कि जीवन पर्यन्त वे परमपिता परमात्मा का स्मरण करते रहेंगे और इस सम्बन्ध को चिर स्थाई बनाये रखेंगे। इस प्रकार इन धार्मिक कृत्यों के आधार पर हिन्दू विवाह धार्मिक संस्कार हैं।

5.4.2 मोक्ष प्राप्ति का साधन—हिन्दू दर्शन के अनुसार जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु जीवन को चार आश्रमों में बांट दिया गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संयास आश्रम। इन विभिन्न आश्रमों के द्वारा हिन्दू जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने पर बल दिया गया है। गृहस्थ आश्रम में व्यक्ति अपने धर्म अथवा कर्तव्यों का पालन करते हुये अर्थ और काम को प्राप्त होता है। अर्थ का अभिप्राय धन के अर्जन से है और काम का अभिप्राय लैंगिक एवं अन्य मानवीय सुखों से है। गृहस्थ आश्रम के उपरान्त व्यक्ति वानप्रस्थ में प्रवेश करता है और

NMDC-102

इस आश्रम में वह अपना सारा समय ईश्वर आराधना आदि में लगा देता है सन्यास में वह अपने निवास स्थान को छोड़कर विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करता है और सभी को एक समान समझते हुये मोक्ष प्राप्ति की दिशा में प्रयत्नशील रहता है। आश्रम शब्द स्वयं एक पवित्र व ऊँची भावना है और प्रत्येक आश्रम अपने आप में एक धर्म है। गृहस्थ आश्रम जो कि हिन्दू स्मृतिकारों के अनुसार धर्मानुकूल है और इसमें प्रवेश धर्मानुकूल है, जो विवाह के द्वारा ही होता है। इस प्रकार व्यक्ति अपने नये जीवन अथवा गृहस्थ आश्रम में धर्म का पालन करते हुये विवाह की संस्था द्वारा प्रवेश करता है। ऐसी स्थिति में हिन्दू विवाह की धार्मिक संस्कारिता स्वत: स्पष्ट हो जाती है।

5.4.3 धार्मिक कर्तव्यों का पालन—हिन्दू विवाह इस अर्थ में धार्मिक संस्कार है, क्योंकि इसका प्रमुख उद्देश्य मात्र सन्तान उत्पन्न करना या यौन इच्छाओं की तृप्ति नहीं है वरन् धार्मिक कर्तव्यों का पालन करना है। वास्तव में हिन्दू विवाह का प्राथमिक आदर्श यही है कि पति व पत्नी दोनों सम्मिलित रूप से धार्मिक कर्तव्यों का पालन करते हुये पांच महायज्ञों ब्रह्म-यज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, देव यज्ञ और अतिथि यज्ञ को पूरा करें।

5.4.4 पतिव्रत्य और सतीत्व की धारणायें—पतिव्रत्य का अर्थ है कि स्त्री-विवाह हो जाने के बाद किसी अन्य पुरुष का विचार न करें, चाहे पति में कितनी ही कमियाँ क्यों न हों। इसी प्रकार सतीत्व इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि पत्नी अपनी स्वतंत्र सत्ता को पूर्ण रूप से पति में विलीन कर दे और पति को देवता तुल्य माने। हिन्दू धर्मशास्त्रों में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है कि स्त्री द्वारा पत्नी धर्म का पालन करने पर पृथ्वी के सब तीर्थ सम्पन्न हो जाते हैं और सती साध्वी स्त्री के चरणों की धूल द्वारा भूमण्डल शीघ्र ही पवित्र हो जाता है। प्रो० कपाड़िया ने इस सन्दर्भ में ठीक ही लिखा है, "जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलने के बाद अपनी स्वतन्त्र सत्ता छोड़ देती है, ठीक उसी प्रकार हिन्दू पत्नी से यह आशा की जाती है कि वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता का पति में विलीन कर दे और उसका जीवन का केवल यही आदर्श है कि वह देखे कि पति की सभी सेवायें उचित रूप से सम्पन्न होती है अथवा नहीं; क्योंकि पति की सन्तुष्टि ही पत्नी के जीवन का परम सुख है।" (प्रो० के० एम० कपाड़िया, मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया)।

5.4.5 वेद मन्त्रों का उच्चारण—विवाह के साथ वैदिक रीति-रिवाजों का पालन एवं वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। वेदों को हिन्दुओं में बहुत ही पवित्र माना जाता है और उनमें जो लिखा है—वे ईश्वर के मुख से निकले वाक्य माने जाते हैं। अत: वैदिक मन्त्रों का उच्चारण भी विवाह को धार्मिक संस्कार बनाते हैं।

5.4.6 परमपिता द्वारा निर्धारण सम्बन्धी मान्यता—हिन्दू धर्म शास्त्र इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि विवाह ईश्वरीय विधान है और ईश्वर अथवा परमपिता परमात्मा द्वारा निर्धारित संस्था है। इसलिए विवाह बन्धन को तोड़ने का अधिकार मनुष्य का नहीं है। वस्तुत: यह तो जन्म जन्मान्तर का नाता है इसे तो निभाना ही निभाना है, मृत्यु भी इस बन्धन को पृथक नहीं कर सकती। इस दृष्टि से भी हिन्दू विवाह धार्मिक संस्कार है।

5.4.7 पत्नी के सम्बोधक शब्द — हिन्दू पत्नी के जो सम्बोधक शब्द हैं उससे यह भी ध्वनि निकलती है कि पत्नी का विवाह काम तृप्ति के लिए नहीं वरन् धार्मिक संस्कारों की पूर्ति के लिए किया गया है। उदाहरणार्थ पत्नी को धर्म पत्नी, सह धर्मिणी आदि कहा जाता है । इन दोनों शब्दों का आशय है कि पत्नी पति के धर्म कार्यों में सहभागी है।

5.4.8 धार्मिक आदेशों एवं निषेधों का महत्व—हिन्दू विवाह के अन्तर्गत एक विवाहित दम्पत्ति के लिये अनेक धार्मिक कार्य करने के आदेश दिये गये हैं। जैसे विवाहित व्यक्ति के लिये प्रतिदिन पंच महायज्ञ करना, दान करना, अतिथि सत्कार करना, ईश्वर की पूजा पाठ करना आदि। दूसरी ओर विवाह से सम्बन्धित कुछ निषेध भी है, जैसे एक व्यक्ति को अपने गोत्र; प्रवर एवं सपिण्डों से तथा विजातीय लोगों से विवाह नहीं करना चाहिये। ऐसा करना अधार्मिक माना गया है।

5.4.9 विवाह पवित्र बन्धन एवं स्वर्ग का द्वार—हिन्दू विवाह इसलिये भी एक धार्मिक संस्कार है कि यह स्त्री पुरुष का अत्यन्त पवित्र और ईश्वर द्वारा निश्चित बन्धन माना जाता है। यह एक ऐसा पवित्र बन्धन है जो कल्पना में भी दूषित और त्याज्य नहीं माना जाता। इह लोक में ही नहीं, परलोक में भी पति-पत्नी का साथ माना जाता है। हिन्दू शास्त्रकारों और विश्वासों का यही निष्कर्ष है कि जब तक विवाह को धार्मिक स्वरूप नहीं दिया जायेगा तब तक पति-पत्नी में स्थाई सम्बन्धो का विकास नहीं हो सकता। हिन्दू धर्मशास्त्रों में विवाह को स्वर्ग का द्वार भी कहा गया है, क्योंकि धर्मशास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि अविवाहित ऋषियों और तपस्वियों को स्वर्ग प्राप्त नहीं हो सका है।

अत: स्पष्ट है कि हिन्दू विवाह मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण धार्मिक संस्कार है। यद्यपि आधुनिक हिन्दू कानून रचयिताओं ने हिन्दू विवाह को कुछ अंशों में समझौता या प्रसंविदा माना है, तथापि न्यायालयों ने इसे एक संस्कार के रूप में भी स्वीकार किया है। हिन्दू कानून के ग्रन्थों में भी कहा गया है कि "विवाह प्रत्येक हिन्दू के लिये, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो, एक आवश्यक संस्कार अथवा धार्मिक कृत्य है।" हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में भी हिन्दू विवाह की धार्मिक प्रकृति को अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया गया है। पी० एन० प्रभु ने लिखा है कि "हिन्दू के लिये विवाह एक संस्कार है तथा इस कारण विवाह सम्बन्ध में जुड़ने वाले पक्षों का सम्बनध संस्कार रूपी है न कि प्रसंविदा की प्रकृति का।" (पी० एन० प्रभु : हिन्दू सोशल ऑर्गेनाइजेशन, पेज 173)

5.5 हिन्दू विवाह के उद्देश्य अथवा आदर्श

हिन्दू धर्मशास्त्रों के निर्देशानुसार प्रत्येक माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों का विवाह उचित समय पर करे। प्रत्येक हिन्दू व्यक्ति के लिये विवाह अनिवार्य है और मोक्ष प्राप्ति का साधन है। विभिन्न धर्मशास्त्रों में विवाह की गरिमा, तत्वों व महत्व के बारे में उल्लेख मिलता है और इसमें विभिन्न आदर्शों या उद्देश्यों की भी चर्चा की गयी है। सामान्यतया हिन्दू विवाह के आदर्शों या उद्देश्यों को दो प्रमुख भागों में बांटा गया है : धर्मशास्त्रों में वर्णित हिन्दू विवाह के उद्देश्य तथा अन्य उद्देश्य।

NMDC-102

5.5.1 धर्मशास्त्रों में वर्णित हिन्दू विवाह के उद्देश्य—धर्मशास्त्रों में उल्लिखित हिन्दू विवाह के निम्नलिखित तीन उद्देश्य हैं—

5.5.1.1 धर्म—हिन्दू दर्शन के अनुसार विवाह का सबसे उत्तम एवं प्रमुख तत्व या उद्देश्य धर्म है। धर्म का अभिप्राय है पवित्रता व अनुशासन की भावना से कर्तव्यों का पालन करना। प्रत्येक हिन्दू पुरूष के जीवन में कुछ धार्मिक कर्तव्य होते हैं जो पत्नी के अभाव में पूरे नहीं किये जा सकते। इसलिये विवाह न केवल आवश्यक है वरनृ धार्मिक कृत्यों को निभाने के लिये अनिवार्य भी है। धर्म शास्त्रों के अनुसार स्त्री समस्त धार्मिक क्रियाओं का मूल कारण है। यही कारण था कि सीता की अनुपस्थिति में रामचन्द्र जी को यज्ञ के लिये उनकी सोने की प्रतिमा बनवानी पड़ी थी। डॉ० कपाड़िया ने लिखा है कि "हिन्दू विचारकों ने धर्म को विवाह का सर्वप्रथम उद्देश्य स्वीकार किया है। विवाह की इच्छा धार्मिक कृत्यों के द्वारा एक साथी प्राप्त करने के लिये की जाती थी। विवाह के समय यज्ञ की पवित्र अग्नि प्रज्वलित की जाती थी और गृह स्वामी का यह कर्तव्य हो जाता था कि वह पंच महायज्ञ में अपनी पत्नी के साथ नित्य आहुति प्रदान करे। इन उत्तरदायित्वों की समाप्ति गृह स्वामी की मृत्यु पर ही होती थी। पत्नी का देहान्त हो जाने पर इसमें व्यवधान पड़ जाता था और इसीलिए गृह स्वामी के लिये तुरन्त ही दूसरी पत्नी लाने का विधान था।" (डॉ० के० एम० कपाड़िया, पूर्व निर्दिष्ट, पृष्ठ 167)

5.5.1.2 प्रजा—प्रजा अथवा सन्तानोत्पत्ति विवाह का दूसरा उद्देश्य या तत्व है। सन्तान के द्वारा समाज की निरन्तरता बनी रहती है। विवाह के द्वारा परिवार में संतान उत्पन्न करने से पितृ ऋण चुकाया जाता था। हिन्दू व्यक्ति को अपने जीवन में तीन ऋणों को चुकाना होता है—पितृ ऋण, देव ऋण, ऋषि ऋण। इस प्रकार विवाह संस्था द्वारा संतान उत्पन्न करके पितृ ऋण को चुकायाजाता है। सम्भवतया इसीलिए ऋग्वेद में वर्णित पारिणग्रहण के मन्त्रों में वर-वधू से कहता है कि उत्तम सन्तान के लिये मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ।

5.5.1.3 रति—हिन्दू विवाह का तीसरा आधारभूत उद्देश्य रति अथवा यौन सम्बन्धी आनन्द का भोग करना है। परन्तु यह यौन सम्बन्ध समाज द्वारा मान्यता प्राप्त तरीके से निभाना है ताकि स्त्री-पुरुष का मानवीय संतुलन बना रहे, व्यक्तिगत आचरण दूषित न हो और समाज यौन अराजकता की स्थिति में न फंसे। यहाँ "रति आनन्द" का तात्पर्य वासना या व्याभिचार से न होकर धर्मानुकूल काम से है, जिसे तीसरे पुरुषार्थ में व्यक्ति के जीवन का महत्वपूर्ण लक्ष्य माना गया है। उपनिषदों में "रति आनन्द" को सबसे बड़े आनन्द के रूप में महत्व प्रदान किया गया है।

रति क्रिया धार्मिक कर्तव्यों के सम्पादन में सहयोगी है क्योंकि इससे संतान पैदा होती है जो विभिन्न धार्मिक संस्कारों को पूरा करने के लिये आवश्यक है। पुरुष पूर्ण बने, इसके लिये जरूरी है कि वह पत्नी और संतान पाये; और संतान तब पायेगा जब वह यौन क्रिया करेगा। स्पष्ट है कि हिन्दू विवाह में प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता और धार्मिक सामाजिक आवश्यकता का इतना सुन्दर सम्बन्ध रति आनन्द के माध्यम से स्थापित किया गया है जो सम्भवत: बेमिसाल है।

NMDC-102

उपनिषदों में रति को सबसे बड़ा आनन्द इसलिये कहा गया है कि यह एक ऐसा धार्मिक कर्तव्य है जिससे जीवनभर के अनेक धार्मिक संस्कारों की आधारशिला संतान के रूप में तैयार होती है और समाज की निरन्तरता बनी रहती है साथ ही स्वाभाविक प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता की पूर्ति इस ढंग से होती है कि स्त्री पुरुष का मानसिक संतुलन बना रहता है और समाज भी दूषित होने से बच जाता है। "सम्भोग" का इतने व्यवस्थित और आदर्श रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय विश्व में सम्भवत: केवल हिन्दू दर्शन को ही है।

5.5.2 अन्य उद्देश्य या आदर्श—धर्म शास्त्रों में वर्णित उपर्युक्त तीन उद्देश्यों के अतिरिक्त हिन्दू विवाह के कुछ अन्य उद्देश्यों का भी उल्लेख किया जा सकता है। ये निम्न हैं—

5.5.2.1 परिवार के सदस्यों के प्रति कर्तव्य पालन—हिन्दू विवाह का उद्देश्य धर्म, प्रजा और रति तक ही सीमित नहीं है वरन् सभी पारिवारिक सदस्यों के प्रति पति और पत्नी को सम्मिलित उत्तरदायित्व को पूरा करना है ताकि पारिवारिक वातावरण सुखी हो। वस्तुत: हिन्दू विवाह पारिवारिक उत्तरदायित्व को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करता रहता है।

5.5.2.2 संस्कृति की निरन्तरता—हिन्दू विवाह के द्वारा सांस्कृतिक तत्वों की निरन्तरता बनाये रखी जा सकती है। पति पत्नी इस उत्तरदायित्व को अपने ऊपर ले लेते हैं और सांस्कृतिक तत्वों को प्रथा, परम्परा, धर्म आदि के रूप में अपनी संतानों को देते रहते हैं। इस प्रकार सांस्कृतिक जीवन की निरन्तरता बनी रहती है।

5.5.2.3 सामाजिक जीवन की निरन्तरता—समाज अथवा वंश की निरन्तरता को बनाये रखने का महत्वपूर्ण कार्य भी हिन्दू विवाह के द्वारा सम्पन्न होता रहता है। विवाह की संस्था द्वारा उत्पन्न संतानें समाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मृत व्यक्तियों के रिक्त स्थानों की पूर्ति करती रहती है। अत: सामाजिक जीवन की निरन्तरता का उत्तरदायित्व भी हिन्दू विवाह के द्वारा सम्पन्न होता रहता है।

5.5.2.4 व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास—विवाह स्त्री व पुरुष के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिये भी जरूरी है। उसी मानव प्राणी को पूर्ण समझा जाता है जिसके पति अथवा पत्नी व बच्चे हों। इस प्रकार विवाह द्वारा स्त्री और पुरुष एक दूसरे की मानसिक शारीरिक व अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुये अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करते हैं और होने वाले बच्चों को भी उचित दिशा प्रदान करते हैं।

निष्कर्षत: हिन्दू विवाह के उद्देश्य एवं आदर्श महान हैं। हिन्दू विवाह अपनी आप में एक "जीवन दर्शन" हैं। यही धार्मिकता, पारिवारिकता, सामाजिकता सभी को अपने आंचल में समेटे हुए हैं। यह प्राणीशास्त्रीय, धार्मिक, व्यक्तिगत व सामाजिक उद्देश्यों का अद्‌भूत समन्वय हैं।

5.6 हिन्दू विवाह के स्वरूप : परम्परागत एवं आधुनिक

5.6.1 परम्परागत स्वरूप—हिन्दू विवाह के विभिन्न स्वरूपों अथवा प्रकारों का वर्णन मनु, नारद तथा याज्ञवलक्य की स्मृतियों में मिलता है। इसके अनुसार हिन्दू विवाह के आठ परम्परागत स्वरूप व प्रकार बताये गये हैं।

NMDC-102

5.6.1.1 ब्राह्म विवाह—इस विवाह में कन्या का पिता विद्वान, योग्य व चरित्रवान युवक वर ढूँढकर उसको अपने घर पर आदर-सहित आमंत्रित करता है और धार्मिक संस्कार द्वारा अपनी कन्या वर को दान करता है। इस विवाह के तीन प्रमुख अंग हैं—(1) माता-पिता की स्वीकृति (2) विवाह संस्कार तथा (3) दहेज का न देना। मनुस्मृति में लिखा है कि इस विवाह में कन्या को केवल एक वस्त्र से अलंकृत करके उसका दान किया जाता है। यह विवाह, विवाह के अन्य प्रकारों अथवा स्वरूपों में श्रेष्ठ माना जाता है।

5.6.1.2 दैव विवाह—इस विवाह में कन्या का पिता एक विस्तृत यज्ञ की व्यवस्था करता है। इस यज्ञ के लिये बड़े-बड़े विद्वानों और योग्य विद्वान युवकों को आमंत्रित किया जाता है। कन्या को वस्त्रों तथा आभूषणों से अलंकृत करके उसे योग्य व विद्वान युवक को सौंप दिया जाता है। वस्तुतः विस्तृत यज्ञ करने में कुशल पुरोहित को अलंकार युक्त कन्या देना ही "दैव विवाह" कहलाता है। इस विवाह का प्राचीन काल में प्रचलन अधिक था।

5.6.1.3 आर्ष विवाह—इस विवाह में कन्या का पिता वर से एक गाय तथा एक बैल या दो गाय तथा दो बैल लेकर कन्या का वर के साथ विवाह सम्पन्न कर देता है। कुछ विचारकों का कहना है कि यह विवाह आदिवासियों के क्रय विवाह से मिलता जुलता है, परन्तु इस विवाह में रस्म के तौर पर इतना कम लिया जाता है कि इसे क्रय विवाह कहना अनुचित होगा। वास्तव में इस विवाह का सम्बन्ध ऋषि लोगों से है, क्योंकि ऋषि लोग विवाह के सम्बन्ध में उदासीन रहा करते थे। इस विवाह में जो शर्त रखी गयी है, वह इस बात की परिचायक है कि व्यक्ति ने गृहस्थ जीवन अपनाना स्वीकार कर लिया है।

5.6.1.4 प्रजापत्य विवाह—ब्राह्म विवाह की भाँति इस विवाह में भी किसी प्रकार की टीप टाप या दिखावट नहीं की जाती है। इस विवाह में कोई उत्सव भी नहीं रचा जाता, बल्कि वर और कन्या को यज्ञ शाला में बैठाकर साथ-साथ धर्म सहित जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया जाता है। इस विवाह में प्रजा अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने को प्राथमिकता दी जाती है और ऐसा ही उपदेश दिया जाता है।

5.6.1.5 असुर विवाह—इस विवाह में वर-कन्या के पिता या कुटुम्बियों को धन देकर कन्या को प्राप्त करता है। यह एक प्रकार से कन्या विक्रय है हिन्दू समाज की निम्न जातियों में आज भी इस प्रकार का विवाह होता है।

5.6.1.6 गन्धर्व विवाह—यह विवाह आजकल के प्रेम विवाह के समान हैं। जब वर व कन्या बिना विवाह संस्कार के एक दूसरे की इच्छा पूर्वक सम्भोग करने लगते हैं और एक साथ रहने लगते हैं। तब इसे "गन्धर्व विवाह" कहा जाता है। वात्सायन ने "कामसूत्र" में इस विवाह को आदर्श विवाह माना है। शकुन्तला और दुष्यन्त का विवाह गन्धर्व विवाह का प्रमुख उदाहरण है।

5.6.1.7 राक्षस विवाह—लड़ाई करके छीना-झपटी द्वारा अथवा कपट द्वारा कन्या से विवाह करना राक्षस विवाह कहलाता है। यह प्रथा एक प्रकार से युत्र में जीतने का पारितोषक है। ऐसा मालूम होता हे कि यह प्रथा उस समय से चली आ रही है जब स्त्रियाँ युद्ध का पारितोषिक समझी जाती थी। इस विवाह को क्षत्रिय विवाह भी कहा जाता है। क्योंकि प्राचीन काल में क्षत्रिय लोग ही युद्ध किया करते थे।

5.6.1.8 पैशाच विवाह— यह विवाह, विवाह के सभी प्रकारों में अधम माना जाता है, क्योंकि इस प्रकार के विवाह में नशे में उन्मत होकर सोती हुई कन्या को एकान्त में दूषित कर देना ही पर्याप्त है। मनु ने इस प्रकार के विवाह को पपिष्ट कहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस महिला के साथ बलात्कार किया जाता था, उसे भी पत्नी के रूप में ग्रहण कर लिया जाता था। परन्तु ऐसे विवाह का दर्जा सबसे निम्न समझा जाता था।

5.6.2 आधुनिक स्वरूप—वर्तमान आधुनिक काल में हिनदुओं में दो प्रकार के विवाहों—ब्राह्म विवाह और असुर विवाह का प्रचलन है। **प्रो० मजूमदार** का कहना है कि "यद्यपि साधारण हिन्दू समाज में ब्राह्म विवाह उच्च जातियों में तथा असुर विवाह निम्न जातियों में प्रचलित है, तथापि उच्च जाति में भी असुर विवाह पूर्णतया समाप्त नहीं हो पाया है। (डी एन मजूमदार, रेसेज एण्ड कल्चर्स आफ इण्डिया, पृष्ठ 173)

5.6.2.1 ब्राह्म विवाह—जैसा कि प्रारम्भ में उल्लेख किया जा चुका है कि कन्या के संरखक योग्य वर को चुनते हैं और उसे एक नियत दिन पर मित्रों एवं सगे सम्बन्धियों के साथ आमन्त्रित करते हैं और फिर अन्न, वस्त्र, अलंकार उपहार आदि सहित कन्या का दान दे देते हैं। इस विवाह को सम्पन्न करने के लिये कुछ धार्म्कि संस्कारों को सम्पन्न करना आवश्यक होता है। यज्ञ, पाणिग्रहण, सप्तसदी आदि प्रमुख धार्मिक संस्कार हैं। इस प्रकार हिन्दू विवाह एक पवित्र बन्धन और जन्म जन्मान्तर का नाता है। यह स्वरूप हिन्दुओं की उच्च जातियों में आज भी प्रचलित है।

5.6.2.2 असुर विवाह—यह विवाह वर्तमान काल में हिन्दुओं की निम्न जातियों में प्रचलित है। कन्यामूल्य लेकर लड़की की शादी की जाती है। धर्मशास्त्रों में कन्या मूल्य अनुचित बताया गया है। सम्भवतया इसी कारण इसको हिन्दुओं की उच्च जातियों में पसन्द नहीं किया जाता।

अत: आज के युग में हिन्दू विवाह के आठ प्रकारों में से अवशेष के रूप में केवल दो का ही प्रचलन है। बाह्म विवाह में भी आधुनिक युग की कुछ बुराईयां आती जा रही हैं और असुर विवाह का भी प्रारम्भिक रूप नहीं रहा है।

5.7 हिन्दू विवाह के नियम अथवा जीवन साथी के चुनाव का क्षेत्र

हिन्दू विवाह एक ऐसी जटिल सामाजिक संस्था है जिसके अन्तर्गत अनेक निषेधों के अधीन जीवन साथी का चुनाव किया जाता है। वैदिक काल में विवाह से सम्बनिधत निषेध उतने अधिक प्रभावपूर्ण नहीं थे जितने कालान्तर में हो गये। पहले व्यक्तियों के प्रति दृष्टिकोण अधिक सम्मानपूर्ण और उदार था। किन्तु आगे चलकर विभिन्न परिस्थितियों के कारण विवाह के क्षेत्र संकुचित होते चले गये, विवाह सम्बन्धी अनेक निषेध प्रस्थापित हो गये और उनमें अनेक हिन्दू सामाजिक जीवन के अनिवार्य अंग बन गये। यद्यपि आज ये निषेष पुन शिथिल पड़ते जा रहे हैं तथापि इनका प्रचलन प्रभावशील हैं हिन्दू समाज में विवाह सम्बन्धी नियम चार भागों में विभाजनीय है।

NMDC-102

5.7.1 अन्तर्विवाह—अन्तर्विवाह का अभिप्राय है अपनी ही जाति या उपजाति में विवाह करना। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने में ही विवाह करने की अनुमति है। अर्थातृ ब्राह्मण से ब्राह्मण और क्षत्रिय से-क्षत्रिय ही विवाह कर सकता है। लेकिन व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं होता, क्योंकि आज प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों व उपजातियों में विभाजित है और ये उपजातियां भी अनेक भागों में विभाजित हैं। ये सभी विभाजित व उपविभाजित भाग एक एक अन्तर्विवाही समूह हैं। इसी सन्दर्भ में एस० वी० केतकर ने लिखा है—"भारत में बीस करोड़ हिन्दू इस प्रकार विभाजित व उपविभाजित हैं कि उनमें ऐसी जातियाँ भी हैं जो पन्द्रह परिवारों के बाहर विवाह नहीं कर करती।" (एस० वी० केतकर, हिस्ट्री ऑफ कॉस्ट इन इण्डिया)

समाजशास्त्रीय फॉलसम ने अन्तर्विवाह को परिभाषित करते हुये लिखा है, "अन्तर्विवाहि वह नियम है जिसके अनुसार एक व्यक्ति को अपनी ही जाति या समूह में विवाह करना पड़ता है, परन्तु निकट के रक्त सम्बन्धियों से विवाह सम्बन्ध की अनुमति नहीं होती। (फॉलसम, जे० के०)

वास्तव में अन्तर्विवाह वह विधि है जिसके अनुसार समूह, जाति या उपजाति के अन्तर्विवाह ही विवाह सम्बन्ध किये जा सकते हैं। हिन्दुओं में अनेक उपजातियाँ हैं और प्रत्येक उपजाति अन्तर्विवाही समूह हैं।

5.7.2 बहिर्विवाह—बहिर्विवाह का सामानय आशय यह है कि "एक व्यक्ति अपने समूह से, जिसका कि वह सदस्य है, के बाहर विवाह करे।" डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स ने लिखा है कि बहिर्विवाह से उस विनिमय का बोध होता है जिसमें एक सामाजिक समूह के सदस्य के लिये यह अनिवार्य होता है कि वह दूसर सामाजिक समूह से अपना जीवन साथी ढूँढे।" (डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स, सामाजिक संगठन, पृष्ठ 32)

यदि तात्विक आधार पर परिभाषित किया जाये तो "गोत्र, प्रवर और सपिण्ड के बाहर विवाह करने को "बहिर्विवाह" कहते हैं।

5.7.2.1 सगोत्र बहिर्विवाह—गोत्र बहिर्विवाह का आशय है कि व्यक्ति अपने गोत्र से सम्बन्धित व्यक्तियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित न करें। गोत्र का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो एक ही, कल्पित ऋषि से अपनी उत्पत्ति मानते हैं। अल्टेकर के अनुसार 600 बी० सी० तक गोत्र विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। (ए० एस० अल्टेकर, दि पोजीशन ऑफ वूमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० 45)

कपाड़िया ने भी वैदिक काल में गोत्र निषेध न होने का सन्दर्भ दिया है। उनमें तर्क है; (1) आर्यों में न केवल स्वयंवर बल्कि "गन्धर्व विवाह" भी प्रचलित था (2) आर्य लोग ईरान से भारत आये थे तथा ईरान में सगोत्र विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं पाये जाते। सम्भवतया मनु ने सगोत्र विवाह पर प्रतिबन्ध लगाये।

1946 में हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारण अधिनियम (Hindu Marriage Disabilities Removal Act, 1946) में गोत्र विवाह के प्रतिबन्ध हटा दिये गये। आजकल लोग इस प्रकार के प्रतिबन्ध को कोई अधिक महत्व नहीं देते है।

NMDC-102

5.7.2.2 प्रवर बर्हिर्विवाह—प्रवर आध्यात्मिक सम्बन्धों की ओर इंगित करता है। वैदिक इण्डेक्स के अनुसार प्रवर का अर्थ आह्वान करना है। प्रवर के सम्बन्ध में प्रचलित है कि पुरोहित द्वारा यज्ञ के समय चुन लिये जाने वाले ऋषियों का नाम प्रवर है, क्योंकि यजमान पुरोहित को यज्ञ के लिये आमन्त्रित करता था, इसलिये यजमान तथा पुरोहित के प्रवर एक से हुये।

गोत्र के समान प्रवर में भी विवाह के निषेध का विधान रहा है। इसी नियम या विधान को प्रवर बहिर्विवाह कहा जाता है ऐसा कहा जाता है कि मनु के समय यह निषेध अधिक कठोर नहीं था, परन्तु तीसरी शताब्दी के बाद यह निषेध कठोर हो गया। वर्तमान में प्रवर का प्रचलन नगण्य है।

5.7.2.3 सपिण्ड बहिर्विवाह—सपिण्ड का अर्थ है, मृत व्यक्ति को पिण्डदान देने वाले या उनके रक्त कण से सम्बन्धित व्यक्ति। सपिण्ड में विवाह का निषेघ है। इस नियम को सपिण्ड बहिर्विवाह कहा जाता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस प्रकार का निषेध उत्तम माना जाता है, क्योंकि निकट सम्बन्ध में नियम कठोर नहीं थे। उदाहरणार्थ, अर्जुन ने अपने मामा की लड़की सुभद्रा से विवाह किया और श्रीकृष्ण ने भी अपने मामा की लड़की रूक्मंणी से विवाह किया। आज भी दक्षिण भारत में मामा की लड़की से विवाह करने की प्रथा पायी जाती है इसी प्रकार गौतम बुद्ध ने भी अपने मामा की लड़की से विवाह किया।

5.7.3 अनुलोम विवाह- मनुस्मिृति में ऐसा वर्णन मिलता है कि चारों वर्णों के पुरूष अपने से निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकते हैं, परन्तु अपने से उच्च वर्ण की स्त्री से विवाह नहीं कर सकते। उच्च जाति के लड़के का निम्न जाति की लड़की से विवाह करना अनुलोम या कुलीन विवाह कहलाता है। इस प्रकार के विवाहों की शास्त्रों में अनुमति दी गयी है, और ऐसे विवाहों का प्रचलन भी होता रहा है। महाभारत के वर्णन से पता चलता है कि भीष्म के पिता शान्तनु राजा ने एक धीवर की कन्या से विवाह किया था। भारत में यह प्रथा 10वीं व 11वीं शताब्दी तक चलती रही है। बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में भी यह प्रथा प्रचलित है। प्रत्येक ब्राह्मण अपनी कन्या को कुलीन ब्राह्मण को ही देना चाहता है, परिणाम स्वरूप उच्च जातियों अथवा ब्राह्मणों में दहेज की प्रथा चल पड़ती है।

5.7.4 प्रतिलोम विवाह - प्रतिलोम विवाह का अर्थ है निम्न जाति के पुरूष का उच्च जाति की कन्या से विवाह करना। डा. राधा कृष्णन ने लिखा है कि "प्रतिलोम विवाह में निम्न वर्ण का लड़का उच्च वर्ण की कन्या के साथ विवाह करता था और उससे उत्पन्न संतान किसी भी वर्ण में नहीं रखी जाती थी। उनको चाण्डाल या निषाद कहा जाता था। (डॉ० राधा कृष्णन, रिलीजन एण्ड सोसाइटी)

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में इस प्रकार के विवाह का निषेध है। हिन्दू समृतिकारों ने यहाँ तक लिखा है कि यदि शुद्र उच्च वर्ण की स्त्री से सम्बन्ध करे तो उसे सार्वजनिक स्थान पर लाकर कुत्तों से नुचवा डालना चाहिये अथवा अग्नि से लाल शैय्या पर बांध देना चाहिये। लेकिन अब कानून (हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 और विशेष विवाह अधिनियम 1954) प्रतिलोम विवाह पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहा, फिर भी प्रतिलोम विवाहों का प्रचलन काफी कम है।

5.8 हिन्दू विवाह सम्बन्धी सामाजिक विधान

भारत में समाज सुधार, समाज कलयाण और सामाजिक पुनर्निमाण की दृष्टि से सामाजिक विधानों का अत्यधिक महत्व है। सामाजिक विधानों की जो आधारशिला ब्रिटिश शासनकाल में रख दी गयी थी। उसे स्वतंत्र भारत में और अधिक सुदृढ़ बनाया गया है।

5.8.1 ब्रिटिश काल में बने सामाजिक विधान—ब्रिटिश सरकार की नीति हिन्दुओं के सामाजिक और धार्मिक मामलों में कम से कम हस्तक्षेप करने की थी। परन्तु जनमत के दबाव के कारण अंग्रेजी सरकार द्वारा कुछ सामाजिक विधान पारित किये गये।

5.8.1.1 हिन्दू विध्णवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1956 (The Hindu Widows Re-marriage Act, 1956)—स्मृतिकाल के बाद से आगे तक विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। मनु के अनुसार "एक विधवाव जो पुनर्विवाह करती है स्वयं को अपमानित करती है, अत: उसे अपनी स्वामी के स्थान से बाहर निकल जाना चाहिये।" 1956 के अधिनियम ने हिन्दू विधवाओं के विाह में आने वाली सभी कानून अड़चनों को दूर कर दिया। उद्देश्य था—जन कलयाण तथा उच्च आदर्शों को प्रोत्साहन देना। यह नियम घोषित करता है कि ऐसी विधवा जिसका पति उसके दूसरे विवाह के समय से ही स्वर्गवासी हो गया हो का पुनर्विवाह वैध है और ऐसे विवाह की कोई भी संतान अवैधानिक नहीं होगी। ऐसे मामलों में जहां पुनर्विवाह करने वाली विधवा अल्पव्यस्क है, उसके माता-पिता, सगे सम्बन्धियों, भाई की सहमति आवश्यक है। सहमति के अभाव में कोई भी किया गया विवाह निष्प्रभावी होगा। अधिनियम विधवा को प्रथम पति की सम्पत्ति में से निर्वाह अधिकार प्राप्त करने से वंचित करता है।

5.8.1.2 बाल विवाह निग्रह अधिनियम, 1929 (The Child Marriage Restraint, 1929)—यह अधिनियम पहली अप्रैल, 1930 को लागू हुआ। यह अधिनिमय बाल विवाह को रोकता है। यद्यपि यह विवाह स्वयं निरर्थक निष्प्रभावी घोषित है। तद्नुसार 18 वर्ष से कम उम्र के लड़के 14 वर्ा से कम उम्र की लड़की का विवाह तय करना, सम्पन्न करना आदि कानूनी अपराध था। बाद में लड़की की आयु बढ़ाकर 15 वर्ष कर दी गयी थी। 1978 में सुधार के बाद लड़के की आयु 21 वर्ष तथा लड़की की आयु 18 वर्ष कर दी गयी है। अधिनियम के उल्लंघन पर दण्ड का प्राविधान है लेकिनविवाह स्वयं में वैध रहता है। अधिनियम के अर्न्तगत अपराध संज्ञेय है और इसके अन्तर्गत माता-पिता, वर, संरक्षक और पण्डित तक के लिये तीन माह का साधारण कारावास और 1000 रुपये तक का अर्थदण्ड है। किसी महिला को कारावास का दण्ड सम्मिलित नहीं है। अधिनियम में बाल विवाह को रोकने के लिये निषेधाज्ञा जारी करने का प्रावधान है, लेकिन अपराध के लिये कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती—यदि आरोपित विवाह को एक वर्ष का समय व्यतीत हो चुका है।

5.8.1.3 हिन्दू विवाह निर्योग्यता निवारक अधिनियम, 1946—हिन्दुओं में कोई और विवाह यदि निषेधों की सीमा में आपस में सम्बनिधत व्यक्तियों के बीच हुआ है तो वैध नहीं है जब तक ऐसा विवाह रिवाजों द्वारा मान्यता प्राप्त न हो। इस अधिनियम के अन्तर्गत एक ही

गोत्र और प्रवर के व्यक्तियों के बीच विवाह वैधे करार दिया गया। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के पारित होने के बाद यह अधिनियम निरस्त हो गया है।

5.8.2 स्वतंत्र भारत में सामाजिक विधान—स्वतंत्र भारत में बनने वाले सामाजिक विधान इस सर्वव्यापी नियम पर आधारित है कि "तथ्य को सैकड़ों धर्म शास्त्र भी नहीं बदल सकते।" स्वतन्त्रोपरान्त बने हिन्दू विवाह से सम्बन्धित विधान निम्नलिखित हैं—

5.8.2.1 हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम, 1949—1940 तक हिन्दुओं में प्रतिलोम विवाह अवैध तथा अनुलोम विवाह अनुमन्य था, यद्यपि इस प्रकार के विवाहों की वैधता के विरुद्ध न्यायिक निर्णय थे। 1949 के अधिनियम ने वे सभी वैध घोषित कर दिये जो भिन्न जातियों, धर्मों उपजातियों एवं विश्वासों के लोगो के बीच सम्पन्न हों। लेकिन एक हिन्दू और मुसलमान के बीच विवाह को वैध नहीं माना गया है। 1955 के अधिनियम के बाद यह नियम भी निरस्त हो गया है।

5.8.2.2 विशेष विवाह अधिनियम, 1954—यह अधिनियम पहली अप्रैल, 1955 को प्रभावी हुआ। इस अधिनियम के पश्चातृ 1872 का विशेष विवाह अधिनियम निरस्त हो गया, जो उन व्यक्तियों को जो वर्तमान स्वरूपों का पालन नहीं करना चाहते थे, एक नया स्वरूप दिया। 1872 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रावधान था कि जो व्यक्ति विवाह के इच्छुक होते थे, उन्हें घोषणा करनी होती थी, कि जैन, बौद्ध, सिक्ख, मुस्लिम, पारसी, ईसाई या हिन्दू किसी भी धर्म को नहीं मानते हैं। 1923 में इस अधिनियम में संशोधन किया गया, जिसके अन्तर्गत जो व्यक्ति विवाह का इच्छुक हो उसे ऐसी कोई भी घोषणा नहीं करनी होती थी। प्रत्येक पक्ष को केवल इतनी ही घोषणा करनी होती थी कि वह किस धर्म का अनुयायी था। इस प्रकार इस नियम द्वारा अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता प्राप्त हो गयी।

1954 के अधिनियम के अन्तर्गत विवाह अफसर द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। दोनों पक्षों को कम से कम विवाह से एक माह पूर्व सूचना देनी होती है। दोनों पक्षों में से एक के लिये उस विवाह अफसर के कार्यालय के जिले का निवासी होना आवश्यक है। एक माह की अवधि के भीतर कोई भी उनके विरुद्ध आपत्ति उठा सकता है। यदि सूचना के तीन माह की अवधि के बीच विवाह सम्पन्न नहीं होता है तो फिर एक सूचना की आवश्यकता होगी। विवाह के समय दो साक्षियों की आवश्यकता होती है।

इस अधिनियम में विवाह निरस्त करने, विवाह-विच्छेद, न्यायिक पृथक्करण तथा निर्वाह व्यय आदि का भी प्राविधान है।

5.8.2.3 हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955—यह अधिनियम 18 मई, 1955 से प्रभावी हुआ तथा जम्मू व कश्मीर को छोड़कर समस्त भारत में लागू होता है। इस अधिनियम में "हिन्दू' शब्द में जैन, बौद्ध, सिक्ख व अनुसूचित जातियाँ सम्मिलित हैं। आयु, जीवित पत्नी, निषिद्ध सम्बन्ध और मानसिक दशा आदि की शर्तें 1955 के अधिनियम में भी वैसी ही हैं जैसी कि 1954 के अधिनियम में दी गयी थी। इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित शर्तें प्रदान की गयी हैं;

(1) किसी पक्ष के पास जीवित पत्नी या पति नहीं है।

(2) कोई भी पक्ष पागल या मूर्ख नहीं है।

(3) वर की आयु 18 वर्श और वधू की आयु 15 वर्ष पूरी होनी चाहिये। 1978 के संशोधन के अनुसार लड़के की आयु बढ़ाकर 21 वर्ष और लड़की की आयु 18 वर्षकर दी गयी है।

(4) दम्पत्तियों में से कोई भी निषिद्ध सम्बन्धों के स्तर के निकट का नहीं होना चाहिये, जब तक कि रिवाज उन्हें विवाह की अनुमति न दें।

(5) दोनों में से कोई सपिण्ड नहीं होना चाहिये, जब तक कि रिवाज अनुमति न दे।

(6) जहां वधू 18 वर्ष से कम और वर 21 वर्ष से कम आयु का हो उनके विवाह में उनके माता-पिता या संरक्षक की सहमति आवश्यक है। जिन लोगों की सहमति लेना आवश्यक है उनका वरीयता क्रम हैं—पिता, माता, दादा, दादी, भाई, चाचा, नाना, नानी और मामा।

अधिनियम में विवाह सम्पन्न करने के लिये किसी विशेष स्वरूप का प्रावधान नहीं है। सम्बद्ध पक्षों की स्वतन्त्रता है कि ये प्रचलित रीति रिवाजों के अनुसार विवाह सम्पन्न करें—

अधिनियम न्यायिक पृथक्करण तथा विवाह निरस्त करने की प्रक्रिया की अनुमति देता है। कोई भी पक्ष चार आधारों पर, न्यायिक पृथक्करण ले सकता है; दो वर्ष तक निरन्तर यातना, निर्दयी व्यवहार, कोढ़, व्यभिचार।

विवाह को निम्नलिखित चार आधारों पर निरस्त किया जा सकता है—

(1) विवाह के समय विवाहित स्त्री या पुरुष्ष नपुंसक रहा हो तथा कार्यवाही होने तक भी नपुंसक स्थिति जारी रहे।

(2) विवाह के समय दोनों में से एक पागल या मूर्ख रहा हो।

(3) माता-पिता या संरक्षक की सहमति ली गयी हो या धोखे से ली गयी हो और

(4) विवाह के समय पत्नी, पति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति से गर्भ धारण कर चुकी हो।

विवाह विच्छेद, व्यभिचार, धर्म परिवर्तन, अस्वस्थ मस्तिष्क, कोढ़, वेनीरल बीमारी, संन्यास, सात वर्ष तक परित्याग तथा न्यायिक पृथक्करण के बाद दो वर्ष तक समागत न किया जाना आदि आधारों पर हो सकता है। पत्नी भी तलाक के लिये प्रार्थना पत्र दे सकती है। यदि उसका पति विवाह से पहले भी एक पत्नी रखता हो और वह बलात्कार या पशुता को दोषी हो।

सन् 1986 का संशोधन परस्पर सहमति तथा असंगतता के आधार पर विवाह-विच्छेद की अनुमति देता है। न्यायालय में विवाह विच्छेद के लिये प्रार्थना पत्र तभी दिया जासकता है जबकि विवाह के बाद तीन वर्ष पूरे हो चुके हों। 1986 के संशोधन के बाद यह अवधि दो वर्ष कर दी गयी है। विवाह विच्छेदित पक्ष पुनर्विवाह नहीं कर सकते, जब तक कि विच्छेद की डिक्री को एक वर्ष समाप्त न हुआ हो। अधिनियम में पृथक्करण के बाद गुजारा-भत्ता तथा विच्छेद के बाद निर्वाह व्यय का प्रावधान है। न केवल पत्नी बल्कि पति भी गुजारा भत्ता के लिये दावा कर सकता है।

NMDC-102

5.8.2.4 दहेज निरोधक अधिनियम, 1961—यह अधिनियम 20 मई, 1961 को पारित हुआ। इस आशय का विधेयक 27 अप्रैल, 1959 को तत्कालीन विधि मन्त्री श्री ए० के० सेन द्वारा लोक सभा में प्रस्तुत किया गया था। यद्यपि लोक सभा ने इस विधेयक को पारित कर दिया था किन्तु राज्य सभा ने इसे अस्वीकार कर दिया। लोक सभा ने कुछ संशोधन के साथ इसे पुन: अस्वीकार कर दिया। तब यह विधेयक संयुक्त प्रवर समिति का सन्दर्भित किया गया। समिति की सिफारिशों पर लोक सभा व राज्य सभा की संयुक्त बैठक में बहस हुई तब यह पारित हो सका। यह अधिनियम मुसलमानों पर लागू नहीं होता। यह विधेयक 2000 रुपये से अधिक मूल्य के उपहारों के आदान-प्रदान की अनुमति नहीं देता। इसके उल्लंघन की दशा में 6 माह का कारावास अथवा 5000 रुपये तक के अर्थ दण्ड का प्राविधान है।

अधिनियम के उल्लंघन पर पुलिस स्वयं कोई कार्यवाही नहीं कर सकती, जब तक कि कोई शिकायत दर्ज न करायी जाये। विवाह के एक वर्ष बाद कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती। जब विधेयक पर लोक सभा में बहस चल रही थी—तत्कालीन विधि उपमन्त्री ने कहा था, "विधेयक के अन्तर्गत अपराध सिद्ध करना लगभग असम्भव होगा, क्योंकि कोई भी माता-पिता अपनी बेटी का भविष्य खतरे में नहीं डालने जा रहे हैं, यह कहकर कि उनसे दहेज लिया जा रहा है। न्यायमूर्ति सप्रू ने भी राज्य सभा में माना कि विधान पारित कर लेने से कोई लाभ नहीं है, यदि इसे ठीक से लागू न किया जा सके। यह केवल कानून की अवमानना ही पैदा करेगा। अधिनियम में जून, 1986 में और कुछ संशोधन किये गये और इसे पहले से अधिक कठोर बना दिया गया।

5.9 हिन्दू विवाह संस्था पर सामाजिक विधानों का प्रभाव एवं आधुनिक परिवर्तन

हिन्दू विवाह को प्रभावित करने वाले सामाजिक विधानों के अन्तर्गत हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 और विशेष विवाह अधिनियम, 1954 का उल्लेख किया जा सकता है। इन दोनों अधिनियमों का हिन्दू विवाह पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। परिणामस्वरूप हिन्दू विवाह को धार्मिक संस्कार मानने की धारणा में आधुनिक परिवर्तन परिलक्षित हुये हैं। इस सन्दर्भ में समाजशास्त्री के० टी० मर्चेन्ट लिखते हैं कि "हिन्दू विवाह को कई युवक एवं युवतियों ने धार्मिक संस्कार न मानकर इसके वैयक्तिक रूप को अधिक महत्वपूर्ण बताया है तथा इसे महत्व दिया है।" (के० टी० मर्चेन्ट, चेंजिंग व्यूज आन मैरिज एण्ड फैमिली पृ० 40-56)

नवीन सामाजिक विधानों के फलस्वरूप अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिल रहा है, अनुलोम या प्रतिलोम के आधार पर विवाह सम्बन्धों में कोई बाधा नहीं रह गयी है, क्योंकि अधिनियम के अन्तर्गत किसी जाति विशेष का उसी जाति में विवाह जरूरी नहीं रहा है। बहु-पत्नी विवाहों का प्रचलन प्राय: समाप्त होता जा रहा है और एक विवाह का प्रचलन सामान्य हो गया है, क्योंकि दोनों ही अधिनियमों में विवाह की पहली शर्त यह है कि विवाह तभी वैध होगा, जब विवाह के समय दोनों पक्षों में से किसी का भी विवाह साथी जीवित न रहा हो।

NMDC-102

हिन्दू विवाह का क्षेत्र अब पहले की अपेक्षा बढ़ गया है। अर्थात् गोत्र प्रवर और सपिण्ड विवाह की सीमायें कम कर दी गयी हैं जिससे वर-वधू के चुनाव में पहले से कहीं अधिक सुविधा हो गयी है।

जीवन साथी को चुनने का स्वतन्त्र अधिकार, वर्तमान में प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है बशर्ते कि उनकी आयु (वर व वधू) क्रमशः 21 व 18 वर्ष होनी चाहिये।

आधुनिक समय में जीवन की संकटमय स्थिति का विवाह विच्छेद के कारण अन्त होता जा रहा है। अर्थात् हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13 के अनुसार पति अथवा पत्नी दोनों को न्यायालय की शरण में जाकर विवाह विच्छेद का अधिकार प्राप्त है जो एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है।

इसी प्रकार विशेष विवाह अधिनियम 1954 के अन्तर्गत बाल विवाह पर रोक लगी हुई है। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति, औद्योगीकरण, नगरीकरण, प्रजातन्त्र के मूल्य, नवीर सामाजिक विधान सामाजिक चेतना आदि ने प्राचीन हिन्दू विवाह संस्था को प्रभावित किया है तथा इसने काफी परिवर्तन करा दिये हैं। आज वह संक्रमणकाल से गुजर रही है। वर्तमान में गावों की अपेक्षा शहरों में अधिक परिवर्तन नजर आने लगे हैं, परन्तु यह स्पष्ट है कि समय के साथ-साथ गांव भी इन परितर्वनों से अछूते नहीं रह सकते।

5.10 सारांश

* इस इकाई के अन्तर्गत आपने हिन्दू विवाह विवाह की अवधारणा एवं उसकी प्रकृति के विषय में जानकारी प्राप्त की। अब आप हिन्दू विवाह के अर्थ व हिन्दू विवाह के धार्मिक स्वरूप भली-भाँति अवगत हो गये हैं। अर्थातृ आप जान गये हैं कि हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है।

* हिन्दू विवाह धार्मिक संस्कार क्यों हैं, इसके उत्तर में कुल नौ (9) कारणों का वर्णन प्रस्तुत इकाई में किया गया है, जो इस प्रकार है—धार्मिक विधि विधानों का समावेश, मोक्ष प्राप्ति का साधन, धार्मिक कर्तव्यों का पालन, पतिव्रत्य और सतीत्व की धारणायें, वेदमन्त्रों का उच्चारण, परमपिता द्वारा निर्धारण सम्बनधी मान्यता, पत्नी के सम्बोधक शब्द, धार्मिक आदेशों एवं निषेधों का महत्व, विवाह पवित्र बन्धन एवं स्वर्ग का द्वार।

* प्रत्येक संस्था के कुछ उद्देश्य अथवा आदर्श अवश्य ही होते हैं। हिन्दू विवाह संस्था भी किन्हीं उद्देश्यों को साथ लेकर चलती है। जैसे-धर्म, प्रजा, रति, परिवार के सदस्यों के प्रति कर्तय पालन, संस्कृति की निरन्तरता, सामाजिक जीवन की निरन्तरता तथा व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास। इन सभी उद्देश्यों से आप भली-भाँति परिचित हो ही चुके हैं।

* हिन्दू विवाह के विभिन्न स्वरूपों अथवा प्रकारों का वर्णन, मनु, नादर तथा याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में मिलता है। इसके अनुसार हिन्दू विवाह के आठ परम्परागत स्वरूप व प्रकार बताये गये हैं। दो आधनिक स्वरूपों का वर्णन भी प्रस्तुत इकाई में किया गया है, जिन्हें आप समझ ही गये हैं।

* हिन्दू विवाह में अनुलोम, विवाह, प्रतिलोम विवाह, अन्तर्विवाह तथा बहिर्विवाह के नियम हैं, जिनसे आप परिचित हो चुके हैं।

* हिन्दू विवाह सम्बन्धी विभिन्न सामाजिक विधानों का उल्लेख भी प्रस्तुत इकाई में हैं, जिसमें हिन्दू विधवा पुर्नविवाह अधिनियम, बाल विवाह निरोधक अधिनियम, हिन्दू विवाह अधिनियम तथा दहेज निरोधक अधिनियम प्रमुख है।

* आप इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हो चुके हैं कि हिन्दू विवाह से सम्बनिधत सामाजिक विधानों का हिन्दू विवाह की प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ा है तथा इन सामाजिक विधानों के प्रभाव के कारण हिन्दू विवाह संस्था में वर्तमान समय में क्या-क्या परिवर्तन आये हैं?

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ/सहायक ग्रन्थ सूची

1. डॉ० के० एम० कपाड़िया : मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया
2. पी० एन० प्रभू : हिन्दू सोशल आर्गेनाइजेशन
3. मनुस्मृति
4. राज बली पाण्डेय : हिन्दू संस्कार

5.12 प्रश्नोत्तर

बोध प्रश्न

1. हिन्दू विवाह से आप क्या समझते हैं? (उत्तर तीन पंक्तियों में दें)

   .....

   .....

   .....

2. हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है, क्यों? कोई तीन कारण बताइये।

   1. .....

   2. .....

   3. .....

3. धर्म शास्त्रों में वर्णित हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्य कौन-कौन से हैं?

   1. .....

   2. .....

   3. .....

4. ''हिन्दू के लिये विवाह एक संस्कार है तथा इस कारण विवाह सम्बन्ध में जुड़ने वाले

पक्षों का सम्बन्ध संस्कार रूपी है न कि प्रसंविदा की प्रकृति का।'' यह कथन किसका है? (सही उत्तर के सामने सही (√) का निशान लगायें)

(क) डॉ० के० एम० कपाड़िया ( )

(ख) पी० एन० प्रभु ( )

(ग) डा० एम० एन० श्रीनिवास ( )

(घ) डा० जी० एस० घुरिये( )

5. हिन्दू विवाह के आधुनिक स्वरूप कौन-कौन से हैं? बताइये ?

.....

6. निम्नलिखित में से कौन-कौन हिन्दू विवाह के नियमों के अन्तर्गत आते हैं? (सही उत्तर के सामने (√) सही का निशान लगायें)

(क) अन्तर्विवाह [ ] (ख) असुर विवाह [ ]

(ग) बहिर्विवाह [ ] (घ) अनुलोम विवाह [ ]

(ङ) पैशाच विवाह [ ]

7: बाल विवाह निग्रह अधिनियम, 1929 कब लागू हुआ? (सही उत्त्र के सामने (√) सही का निशान लगायें)

(क) 1 अप्रैल, 1930 [ ] (ख) 26 जून, 1929 [ ]

(ग) 2 जनवरी 1929 [ ] (घ) 4 अप्रैल 1930 [ ]

8. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 किस राज्य में लागू नहीं है? (सही उत्तर के सामने (√) सही का निशान लगायें)

(क) पंजाब [ ] (ख) उत्तर प्रदेश [ ]

(ग) जम्मू एवं कश्मीर [ ] (घ) राजस्थान [ ]

5.13 प्रश्नोत्तर

(1) देखें 1.2 (विस्तृत रूप में)

(2) देखें 1.4

(3) देखें 1.5.1

(4) देखें 1.4.9

(5) देखें 1.6.2

(6) देखें 1.7

(7) देखें 1.8.1.2

(8) देखें 1.8.2.3

अभ्यास

अभ्यास सम्बन्धित उत्तर इकाई पढ़कर स्वयं लिखें और परामर्शक को दिखायें।

इकाई 6 मुस्लिम इसाई एवं जनजातीय विवाह एवम् परिवार

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 मुस्लिम परिवार की अवधारणा

6.3 मुस्लिम सामाजिक संगठन

6.4 मुस्लिम परिवार का अर्थ

6.5 मुस्लिम परिवार की विशेषताएं

6.6 मुस्लिम परिवार के संस्कार

6.7 मुस्लिम विवाह

6.8 मुस्लिम विवाह की प्रमुख विशेषताएँ

6.9 मुस्लिम विवाह की शर्तें

6.10 विवाह विधि

6.11 मेहर और दहेज

6.12 मुस्लिम विवाह में भेद

6.13 मुसलमानों में विवाह विच्छेद

6.14 सारंश

6.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची / उपयोगी पुस्तकें

6.16 सम्बन्धित प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- मुस्लिम परिवार और विवाह विधि को स्पष्ट कर सकेंगे।
- मुस्लिम परिवार की विशेषताएँ एवं संस्कारों का उल्लेख कर सकेंगे।
- मुस्लिम विवाह की विधि व उसकी विशेषताओं पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- मेहर और दहेज जैसी प्रथाओं का विवरण कर सकेंगे।
- मुस्लिम विवाह के भेद और विच्छेद का उल्लेख कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

इस्लाम का उद्भव अरब में हुआ था। प्राचीन अरब का धर्म ही धीरे धीरे परिवर्तित होकर इस्लाम धर्म का स्थान ले लिया। मुस्लिम सामाजिक संगठन का ज्ञान हमें कुरान से प्राप्त हुआ है। मुस्लिम पारिवारिक जीवन के विभिन्न पक्षों पर बहुत ही कम साहित्य प्राप्त होता है। सामानयत: भारतीय मुस्लिम परिवारों में हिन्दू परिवारों का एक प्रतिरूप दिखाई पड़ता है। इसका मूल कारण यह है कि जो मुसलमान सदियों से भारत में निवास कर रहे हैं तथा जो हिन्दू अपना धर्म बदल कर मुसलमान बन गये हैं, उनके सामाजिक जीवन पर हिन्दुओं की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। मेन्डलबाम का विचार है कि मुसलमान तथा हिन्दुओं के बहुत से परिवारिक रीति रिवाजों में अन्तर पाया जाता है जैसे चचेरी बहन से विवाह। (सोसाइटी इन इन्डिया 1970 पृ0 547)। मेन्डलबाम के विचारों के विपरीत मुसलमानों का सामाजिक संगठन हिन्दुओं के सामाजिक संगठन से कुछ अपवादों को छोड़कर बहुत कुछ मिलता जुलता है यद्यपि हिन्दुओं की तुलना में मुसलमान कुछ क्षेत्रों में बहुत अधिक रूढ़िवादी हैं।

6.2 मुस्लिम परिवार की अवधारणा

मुस्लिम परिवार और उसकी सामाजिक संगठन इस्लाम धर्म पर आधारित है। ''इस्लाम'' का शाब्दिक अर्थ है अल्लाह के प्रति समपर्ण, जिसका अभिप्राय है स्वेच्छा से अल्लाह की इच्छा के सामने झुकना। इस्लाम धर्म को मानने वाले मुसलमान कहलाते हैं तथा अपने पवित्र ग्रन्थ 'कुरान' में पूर्ण विश्वास रखते हैं। इस्लाम केवल एक ईश्वर को मानता है। इस प्रकार अद्वैतवादी धर्म है। कुरान अल्लाह के ही शब्द हैं जो उसके पैगम्बर के द्वारा मानव मात्र तक पहुँचाया गया है। इस्लाम का उद्भव सातवीं शताब्दी में पश्चिम मध्य अरब में हुआ लेकिन इसका भली प्रकार स्थापना 622 ई0 संवत् में हुआ। इस्लाम धर्म प्रारम्भ होने के पूर्व पश्चिम मध्य अरब देश में केवल लड़ने वाली जन जातियों के समूह ही पाये जाते थे।

इस्लाम धर्म भारत में मुस्लिम आक्रमण के साथ आया। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अरब के द्वारा सिंध तथा ग्यारहवीं शताब्दी में तुर्कियों द्वारा उत्तर पश्चिम पंजाब को जीत लिया इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के आस पास मुगलों ने एक बृहद साम्राज्य स्थापित कर लिया (गजेटियर ऑफ इंडिया, 1965 : पृ0 466-467)।

6.3 मुस्लिम सामाजिक संगठन

सम्पूर्ण विश्व में मुस्लिम समाज दो भागों में विभाजित है।

(1) शिया (2) सुन्नी।

भारत में शियाओं की तुलना में सुन्नी बहुसंख्यक हैं। भारतीय मुसलमानों में उपर्युक्त विभाजन के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के भी विभाजन हैं जो हिन्दुओं में पाई जाने वाली जाति व्यवस्था से प्रभावित है। भारत में मुस्लिम समाज दो भागों में विभाजित हैं।

(1) उन मुसलमानों के वंशज जो बाहर से आये थे।

NMEP104

(2) वे मुसलमान जो भारत में बहुत पहले से रह रहे थे और जिनके पूर्वजों ने इस्लाम धर्म कबूल कर लिया था। पहली श्रेणी के मुसलमानों को "अशरफ" या "शरफा" (अरबी में इसका अर्थ है सम्माननीय) जबकि दूसरे श्रेणी के मुसलमानों का कोई विशेष नाम नहीं है।

(1) अशरफ

भारत में बाहर के देशों से जैसे फारस, अरब और अफगानिस्तान आदि से आये मुसलमानों के पूर्वज उच्च श्रेणी के समझे जाते हैं जैसे सैयद, मुगल, पठान आदि। सैय्यद को पैगम्बर मुहम्मद की बेटी फातिमा का वंशज माना जाता है, इस कारण से सैय्यद का मुस्लिम समाज में सामाजिक स्तर सबसे ऊँचा माना जाता है।

मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था में दूसरा स्थान शेख को प्राप्त है जो मक्का और मदीना से आये मुसलमानों के वंशज हैं। इसी प्रकार मुगल और पठान हैं जिनका मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था में तीसरा स्थान प्राप्त है।

(2) धर्म परिवर्तित करके बनने वाले मुसलमान

भारतीय मूल के मुसलमान जो अपना धर्म बदल करके मुसलमान बने हैं वे तीन प्रकार के समूहों में विभक्त हैं।

(1) उच्च हिन्दू जाति से परिवर्तित

(2) स्वच्छ व्यवसाय करने वाली जातियों से परिवर्तित तथा

(3) अस्वच्छ व्यवसाय करने वाली जातियों से परिवर्तित

गौस अन्सारी के अनुसारद्ध भारत में मुसलमानों के सामाजिक पद क्रम में, उच्च हिन्दू जातियाँ जो अपना धर्म बदल करके मुसलमान बने हैं। उन्हें अशरफ से नीचा स्थान दिया गया है । (अन्सारी 1960 पृ0 40)।

6.4 मुस्लिम परिवार का अर्थ

परिवार समाज की प्रथम इकाई है क्योंकि बिना परिवार के समाज की निरन्तरता सम्भव नहीं है। समूह सामाजिक जीवन की आवश्यक एक अनिवार्य आवश्यकता है जो मनुष्य की आर्थिक और सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। परन्तु कुछ समूह ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य के अस्तित्व से है, परिवार इसी प्रकार के समूहों में एक है। Family शब्द के लैटिन भाषा के FAMULUS शब्द से निकला है जिसका अर्थ है माता-पिता, बच्चे, नौकर और यहाँ तक की गुलाम भी आ जाते हैं।

परिवार की सार्वभौमिक परिभाषा देना कठिन है क्योंकि देश काल और परिस्थितियों के अनुसार परिवार के स्वरूप में भिन्नता रहती है। फिर भी मैकाइवर और पेज के अनुसार "परिवार पर्याप्त यौन सम्बन्धों द्वारा परिभाषित ऐसा समूह है जिससे सन्तान उत्पन्न हो और उनका पालन पोषण करने की व्यवस्था हो।" (मैकाइवर और पेज, सोसाइटी पृ0 238)।

6.5 मुस्लिम परिवार की विशेषताएं

मुस्लिम परिवार का निर्माण समाज द्वारा मान्य ''निकाह'' द्वारा होता है। भारत में मुस्लिम परिवार की संरचना बहुत कुछ हिन्दू परिवार की संरचना के निकट है, फिर भी कुछ क्षेत्रों में भिन्नता की भी झलक है। जैसे –

1. पितृवंशीय और मातृवंशीय परिवार :

मुस्लिम परिवार सामान्य रूप से पितृस्थानीय और पितृवंश परम्परा के होते हैं। विवाह के बाद पत्नी को अपने माता पिता का घर छोड़कर पति के घर में ही अपना परिवार बसाना पड़ता है परन्तु कुछ परिवार किन्हीं विशेष कारणों से हिन्दू परिवारों की भाँति पति को ससुराल में ही रहने के लिए मना लेते हैं, ऐसा प्राय: उस समय होता है जब पत्नी के घर में पुरूष उत्तराधिकारी का अभाव होता है। ऐसी स्थिति में उस पुत्री का पुत्र गोद ले लिया जाता है। और वह सम्पत्ति का विधिक उत्तराधिकारी हो जाता है। इस्लाम कुँआरेपन को प्रोत्साहित न करके पारिवारिक स्थायित्व प्रदान करना चाहता है।

2. संयुक्त एवम् एकांकी परिवार :

हिन्दुओं की तरह ही मुसलमानों में भी संयुक्त परिवार प्रणाली पायी जाती है। इस्लाम में चूँकि एक पुरूष को चार विवाह करने की छूट है इसलिये स्वाभाविक है परिवार का स्वरूप बड़ा होगा। मुस्लिम परिवार में पति – पत्नी, उसके बच्चे तथा बच्चों की पत्नियों के अतिरिक्त स्त्री पक्ष के सम्बन्धी और अन्य नाते रिश्तेदारों का समावेश रहता है। नगरों की तुलना में ग्रामों में रहने वाले मुस्लिम परिवारों में संयुक्ता अधिक पायी जाती है। संयुक्त परिवार के साथ साथ एकांकी परिवार भी मुसलमानों में पाये जाते हैं इसका मूल कारण आधुनिक शिक्षा औद्योगीकरण – नगरीकरण तथा व्यक्तिवादिता है।

3. स्त्री-पुरूषों के अलग-अलग क्षेत्र-पर्दा-प्रथा:

मुस्लिम परिवारों में 'पर्दा' एक महत्वपूर्ण विशेषता है जिससे औरतों और मरदों को अलग अलग रक्खा जाय। आज भी अधिकांश मुस्लिम परिवार संयुक्त परिवार में ही रहते हैं जहाँ औरतें घर के एक अलग हिस्से में रहती हैं जिसे 'जनान खाना' कहा जाता है। पहले समय में पर्दा आभिजात्य का सूचक माना जाता था। इसी कारण से घर के प्रत्येक दरवाजों और खिड़कियों पर पर्दे और चिक पड़े रहते हैं। मुसलमान स्त्रियाँ जब घर से बाहर निकलती हैं तो बुरका ओढ़ लेती हैं। मोहम्मद साहब स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता के पक्षधर नहीं थे। सामाजिक परिवर्तन और शिक्षा के विकास के साथ साथ इस व्यवस्था में भी कुछ अन्तर आया है परन्तु वर्तमान में भी यह प्रथा मुस्लिम परिवारों में विद्यमान है।

4. बहु पत्नी प्रथा :

इस्लाम धर्म में बहु पत्नीत्व स्वरूप को स्वीकार किया है जिससे एक पुरूष को एक साथ चार पत्नियों के रखने की छूट है। सम्पन्न घरानों में एकाधिक पत्नियाँ रखना प्रतिष्ठा का द्योतक

माना जाता है। मुस्लिम परिवार में एकाधिक पत्नियाँ होते हुये भी कलह कम पायी जाती है इसका यह कारण हो सकता है लड़कियों को बचपन से ही समाजीकरण के माध्यम से. मानसिक रूप से इस बात के लिए तैयार कर लिया जाता है कि वह अन्य स्त्रियों के साथ अनुकूलन करलें।

5. परिवार का धार्मिक स्वरूप:

इस्लाम धर्म ने परिवार की प्रकृति को निश्चित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मुसलमानों में परिवार कुरान के आधार पर संचालित होता है। कुरान के नियमों को विधिवत पालन करने वाला अल्लाह का प्यारा होता है। ऐसे मुसलमान परम-आनन्द को प्राप्त करते हैं इसके विपरीत जो लोग अल्लाह के सन्देश पर विश्वास नहीं करते उन्हें दण्ड प्राप्त होता है।

मुसलमानों का विश्वास है कि एक दिन ऐसा आयेगा जब मनुष्य के कर्मों का न्याय होगा। उस दिन सभी को अल्लाह के सम्मुख उपस्थित होना पड़ेगा। अल्लाह कर्मों के आधार पर ही न्याय करेगा। इन सब विश्वासों का परिवार के सदस्यों में पारस्परिक सम्बन्धों में दृढ़ता आती है तथा उनके कार्यों को नियंत्रित करने में सहायता मिलती है।

6. सदस्यों की पारिवारिक एवम् सामाजिक स्थिति में असमानता:

इस्लाम धर्म किसी भी रूप में असमानता का पक्षधर नहीं रहा है फिर भी मुस्लिम परिवार के सदस्यों में व्यवहारिक रूप से असमानता दिखाई पड़ती है। पिता परिवार का मुखिया होता है इसलिए उसकी स्थिति भी ऊँची होती है। इसी प्रकार पुरूषों का स्त्रियों की तुलना में अधिक अधिकार व सम्मान प्राप्त है। पुरूष सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है तथा विवाह विच्छेद में भी उसी को विशेष अधिकार प्राप्त है। पुरूषों को सामाजिक गतिशीलता स्त्रियों की तुलना में बहुत अधिक होती है। इसी प्रकार सामाजिक स्थिति में सैद्धान्तिक और व्यवहारिक रूप में अन्तर पाया जाता है। हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों की पारिवारिक स्थिति जाति के अनुसार निर्धारित नहीं होती फिर भी मुसलमानों में सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है और उसी आधार पर परिवार की सामाजिक स्थिति निश्चित होती है। उदाहरण के रूप में 'अशरफ' मुसलमानों के संस्तरण में चार मुख्य भाग हैं - सैयद, शेख, मुगल और पठान। सैयद का स्थान सबसे श्रेष्ठ है इसके बाद क्रमश: शेख, मुगल और पठान का स्थान है। इसके बाद धर्म परिवर्तन करने वाले मुसलमान आते हैं जो प्राय: राजपूत मुसलमान कहलाते हैं इसके बाद व्यवसाय करने वाले मुसलमान आते हैं जैसे दर्जी, कबाड़िया, जुलाहा, मनिहार, धुनिया आदि इसके बाद सबसे निम्न श्रेणी में मेहतर आते हैं। अत: परिवारो की सामाजिक स्थिति उपर्युक्त संस्तरण पर निर्धारित होती है।

7. परिवार में स्त्रियों की लज्जाजनक स्थिति :

सैद्धान्तिक रूप से यदि विचार किया जाय तो मुस्लिम महिलाओं को हिन्दू महिलाओं की तुलना में अधिक अधिकार प्राप्त है। पारिवारिक सम्पत्ति में मुस्लिम महिलाओं को हिस्सा

दिया गया है और इस हिस्से को वे किसी रूप में उपयोग कर सकती हैं इसी प्रकार 'मेहर' और 'दहेज' पर भी उनका सम्पूर्ण अधिकार है। धार्मिक आयोजनों में वह भाग ले सकती है कुरान और नमाज़ पढ़ सकती है। इसके अतिरिक्त विवाह में भी स्त्री की स्वीकृति अनिवार्य है किन्तु व्यवहार में मुस्लिम महिलाओं की स्थिति नाजुक है। पर्दाप्रथा, अशिक्षा संयुक्त परिवार प्रथा आदि के कारण वे प्रगति नहीं कर सकी। परिवार के वास्तविक सत्ता स्त्रियों की अपेक्षा पुरूषों को ही प्राप्त है स्त्रियों का जीवन तो ज़नान खाने की परिधि तक ही सीमित रहता है।

6.6 मुस्लिम परिवार के संस्कार

मुसलमान भी कुछ प्रमुख संस्कार सम्पन्न करते हैं। जैसे -

सतवां - स्त्री के गर्भ धारण करने के सातवें महीने यह संस्कार मनाया जाता है। इस अवसर पर नाते-रिश्तेदारों तथा इष्ट मित्रों को आमंत्रित किया जाता है तथा दावत दी जाती है, साथ ही साथ नाच गाने का भी आयोजन होता है।

अकीका - यह एक प्रकार का नामकरण संस्कार है जो पुत्र जन्म के सांतवी रात को मनाया जाता है। इस अवसर पर नमाज अदा की जाती है और गरीबों को दान दिया जाता है।

चिल्ला - यह संस्कार बच्चे के जन्म के चालीसवें दिन मनाया जाता है इस दिन तक बच्चे की माँ अपवित्र मानी जाती है। इस अवसर पर रिश्तेदारों द्वारा उपहार भेंट किये जाते हैं अल्लाह से दुवा मांगना इस संस्कार का आवश्यक अंग है। इस दिन फकीरों को खैरात भी बांटी जाती है।

बिसमिल्लाह - यह विद्या आरम्भ करने का संस्कार है। इस दिन मुल्ला बच्चे को बिसमिल्लाह शब्द का उच्चारण करवाते हैं। और पाटी पर लिखवाते हैं।

खतना - यह संस्कार साधारणतया लड़के की आयु पाँच या सात वर्ष की हो जाती है तब मनाया जाता है। हिन्दुओं में उपनयन के पश्चात ही बालक को धार्मिक कार्यों में सम्मिलित होने का अवसर मिलता है ठीक उसी प्रकार खतना के बाद ही मुस्लिम बालक को धार्मिक कार्य कलापों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होता है। इस संस्कार के उपरान्त बालक नमाज पढ़ना और रोजा रखना आरम्भ कर देता है। खतना में नाई लड़के के लिंग की आगे की चमड़ी काट देता है। इस अवसर पर भोज भी दिया जाता है।

निकाह - निकाह का अर्थ विवाह से है। काजी के समक्ष लड़की वालों के सम्बन्धी दो पुरूष गवाहों या एक पुरूष और दो स्त्री गवाहों की उपस्थिति में वर एवम् वधू की स्वीकृति के बाद ही विवाह सम्पन्न होता है। विवाह के बाद दावत भी दी जाती है।

मैयत - यह जीवन का अन्तिम संस्कार है। मृत्यु के बाद मृतक को नाई के द्वारा उसकी हजामत बनवायी जाती है, स्नान करवाया जाता है और नये कपड़े पहनाये जाते हैं। फिर सफेद चादर ओढ़ा कर ताबूत को मस्जिद में लाया जाता है जहाँ मृतक की आत्मा की शान्ति हेतु जनाजा पढ़ा जाता है। फिर मृतक को शान्तिपूर्वक कब्रिस्तान लाया जाता है जहाँ उसे कब्र में दफना दिया जाता है। इस अवसर पर सभी उपस्थित लोग फातिहा पढ़ते हैं। इसके बाद तीजा, दसवाँ, चालीसवाँ तथा बरसी आदि संस्कार भी किये जाते हैं। गरीबों को इस अवसर पर भोजन भी कराया जाता है।

NMDC102

6.7 मुस्लिम विवाह

इस्लाम का प्रारम्भ मूलतः अरब से हुआ। इस्लाम धर्म प्राचीन अरबी धर्म का ही बदला हुआ रूप है। इसी कारण से मुसलमानों के सामाजिक संगठन पर अरबी धर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है प्राचीन अरबी समाज में विवाह की जो परम्परा थी वह बहुत ही अव्यवस्थित थी। उस समय अरब समाज में प्रचलित विवाह का उल्लेख राबर्टसन स्मिथ ने इस प्रकार किया है :-

1. स्त्री अपने पति के चुनाव करने में पूर्ण स्वतंत्र थी।

2. उसे वह अपने तम्बू या डेरे में बुलाती थी और उसके साथ सहवास करती थी और अपनी स्वेच्छानुसार जब चाहे उसे तम्बू से बाहर निकाल देती थी।

3. ऐसे विवाह से जन्में सन्तान का पालन पोषण वह स्त्री स्वयं या उसके रिश्तेदार करते थे।

उपर्युक्त प्रकार के विवाह को 'बीना' विवाह कहा जाता था। कालान्तर में इस प्रकार के विवाह में परिवर्तन आया और ''बीना'' विवाह का स्थान ''बाल विवाह'' अथवा आधिपत्य विवाह ने ले लिया। इस प्रकार स्त्री को प्राप्त असीमित स्वतंत्रता समाप्त हो गई।

मुस्लिम विवाह जिसे निकाह कहा जाता है एक दीवानी समझौता है। इसके प्रमुख उद्देश्य स्त्री पुरूषों को यौन सम्बन्धी तृप्ति स्थापित करने की विधिक स्वीकृति। बच्चों को जन्म देकर परिवार की वृद्धि करना, बच्चों का पालन पोषण करना, गृहस्थ जीवन को सुचारू रूप से चलाना तथा संविदा के रूप में पति पत्नि को यह अधिकार प्रदान करना कि एक पक्ष द्वारा यदि संविदा का भली प्रकार से पालन न किया गया तो दूसरा पक्ष उसे छोड़ सकता है। हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों मे विवाह एक पवित्र संस्कार नहीं है, बल्कि एक शिष्ट समझौता है, किन्तु मुसलमानों में निकाह एक श्रृद्धा का कार्य माना गया है जो एक प्रकार से उनका धार्मिक कर्तव्य है।

मुसलमानों में विवाह एक सामाजिक और धार्मिक समझौता है जो निकाह के पश्चात वैध घोषित किया जाता है। यद्यपि यह विवाद अपनी प्रकृति में सामाजिक अधिक है धार्मिक कम। इस्लाम में विवाह के नियम पवित्र कुरान द्वारा निश्चित किये गये हैं। इस प्रकार विवाह एक विशिष्ट समझौता है जिसका अर्थ है सन्तानोत्पत्ति करना तथा उन्हें वैध घोषित करना। (डी. एम. मुल्ला पिरन्सपिलस आफ मोहम्मडन ला पृ0 223)।

6.8 मुस्लिम विवाह की प्रमुख विशेषताएं

मुस्लिम विवाह को दो विषम लिंगियों के मध्य एक समझौते के रूप में स्वीकार किया गया है समझौते के लिए निम्न प्रतिबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं-

1. **विवाह प्रस्ताव रखना**- यह वर या वधू के पक्षों की ओर से क़िया जाता है वर दो गवाहों तथा काजी की उपस्थिति में विवाह से पहले वधू के सामने विवाह का प्रस्ताव रखता है। विवाह के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि 'प्रस्ताव' तथा 'स्वीकृति' एक ही बैठक

में हो। यदि एक बैठक में प्रस्ताव और दूसरी बैठक में स्वतंत्र स्वीकृत हो तो भी उसे उचित विवाह नहीं मानते। यद्यपि इस प्रकार का विवाह बातिल (अवैध) नहीं होता। और इस प्रकार से सम्पन्न विवाह 'फासिद' (अनियमित) माना जाता है। शिया समुदायों में विवाह भंग करते समय दो साक्षियों की आवश्यकता होती है। जबकि सुन्नियों में विवाह प्रस्ताव के समय दो साक्षियों की आवश्यकता होती है। प्रस्ताव व स्वीकृत में दो पुरूष साक्षियों की आवश्यकता होती है। एक पुरूष व दो महिलाओं की साक्षी मान्य नहीं है।

2. मुस्लिम विवाह में व्यक्ति में जब तक विवाह समझौता करने की योग्यता नहीं हो जाती विवाह समझौता नहीं कर सकता क्योंकि बाल विवाह एवं अस्वस्थ मास्तिष्क वाले व्यक्तियों को विवाह करने की मान्यता प्राप्त नहीं होती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए यदि नाबालिग के विवाह का समझौता हो चुका है तो वह अवैध है। नाबालिग के विवाह का समझौता उसके माता पिता या संरक्षक द्वारा किया जा सकता है। इसके अलावा यदि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा समझौता किया जाता है तो कानून की दृष्टि से वैध नहीं है परन्तु यदि सम्बन्धित पक्ष बालिग होने पर उस समझौते को अनुमोदित कर देते हैं तो वह समझौता वैध माना जायेगा। सम्बद्ध पक्षों को यह अधिकार है कि उस समझौते को अनुमोदित करे या अस्वीकार करे। इस अधिकार को ''खैरूल बलिग'' कहते हैं।

3. मुस्लिम विवाह में समानता के सिद्धान्त का पालन किया जाना चाहिए। यद्यपि निचले वर्ग के व्यक्ति के साथ विवाह समझौता को अच्छा नहीं माना जाता फिर भी इस प्रकार के विवाह में कोई कानूनी अड़चन नहीं है।

6.9 विवाह की शर्तें

मुस्लिम विवाह के पूर्व कुछ शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता है तभी वह विवाह वैधानिक माना जाता है-

1. विवाह के समय दोनों सम्बद्ध पक्ष मानसिक रूप से स्वस्थ हो।

2. दोनों पक्षों में से किसी का किसी से अनैतिक सम्बन्ध न हो और अवश्यक रूप से वह बालिग हो अर्थात पन्द्रह वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका हो।

3. विवाह को वैध बनाने के लिए माता पिता या संरक्षक की स्वीकृत आवश्यक है तथा विवाह की स्वीकृत दोनों पक्षों की स्वतंत्र इच्छा से होनी चाहिऐ दबाव या धोखे से नहीं।

4. गवाह की अनुपस्थिति में या दोनों पक्षों में से कोई भी नाबालिग है तो विवाह सम्पन्न नहीं हो सकता । विवाह उसी समय वैधानिक होगा जब विवाह की स्वीकृत के समय पर साक्षी के रूप दो पुरूष अथवा एक पुरूष दो महिलाएं उपस्थिति हों।

5. एक मुसलमान पुरूष एक ही समय में चार स्त्रियों से विवाह कर सकता है परन्तु मुसलमान स्त्री एक समय में केवल एक ही पुरूष से विवाह कर सकती है। इस प्रकार इस्लाम में बहु पत्नी प्रथा पायी जाती है।

6. एक मुसलमान पुरूष मुसलमान स्त्री के अतिरिक्त ''किताबिया'' स्त्री अर्थात् यहूदी या ईसाई स्त्री के साथ विवाद कर सकता है। इसके विपरीत एक मुस्लिम महिला को एक

NMDC-102

"किताबिया" पुरूष से विवाह करने के लिए किसी भी परिस्थिति में अनुमति नहीं दी गई है। उसके लिए ऐसा विवाह "बातिल" (अवैध) विवाह होगा। मुसलमान महिला का विवाह केवल एक मुसलमान पुरूष से ही हो सकता है।

7. मूर्ति पूजक से विवाह पूर्ण रूप से निषिद्ध माना गया है।

8. मुसलमानों में विवाह बहुत ही निकट रक्त सम्बन्धियों में नहीं हो सकता जैसे सगी बहन, माता, दादी, नानी, सास, पुत्री, चाची, भाभी आदि किन्तु एक व्यक्ति चचेरी बहिन से विवाह कर सकता है।

9. तीर्थ यात्रा के समय भी वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो सकते।

10. इद्दत की अवधि में विवाह, (इद्दत वह समय होता है जिसमें स्त्री के तीन मासिक धर्मों को जो उसके पति के मृत्यु के बाद या तलाक के बाद यह सुनिश्चित करने हेतु होता है कि वह स्त्री कहीं गर्भवती तो नहीं है), अनियमित माना जाता है।

11. विवाह की एक आवश्यक शर्त है 'मेहर' का बंदोबस्त जो विवाह के समय तय-कर लिया जाना चाहिए।

6.10 विवाह विधि

मुस्लिम विवाह जिसे 'निकाह' के नाम से जाना जाता है, काजी या मौलवी द्वारा विधिवत् सम्पन्न कराया जाता है। मुस्लिम विवाह यद्यपि धार्मिक संस्कार नहीं है फिर भी परम्परा के अनुसार पवित्र कुरान की आयतें पढ़ते हुये नये दम्पती के लिए आर्शीवाद मागें जाते हैं। विवाह के लिए वर वधू दोनों की स्वीकृति ली जाती है। विवाह के आखिर में एक औपचारिक दस्तावेज 'निकाहनामा' तैयार किया जाता है। निकाहनामा में अन्य शर्तों के अतिरिक्त दहेज या मेहर का भी विवरण होता है। मेहर एक विशिष्ट प्रकार की सम्पत्ति या धन है जो वर-वधू को विवाद के समय या निश्चित अवधि में देने का वचन देता है। मेहर के बिना मुस्लिम विवाह सामाजिक और कानूनी रूप से वैधानिक नहीं हो सकता क्योंकि मेहर स्त्री का एक प्रकार का सुरक्षा कवच है मेहर की राशि वर के परिवार की सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अनुसार निश्चित की जाती है मेहर विवाह के तुरन्त बाद दी जा सकती है। या भविष्य में एक निश्चित तिथि तक के लिए स्थगित किया जा सकता है।

6.11 मेहर और दहेज

इस्लामी कानून में मेहर वह धन है जो निकाह के प्रतिफल के रूप में पत्नी अपने पति से लेने का अधिकार रखती है यद्यपि इस्लाम में दहेज की कहीं भी चर्चा नहीं है। इस प्रकार यह वधू मूल्य नहीं है क्योंकि इस सम्पत्ति पर वधू का अधिकार होता है उसके पिता का नहीं। मेहर स्त्री का एक ऐसा अधिकार है जिससे पति के तलाक देने के अधिकार पर कुछ सीमा तक नियंत्रण रखता है तथा पति की मृत्यु अथवा तलाक के बाद पत्नी को अपने पालन पोषण में कुछ सुविधा मिल जाती है मेहर की रकम विवाह से पहले, बाद में या फिर विवाह

NMDC-102

के समय निश्चित की जाती है। कानून की दृष्टि से पत्नी को मेहर का और पति को सम्भोग का अधिकार एक ही साथ मिल जाता है। मेहर के चार प्रकार हैं:-

1. **निश्चित मेहर** - यह वह मेहर है जो विवाह से पूर्व या विवाह के समय दोनों पक्षों में निश्चित की जाती है। मेहर की कम से कम रकम 10 दरहम होती है किन्तु अधिकतम की कोई सीमा नहीं है।

2. **उचित मेहर** - वह मेहर है जो विवाह के पूर्व या विवाह के समय निश्चित नहीं की जाती। ऐसी स्थिति में पति की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर उचित मेहर निश्चित की जाती है या फिर स्त्री के पिता के परिवार में दूसरी स्त्रियों (उसकी बहिन या बुआ) पर निश्चित किये गये मेहर को ध्यान रखना पड़ता है।

3. **सत्वर या तुरंत मेहर**- मांगे जाने पर दी जाने वाली मेहर की रकम सत्वर मेहर है। यह निकाह से पहले या सम्भोग के पहले पति को तुरन्त चुकाना पड़ता है।

4. **स्थगित मेहर** - यह मेहर विवाह के समय निश्चित हो जाती है परन्तु विवाह विच्छेद (तलाक) के बाद देना पड़ता है कभी-कभी दोनों पक्ष यह भी तय कर लेते हैं कि मेहर का कुछ अंश सत्वर के रूप में दिया जाय और कुछ स्थगित मेहर के रूप में और कुछ स्थगित मेहर के रूप में दिया जाय।

6.12 मुस्लिम विवाह के भेद

मुसलमानों में विवाह के दो प्रकार हैं:-

1. **निकाह** - इस विवाह में इस्लाम में वर्णित सभी शर्तों का पालन किया जाता है इसकी प्रकृति स्थायी होती है तथा मुस्लिम रीति रिवाजों के अनुसार सम्पन्न किया जाता है।

2. **मुता विवाह** - मुसलमानों में अस्थाई विवाह का रिवाज है जिसे मुता विवाह कहते हैं। शिया मुसलमानों में अस्थायी विवाह (मुता) का प्रचलन है जबकि सुन्नियों में केवल स्थाई विवाह जिसे निकाह कहते हैं स्वीकृत है। यह स्त्री पुरूष के स्वयं के समझौते से होता है इसमें किसी रिश्तेदार का योगदान नहीं होता है। पुरूष को किसी भी मुस्लिम, यहूदी या इसाई महिला से 'मुता' विवाह के समझौते का अधिकार है परन्तु महिला गैर मुसलमान से मुता समझौता कदापि नहीं कर सकती। 'मुता' विवाह संविदा के द्वारा प्राप्त पत्नी को ''सिंघा'' कहा जाता है। इस प्रकार के विवाह के लिए कानून की दृष्टि में दो बातें आवश्यक हैं-

(अ) सहवास की अवधि,जो एक दिन, एक महीना, एक साल या कुछ साल तक भी हो सकता है, पहले से निश्चित होनी चाहिए।

अवधि समाप्त होने पर इस प्रकार का विवाह स्वत: समाप्त हो जाता है परन्तु पति पत्नी के चाहने पर इसे स्थायी विवाह में परिवर्तित कर सकते हैं।

(ब) मेहर की राशि का निश्चित विवरण होना चाहिए। यदि अवधि अनिश्चित है पर मेहर अनिश्चित है तो विवाह अवैध माना जायेगा। मुता विवाह में पति पत्नी के बीच उत्तराधिकार का अधिकार प्रदान नहीं करता। सिंघा पत्नी अपने पति से लालन पालन की राशि की

NIDCAP

हकदार नहीं है और न ही वह पति की सम्पत्ति में विरासत ही पा सकती है लेकिन सन्तान वैध होने के कारण पिता की सम्पत्ति में से अपना हिस्सा ले सकता है।

उमर के काल तक मुता विवाह पूर्णरूप से समाप्त नहीं हुआ। पैगम्बर भी इस प्रथा को हटा नहीं सके फिर भी उन्होंने इसकी निन्दा अवश्य की। इस विवाह में तलाक का कोई स्थान नहीं है क्योंकि यह विवाह एक निश्चित अवधि के लिए ही होता है। इस्लाम में विवाह के स्थायित्व पर बल दिया गया है यदि कोई परम्परा अस्थायित्व को बढ़ावा देती है तो उसको मान्यता नहीं प्रदान की गई है।

6.13 मुसलमानों में विवाह विच्छेद

मुस्लिम विधान के अन्तर्गत विवाह एक संविदा है जिसे न्यायिक प्रक्रिया द्वारा या बिना न्यायिक प्रक्रिया के तलाक हो सकता है इसके अतिरिक्त पति और पत्नी की आपसी सहमति से भी विवाह विच्छेद हो सकता हैजिसे 'खुला' या 'मुबारत' कहते हैं।

1. **बिना अदालत के तलाकः**

मुसलमानों में बिना अदालत के हस्तक्षेप तलाक हो सकता है परन्तु यह अधिकार केवल पुरूष को ही है स्त्री को नहीं। मुस्लिम विधि के अनुसार कोई भी पुरूष जो बालिग है और सही दिमाग का है अपनी पत्नी को बिना कोई कारण बताये जिस समय चाहे तलाक दे सकता है। तलाक लिखित और मौखिक दोनों तरीके से हो सकता है। लिखित तलाक के लिए तलाकनामा आवश्यक है मौखिक तलाक निम्न तीन प्रकार से दिया जा सकता है-

(अ) **तलाक-ए-अहसन**— इसके अन्तर्गत "तलाक" की घोषणा मासिक धर्म की अवधि "तुहर" के समय एक बार की जाती है और इद्दत के समय तक पति पत्नी का सहवास नहीं होता। "इद्दत" चार मासिक धर्मों के बीच तीन माह की अवधि को कहते हैं इस प्रकार अवधि की समाप्ति पर विवाह विच्छेद हो जाता है। शियाओं में इस तलाक की मान्यता नहीं दी गयी है।

(ब) **तलाक-ए-हसन**— इसमें पति तीन तुहरों (मासिक धर्म) के मध्य के समय में तीन बार तलाक शब्द कहता है, और इस अवधि मे किसी भी प्रकार का यौन सम्पर्क नहीं किया जाता, अवधि की समाप्ति पर तलाक मान लिया जाता है।

(स) **तलाक-ए-उल-बिदत**— जब एक ही "तुहर" की अवधि में और एक ही वाक्य में तीन बार पति यह घोषणा करता है कि मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूँ या फिर तीन वाक्यों में तीन बार मैं तुम्हें तलाक देता हूँ मैं तुम्हें तलाक देता हूँ, मैं तुम्हें तलाक देता हूँ कहता है तो तलाक हो जाता है। इसके अतिरिक्त पति विवाह विच्छेद की अटल इच्छा प्रकट करता है तो भी तलाक हो जाता है।

सन् 1937 के शरियत नियम के अनुसार निम्न प्रकार के तलाकों का भी उल्लेख मिलता है-

2. **इला**— एक शपथ के आधार पर कि वह चार माह तक मैथुन नहीं करेगा तो वह

इला करता है इस प्रकार इस अवधि में यदि वह सहवास नहीं करता तो विवाह विच्छेद मान लिया जायेगा।

3. **जिहर** — जब पति अपनी पत्नी की तुलना ऐसी सम्बन्धी स्त्री से करता है जिससे विवाह निषेध है। जैसे वह यह कहे कि तुम तो मेरी माँ की पीठ या किसी अन्य की पीठ जिसके साथ उसका विवाह निषिद्ध है के समकक्ष हो तो वह जिहर करता है। ऐसे स्थिति में पत्नी पति को प्रायश्चित करने को कहती है यदि पति ऐसा नहीं करता तो पत्नी को हक होता है कि वह अदालत से तलाक की माँग कर सकती है। तब अदालत तलाक को स्वीकृत दे देती है।

4. **लियान**— इसके अन्तर्गत पति पत्नी पर व्यभिचार का आरोप लगाता है और पत्नी इस लांछन का खण्डन करते हुए अदालत से प्रार्थना करती है कि या तो उसका पति आरोप को वापस ले या खुदा की शपथ लेकर कहे कि उसके द्वारा लगाया गया आरोप सत्य है यदि पति अपना लाँछन वापस नहीं लेता तो पत्नी को एक विकल्प मिल जाता है, कि पति द्वारा लगाया गया आरोप स्वीकार कर ले या पति की ही भाँति खुदा की शपथ लेकर यह कहे कि वह निर्दोष है इस प्रकार की सौगन्ध लेने को ही लियान कहा जाता है। पति पत्नी को इस प्रकार की शपथ लेने के बाद पति को यह अधिकार मिल जाता है कि वह अदालत के माध्यम से तलाक लेले।

5. **खुला**— इसके अन्तर्गत पत्नी की इच्छा पर एक दूसरे की सहमति से, न्यायिक हस्तक्षेप के बिना भी विवाह विच्छेद किया जा सकता है। ऐसी सहमति की स्थिति में पत्नी अपने पति को मेहर वापस कर उसकी क्षति पूर्ति कर देती है, और अपने आप को विवाह बन्धन से मुक्त कर लेती है। इस प्रकार के तलाक में पहल स्त्री की ही होती है।

6. **मुबारत**— इसके अन्तर्गत विवाह विच्छेद की पहल किसी भी ओर से हो सकती है क्योंकि दोनो ही पक्ष विवाह विच्छेद के इच्छुक है। इस तलाक में भी पारस्परिक सहमति आवश्यक है किन्तु इसमें खुला की तरह पत्नी, पति को क्षतिपूर्ति के रूप में कोई धन नहीं देता।

2. अदालत द्वारा तलाक

सन 1939 में मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम के अन्तर्गत न्यायिक व्यवस्था के द्वारा महिला को यह अधिकार दिया गया है कि वह भी निम्नलिखित आधारों पर तलाक ले सकती है:-

(i) पति पत्नी की दो वर्ष तक भरण-पोषण न कर सके।

(ii) पति का सात वर्ष या उससे लम्बी अवधि की जेल की सजा मिली हो।

(iii) यदि पति नपुंसक हो।

(iv) पति का चार वर्ष से कोई पता न हो ।

(v) पति तीन वर्ष तक यौन सम्पर्क न करे।

(vi) यदि पति पागल हो।

(vii) यदि पति किसी असाध्य रोग (संक्रामक यौन रोग या कोढ़) से ग्रस्त हो ।

(viii) यदि पति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता हो ।

(ix) यदि पति का बदनाम स्त्रियों से सम्पर्क हो।

6.14 सारांश

मुस्लिम सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख आधार परिवार है जिसकी स्थापना विवाह द्वारा होती है। मुस्लिम परिवार में स्त्रियों की अपेक्षा पुरूषों को अधिक महत्व प्राप्त है क्योंकि यह परिवार पितृसत्तात्मक और पितृवंशीय है। मुस्लिम परिवार पर धर्म का प्रभाव दिखाई पड़ता है क्योंकि इसका आधार ही कुरान है। भारत में मुस्लिम परिवार की संरचना बहुत सीमा तक हिन्दू परिवार की संरचना से मेल खाती है। मुस्लिम विवाह मात्र एक दीवानी समझौता है जिससे यौन सम्बन्ध स्थापित हो सके और सन्तानोत्पत्ति हो सके। अमीर अली के अनुसार "मुस्लिम विवाह एक कानूनी संविदा है जिसके लिए न तो किसी पुरोहित की आवश्यकता है और न किसी धार्मिक कर्मकाण्ड की" (दी इस्प्रिट आफ इस्लाम पृ0 257)।

6.15 संन्दर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. कपाड़िया, के.एम., मैरिज एण्ड फेमली इन इन्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1972

2. अनसारी, गौस, मुस्लिम कास्ट इन उत्तर प्रदेश, ऐन्थ्रोग्राफिक एंड फोक कल्चर सोसाइटी, लखनऊ, 1960

3. मुल्ला, डी. एफ., पिरिन्सपिल्स आफ मोहम्मडन ला 1950

4. सक्सेना, काशी प्रसाद, मुस्लिम मैरिज, 1959

6.16 सम्बन्धित प्रश्न

बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. मुस्लिम विवाह की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

2. मुस्लिम परिवार की विशेषताओं का वर्णन न करें।

लघु उत्तरीय :

1. मुसलमानों में प्रचलित प्रमुख संस्कारों के नाम बताए।

2. मेहर के प्रकार बताईए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मुस्लिम समाज कितने भागों में विभाजित हैं :

   (अ) दो, (ब) तीन, (स) चार (द) पांच (उत्तर : (अ))

2. मुसलमानों में विवाह के कितने प्रकार हैं :

   (अ) एक, (ब) दो, (स) तीन, (द) चार (उत्तर : (ब))

इकाई 6(i) ईसाई परिवार एवम् विवाह

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 ईसाई परिवार के भेद

6.3 ईसाई पस्विार की विशेषताएँ

6.4 ईसाई विवाह के स्वरूप

6.5 जीवन साथी का चुनाव व विवाह पद्धति

6.6 विवाह विच्छेद

6.7 सारांश

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

6.9 संबंधित प्रश्न

6.10 सारांश

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

— ईसाई परिवार एंवं विवाह की विधि को स्पष्ट कर सकेंगे।

— विवाह पद्धति और विवाह विच्छेद पर टिप्पणी कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

भारतीय ईसाई समुदाय क्षेत्रीय विविधताओं के अनुसार अलग अलग ढंग से विकसित हुआ है, जिस प्रकार से मुस्लिम सामाजिक संगठन को मोटे रूप से स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है उसी रूप में ईसाई सामाजिक संगठन को नहीं स्पष्ट किया जा सकता क्योंकि उनमें एकरूपता का अभाव है। फिर भी कुछ बिन्दुओं पर समानता दिखाई पड़ती है। जैसे - प्रत्येक समाज में पंविार की निरन्तरता एवम् अस्तित्व के लिए सन्तानोत्पत्ति एक महत्वपूर्ण कार्य है। ईसाई

परिवार भी इस कार्य को करता है।

परिवार व्यक्तियों के अनैतिक यौन सम्बन्ध स्थापित करने से रोकता है जिससे समाज में अनियमित्तता तथा व्यभिचार पर रोक लगाई जा सके। परिवार सदस्यों में आपसी सहयोग बढ़ाने का उचित अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार ईसाई परिवार भी ईसाई संगठन के आदर्शों को व्यक्त करता है।

6.2 ईसाई परिवार के भेद

हिन्दू और मुसलमानों की भाँति ही ईसाइयों में भी स्तरीकरण दिखाई पड़ता है ये दो वर्गों में विभाजित है:-

(1) कैथोलिक

(2) प्रोटेस्टेन्ट

इनमें उपविभाजन भी पाया जाता है जैसे कैथोलिक में भी दो प्रकार का विभाजन है।

(अ) लेटिन कैथोलिक

(ब) सीरियन कैथोलिक

सामाजिक दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो ईसाइयों में वर्ग तो दिखाई पड़ते हैं पर हिन्दू व्यवस्था की भाँति उनमें जाति का स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता।

6.3 ईसाई परिवार की विशेषताएं

वास्तव में कुछ समय पूर्व उच्च पदाशीन ईसाईयों ऐसा विश्वास था स्त्रियाँ नरक का द्वार है और इस लिए इनसे दूरी बनाये रखना चाहिए परन्तु अब प्राचीन विश्वास पूरी तरह से समाप्त हो गया है आज ईसाइयों के विवाह मानव विकास के लिए आवश्यक माना जाता है। यह विवाह सम्बन्ध ही परिवार का जन्म देता है। साथ ही वंश नाम प्राप्त करने की एक व्यवस्था या नियम होता है, जिसके अनुसार ही विशिष्ट परिवार के बच्चे का वंश नाम निर्धारित होता है जो पितृवंशीय होता है परन्तु मालाबार के कुछ ईसाई परिवार के बच्चे अपनी माता के वंशनाम प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इनमें मातृवंशीय वंश परम्परा मिलती है।

पितृस्थानीय निवास का महत्व भी ईसाईयों में पाया जाता है। विवाह के उपरान्त वधू अपने पति के परिवार में निवास करती है। इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त ईसाइयों में कुछ अन्य प्रकार की विशेषताएं भी पायी जाती हैं।

1. **सीमित परिवार** — पाश्चात्य विचारों का प्रभाव ईसाई परिवारों पर देखने को मिलता है। आधुनिक शिक्षा तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता को ईसाई समुदाय अधिक महत्व देता है। प्राय: विवाहोपरान्त पति पत्नी अपना अलग घर बसा कर रहना पसन्द करते हैं जिसे नव स्थानीय परिवार कहा जाता है। संयुक्त परिवार का अभाव पाया जाता है। रहन-सहन का स्तर उच्च बनाये रखने के लिए कम सन्तानोत्पत्ति उपयुक्त मानते हैं इन्हीं कारणों से इनका परिवार छोटा होता है।

2. **पितृसत्तात्मक स्वरूप—** कर्ता के रूप में पिता परिवार का मुखिया होता है संपत्ति तथा आमदनी पर पिता का ही नियंत्रण होता है। परिवार की वंश परम्परा पिता के नाम जुड़ी रहती है।

3. **सामूहिक संपत्ति तथा आय का अभाव** - अधिकांश रूप से ईसाइयों में एकांकी परिवार ही पाये जाते हैं, इस कारण इनमें सम्मिलित सम्पत्ति का अभाव है, सामूहिक सम्पत्ति की विशेषता संयुक्त परिवार की होती है। इसी प्रकार सभी सदस्य अपनी आय परिवार के मुखिया के पास नहीं जमा करते बल्कि अपनी पत्नी एवम् बच्चों पर अपनी इच्छानुसार खर्च करते हैं। घर का सामान्य खर्च के लिए बच्चे अपनी आय का एक निश्चित भाग माता-पिता को दे देते हैं।

4. **व्यक्तिवादी दृष्टिकोण** — व्यक्तिवादी परम्परा पाश्चात्य संस्कृति की उपज है व्यक्ति सम्पूर्ण परिवार के विषय में न सोचकर व्यक्तिगत सुख सुविधाओं को प्राप्त करने में लगा रहता है।

व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में परिवार का महत्व अधिक नहीं होता और इस कारण से सामूहिकता का ह्रास हो जाता है।

5. **स्त्रियों की उच्च स्थिति** — ईसाई परिवारों में स्त्रियों की स्थिति पुरूषों के समकक्ष ही है। सामाजिक तथा धार्मिक क्रिया कलापों में स्त्रियाँ समान रूप से भाग लेती हैं। परिवार स्त्रियों की शिक्षा के लिए हर सम्भव प्रयास करता है। बाल विवाह तथा पर्दा प्रथा का चलन ईसाईयों में नहीं पाया जाता है साथ ही साथ विधवा विवाह को मान्यता प्राप्त है। हिन्दू तथा मुस्लिम परिवारों की स्त्रियों की तुलना में ईसाई परिवार की स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है।

6.4 विवाह के स्वरूप

ईसाइ लोग अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार एक विवाद को आदर्श मानते हैं तथा बहु विवाह निषेधित है। मुसलमानों के 'मुता- विवाह' जैसे अस्थायी विवाह की मान्यता ईसाइयों के प्रचलन में नहीं है। ये लोग विवाह बन्धन को स्थिरता प्रदान करने के पक्ष में रहें हैं। विवाह विधि की दृष्टि से विवाह के दो स्वरूप हैं।

(1) धार्मिक विवाह

(2) सिविल मैरेज

(1) **धार्मिक विवाह** - ऐसे विवाह का निर्धारण प्राय: बच्चों के माता पिता या सगे सम्बन्धियों के द्वारा सम्पन्न होता है यह विवाह लड़की के गिरजा घर में सम्पन्न किये जाते हैं।

(2) **सिविल मैरिज** - यह अदालती तौर पर एक साधारण समझौता मात्र होता है ऐसे विवाह करने वाले पक्षों को रजिस्ट्रार के सम्मुख प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करना पड़ता है। ऐसे पति पत्नी केवल आर्शीवाद लेने हेतु चर्च जाते हैं।

NMDC-102

6.5 जीवन साथी का चुनाव व विवाह पद्धति

ईसाइयों में जीवन साथी का चुनाव अधिक स्वतंत्र वातावरण में होता है यह चुनाव युवक या युवती स्वयं करते हैं या फिर यह कार्य माता पिता द्वारा किया जाता है, परन्तु इन दोनों परिस्थितियों में इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जाता है इनमें समरक्तता न हो। इसके पश्चात उनकी सामाजिक पारिवारिक स्थिति, शिक्षा, चरित्र एवम् स्वास्थ्य पर ध्यान दिया जाता है। जीवन साथी के चुनाव के बाद सगाई संस्कार किया जाता है। माता पिता अपनी सम्मति पादरी को बता देते हैं। यह संस्कार वधू के घर पर होता है। वर पक्ष के लोग अपने सगे सम्बन्धियों के साथ, मिठाई, अंगूठी और वस्त्र आदि लेकर वधू के घर जाते हैं। इस अवसर पर पादरी बाइबिल के कुछ अंश पढ़ता है। यहाँ औपचारिक रूप से वैवाहिक सम्बन्धों की वर वधू द्वारा स्वीकृत प्राप्त की जाती है। दोनों एक दूसरे को अंगूठियाँ पहनाते हैं, और इस अवसर पर सगाई की घोषणा की जाती है। सगाई के पश्चात दोनों पक्षों को कुछ औपचारिकतायें पूरा करना पड़ता है जैसे चर्च की सदस्यता चरित्र शुद्धता का प्रमाण पत्र तथा विवाह निश्चित तिथि के तीन सप्ताह पूर्व चर्च में विवाह के लिए एक प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करना। इस प्रार्थना पत्र में वर वधू के परिवार का संक्षिप्त परिचय भी होता है तथा इस बात का उल्लेख होता है कि किस स्थान पर विवाह सम्पन्न होगा।

इस प्रार्थना पत्र के प्राप्त होने पर चर्च का पादरी इस आशय की सूचना प्रकाशित करता है कि यदि इस विवाह से सम्बन्धित किसी को भी कोई आपत्ति हो तो वह प्रस्तुत की जा सके। एक निश्चित अवधि में यदि कोई आपत्ति नहीं आती है तो पादरी विवाह की तिथि निर्धारित कर देता है। लड़की जिस चर्च की सदस्य होती है उसी में विवाह सम्पन्न होता है। पादरी वर वधू दोनों से पूछता है कि क्या वे एक दूसरे को पति पत्नी के रूप में स्वीकार करते हैं और जब वे अपनी सहमति दे देते हैं तब पादरी साक्षियों के सम्मुख दम्पति को यह घोषणा करने को कहता है वह विवाह को सम्पन्न करता है। ''मैं (अ) ईश्वर की उपस्थिति में तथा प्रभू ईशू के नाम पर तुमको (ब) कानूनी रूप से पति /पत्नी स्वीकार करता/करती हूँ। पादरी तीन बार 'आमीन' कहता है और उसके साथ ही विवाह सम्पन्न मान लिया जाता है। अन्त में पादरी प्रार्थना करता है और दोनों को आशीर्वाद देता है।

6.6 विवाह विच्छेद

ईसाई विवाह विच्छेद को मानते हैं, यद्यपि चर्च इसकी आज्ञा नहीं देता। धर्म ग्रन्थ बाइबिल विवाह विच्छेद का निषेध करता है। ईसा मसीह ने स्वयं कहा है ''वे दोनों एक शरीर होंगे, बस वे दो नहीं हैं बल्कि वे तो वास्तव में एक ही हैं''। इसलिए जिसे ईश्वर ने जोड़ा है उसे मनुष्य न तोड़े'' (सेन्ट मैथू, चैपटर XIX, पृ0 5) सन् 1869 के भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम द्वारा भारतीय ईसाइयों को विवाह विच्छेद की कानूनी स्वीकृत है। यह अधिनियम विवाह विच्छेद, विवाह अवैधता, न्यायिक पृथक्ककरण, सुरंक्षा आज्ञा तथा वैवाहिक अधिकारों का पुन: स्थापन पर पूर्ण प्रकाश डालता है। विवाह निम्नलिखित आधारों में से किसी भी आधार पर अवैध घोषित किया जा सकता है।

1. पति पत्नी एक दूसरे के निषेधात्मक रक्त सम्बन्धी हैं।
2. पति विवाह के समय नपुंसक हो।
3. दोनों पक्षों में से कोई भी विवाह के समय पागल हो।
4. पति को दूसरी शादी करने पर
5. पति बलात्कार, अप्राकृतिक व्यभिचार या पशुता का अपराधी हो।
6. पति का पत्नी के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार।
7. पति बहु विवाह व्यभिचार का अपराधी हो।

भारत में अन्य समुदायों की महिलाओं की तुलना में ईसाई महिलाओं को अधिक सामाजिक और राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त है। ईसाई महिलायें बहुत पक्षों में पुरूषों के समकक्ष हैं। यह उपर्युक्त सुविधायें परिवार के स्थायित्व में सहायक हैं फिर भी ईसाइयों में विवाह विच्छेद का प्रतिशत बहुत अधिक है।

6.7 सारांश

ईसाई विवाह के अन्तर्गत अन्य भारतीय समुदायों की तुलना में, यौन सन्तुष्टि पर कम बल दिया गया है किन्तु आपसी, प्रेम, सौहार्द एवं सहयोग पर अधिक बल दिया गया है। ईसाई विवाह हिन्दू विवाह की भाँति संस्कार नहीं है जिसमें पति पत्नी का जन्म जन्मान्तर का संबंध है फिर भी बाईबिल में विवाह विच्छेद को निषेध माना गया है। ईसाइयों में मुसलमानों की भाँति मेहर तथा हिन्दुओं की भाँति दहेज की प्रथा नहीं है। विधवा विवाह मान्य ही नहीं है बल्कि उसको प्रोत्साहित भी किया जाता है बाल विवाह को महत्व नहीं दिया गया है।

6.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

डेंविस, जे. पी., 1980 द अर्ली क्रिसचियन चर्च, बेकर बुक हाउस अरीचीगन

नील स्टिफेन 1984 ए हिस्ट्री आफ क्रिस्चियनिटी इन इण्डिया, यूनिवर्सिटी प्रेस कैम्ब्रिज

कपाडिया के. एम. 1972 मैरिज एण्ड फेमली इन इंडिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली

6.9 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय :-

1. ईसाई परिवार तथा उसकी विशेषताए बताइए।
2. ईसाई विवाह के प्रमुख उददेश्यों का वर्णन कीजिए।

लघु उद्योग :-

1. ईसाई विवाह के स्वरूपों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
2. ईसाई विवाह विच्छेद पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

NMDC-102

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :-

1. विवाह विधि की दृष्टि से ईसाईयों में विवाह का एक स्वरूप है धार्मिक तथा दूसरा है-

(अ) संस्कारगत, (ब) मुता (स) अर्ध (द) सिविल मैरेज उत्तर (द)

इकाई 6(ii) जनजातीय परिवार एवम् विवाह

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 अवधारणा

6.3 परिवार के भेद

6.4 जनजाति की विशेषताएं

6.5 जनजातीय संगठन

6.6 विवाह के स्वरूप

6.7 विवाह सम्बन्धी निषेध

6.8 अधिमान्य विवाह

6.9 जीवन साथी चुनने की पद्धतियाँ

6.10 पूर्व वैवाहिक तथा अतिरिक्त वैवाहिक यौन सम्बन्ध

6.11 विवाह विच्छेद

6.12 सारांश

6.13 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

6.14 संबंधित प्रश्न

6.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

— जनजातियों के परिवार की विविधता स्पष्ट कर सकेंगे।

— जनजातियों के विवाह का स्वरूप का विवरण कर सकेंगे।

— विवाह संबंधित निषेध और विच्छेद पर टिप्पणी कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मानव समाज लाखों वर्षों की विकास की प्रक्रिया से गुजरता हुआ आज इस अवस्था तक पहुँचा है। प्रारम्भिक अवस्था का प्राणी जंगलों और

पहाड़ों में निवास करता था। आखेट और फल फूल की सहायता से अपने जीवन का निर्वाह करता था। विकास की प्रक्रिया में, विभिन्न आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं का भी विकास हुआ। जंगलों में भ्रमण करने वाले यह झुण्ड धीरे धीरे और अधिक विकसित हो गये तो इन्हें जनजाति के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। आज भी ये जनजातियाँ इतनी जटिल समस्याओं से ग्रसित हैं कि इन्हें सरलता से विभिन्न समूहों में विभाजित नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता के पश्चात इन्हें अनुसूचित जनजातियों तथा आदिवासी स्वतंत्रता के पश्चात् इन्हें अनुसूचित जनजातियों तथा आदिवासी के नाम से पुकारा गया जो आज भी प्रचलन में हैं।

6.2 अवधारणा

प्राणीशास्त्रीय सम्बन्धों के आधार निर्मित समूहों में परिवार सबसे छोटी इकाई है। मानव की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक आधारभूत सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। आदिम समाजों में भी परिवार का बहुत महत्व है। डा. घुरिये इनके लिए 'पिछड़े हिन्दू' शब्द का प्रयोग करते हैं। गिलिन एवम् गिलिन के अनुसार "स्थानीय पूर्व शिक्षित समूहों के किसी भी संग्रह को, जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता हो, एक सामान्य भाषा बोलता हो और एक सामान्य संस्कृति का अनुसरण करता हो, एक जनजाति कहते हैं। (गिलिन एण्ड गिलिन, कलचरल शोशियालोजी, द मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, 1950 पृ0 282)।

6.3 परिवार के भेद

जनजातीय परिवारों में विविधता दिखाई पड़ती है क्योंकि विभिन्न जनजातियों में भिन्न नियम और रीतियाँ पायी जाती हैं। भारतीय जनजातीय परिवारों के जो भी भेद दिखाई पड़ते हैं उनके मुख्य तीन आधार हैं:

1. परिवार के सदस्यों की संख्या
2. विवाद के स्वरूप
3. पारिवारिक सत्ता, निवास और वंश के नाम पर

1. संख्या के आधार पर जनजातियों में परिवार के निम्न स्वरूप दिखाई पड़ते हैं:-

(क) सरल अथवा केन्द्रीय

(ख) बड़ा अथवा संयुक्त परिवार

(ग) विवाह सम्बन्धी परिवार

(क) सरल अथवा केन्द्रीय परिवार — स्त्री पुरूष तथा उनकी सन्तानों के आधारभूत समूह का प्रतिनिधित्व करता है। यह परिवार सबसे छोटा होता है। यदि इसमें अन्य निकट सम्बनिधत नातेदार जुड़ जाते हैं तो इसे विस्तृत परिवार कहते हैं।

(ख) बड़ा अथवा संयुक्त परिवार — इस परिवार के अन्तर्गत एक परिवार के अनेक सम्बन्धी एक साथ रहते हैं। यहाँ तक की संयुक्त परिवार में तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्य

NMDC-102

एक ही साथ एक ही घर में निवास करते हैं, भोजन करते हैं तथा साथ ही साथ आर्थिक गतिविधियों में भाग लेते हैं।

(ग) विवाह — समबन्धी परिवार— ऐसे परिवारों में पति पत्नी और उनकी सन्तानें तो होते ही हैं, साथ ही साथ विवाह द्वारा बने हुये कुछ अन्य रिश्तेदार भी रहते हैं।

2. विवाह के स्वरूप के आधार पर— विवाह के आधार पर जनजातीय परिवारों के दो स्वरूप दिखाई पड़ते हैं:-

(क) एक विवाही परिवार

(ख) बहु विवाही परिवार '

(क) एक विवाही परिवार — अधिकांश जनजातियों में एक विवाही परिवार ही पाये जाते हैं जिसमें जब एक पुरूष एक समय में एक स्त्री से विवाह करता है तो ऐसे विवाह से जनित परिवार को एक विवाही परिवार कहते हैं।

(ख) बहु विवाही परिवार— जनजातियों में इस प्रकार के विवाह भी अप्रचलित तथा असमान्य नहीं है। जब एक स्त्री अथवा पुरूष एक से अधिक स्त्रियों या पुरूषों से विवाह करते हैं तो ऐसे विवाह से जनित परिवार को बहु विवाही परिवार की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार के परिवार के दो प्रकार हैं।

(1) बहु पत्नी विवाही परिवार- जिसमें एक पुरूष के एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं।

(2) बहु पति विवाही परिवार- जिसमें एक स्त्री के दो या दो से अधिक पति होते हैं।

3. परिवार की सत्ता, निवास तथा वंश के आधार पर:- इस प्रकार के परिवारों के भी भेद किये जा सकते हैं।

(क) मातृ वंशीय, मातृ स्थानीय और मातृसत्तात्मक परिवार

(ख) पितृ वंशीय, पितृ स्थानीय और पितृ सत्तातमक परिवार

(क) मातृ वंशीय, मातृ स्थानीय और मातृसत्तातमक परिवार— इस प्रकार के परिवार में सन्तानें अपनी माता के वंश के नाम को ग्रहण करते हैं, परिवार में सत्ता माँ के हाथों में होती है तथा विवाहोपरान्त नव दम्पती माँ के ही साथ रहता है।

(ख) पितृ वंशीय, पितृ स्थानीय और पितृ सत्तात्मक परिवार— इस प्रकार के परिवारों में वंश और गोत्र का नाम पिता की ओर से निश्चित होता है, विवाह के बाद पत्नी अपनी पति के घर में आकर निवास करती है तथा सत्ता पति या पिता हाथ में होती है।

6.4 जनजाति की विशेषताएं

जनजाति एक प्रकार का क्षेत्रीय मानव समूह है जिसके सदस्य एक सामान्य भू भाग पर रहते हुये एक भाषा, सामाजिक नियम और आर्थिक कार्य आदि विषयों में एक सामान्य बन्धन में बंधे रहते हैं। इस दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि (1) एक जनजाति अनेक परिवारों के समूहों का संकलन है। (2) प्रत्येक जनजाति की एक भाषा होती है। (3) एक सामान्य नाम से जुड़े

होते हैं (4) एक सामान्य भू भाग पर निवास करते हैं। (5) यह अन्तर्विवाही समूह होते हैं। (6) प्रत्येक जनजाति की अपनी एक संस्कृति होती है। (7) इनका एक अपना राजनैतिक संगठन भी होता है।

6.5 जनजातीय संगठन

संगठन व संरचना के निर्माण करने वाले आधारों में वाह्य रूप से प्रर्याप्त अन्तर देखा जा सकता है परन्तु उनके मूल में निहित भावनाओं में प्रयाप्त समान्ता दिखाई पड़ती है। प्रत्येक जनजाति का प्राय: एक वंशानुगत मुखिया, प्रधान या राजा होता है जो जनजातीय समाज से सम्बन्धित सभी विषयों का निरीक्षक होता है। इस संगठन में बड़े बूढ़ों की एक परामर्श समिति होती है जो मुखिया को समय समय पर संगठन की एकता और सुदृढ़ता के लिए सलाह देती रहती है। समिति का प्रत्येक सदस्य मुखिया की आज्ञा का पालन करता है तथा उसके प्रति निष्ठावान होता है।

भारतीय जनजातियों में युवागृह संगठन को इतना कामुक बना कर प्रस्तुत किया गया है। समाज शास्त्र तथा मानवशास्त्र की पुस्तकों के अतिरिक्त इसके सम्बन्ध तथ्य बहुत कम ही सामने आता है। युवागृह जैसी संस्था आदिम समाजों में सम्पूर्ण विश्व में पायी जाती हैं। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य समाज के कुमार एवम् कुमारियों को उनके समाज की संस्कृति अन्य विषयों की दीक्षा देने से था। भारत में भी सामान्यत: सभी जनजातियों में इस प्रकार के युवा संगठन पाये जाते हैं और वे विभिन्न नामों से प्रसिद्ध हैं। असम के कोंयाक नागा बालकों के युवागृह को 'बान' नाम से पुकारते हैं तथा बालिका युवागृह को 'यो' कहते हैं। ओओं नागा इसको 'अरीचू' तथा मेमिस दो नामों का प्रयोग करते हैं मेमी नागाओं में लड़कों के युवागृह को 'इकूची' तथा महिलाओं के युवागृह को 'इलाइची' कहते हैं। उत्तरी उत्तर प्रदेश के निचले हिमालय क्षेत्र के भोटिया लोगों में भी युवागृह पाये जाते हैं जो इसे 'रगाँग' कहते हैं। छोटा नागपुर की मुण्डा तथा हो जनजातियाँ इसे 'गिटिओरा' नाम से पुकारती है। ओराँव लोग इसे 'जोन्करपा' अथवा ' घुमकुड़िया' मुइया इसे 'छगंरबासा' और गोंड 'गोटुल' कहते हैं।

युवागृह की उत्पत्ति का विषय सदैव विवादास्पद रहा है। हड्सन का विश्वास है कि ये सामुदायिक गृहों के अवशेष हैं। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि युवा गृह बच्चों को यौन सम्बन्धी दृश्य देखने से बचने के लिए जबकि माता पिता यौन समागम में आबद्ध होते थे, किया गया था। अधिकतर युवागृह ग्राम के बाहरी छोर पर बने होते थे। सांयकाल युवक युवागृह में एकत्रित होते थे तथा नृत्यगान, खेल तथा लोक कथाएं जैसे कार्यक्रमों में सम्मिलित होते थे। तथा रात में साथ सोते थे। जहाँ भी युवागृह होता था वहाँ बालक व बालिकाओं को उसका सदस्य बनना पड़ता था।

कुछ विद्वानों का मत हैं कि युवागृह का मुख्य उद्देश्य उनके सदस्यों को जीवन साथी चुनना तथा उन्हें यौन सम्बन्धी शिक्षा देना है। एलविन तथा ग्रिगसन के अनुसार भारतीय युवागृह में अधिक आयु की लड़कियाँ अपने से कम आयु के लड़कों को यौन सम्बन्धी शिक्षा देती हैं तथा यहीं से सदस्य अपना जीवन साथी भी चुन लेते हैं। युवागृह की प्रत्येक गतिविधी को इसके सदस्यों को गोपनीय रखना अनिवार्य होता था क्योंकि प्रेम और यौन सम्बन्धी क्रिया कलाप

NIOS

खूब होते थे। एलविन का विचार है कि मुरिया गोटुल में व्यस्क लड़कियाँ उनसे छोटी आयु के लड़कों को यौन क्रिया की शिक्षा देती थीं और वहां सम्भोग करने के लिए मुखिया की आज्ञा की आवश्यकता नहीं हुआ करती थी। शरीर सम्भोग से गर्भ ठहरने की कम सम्भावना रहती है इसका कारण एलविन के अनुसार कि मुरिया लोगों में विश्वास है कि गोटुल की रक्षा लिंगों नामक देवता के द्वारा होती है जिसके कारण सम्भोग करने पर भी उनकी कृपा से लड़कियों में गर्भ नहीं रहता क्योंकि गोटुल के अन्दर होने वाले शारीरिक सम्भोग से बच्चा उत्पन्न होना स्वयं उस देवता लिंगों के लिए ही असम्मानजनक होगा इसलिए अपनी मर्यादा हेतु लड़कियों के गर्भ नहीं ठहरता। हट्टन तथा मजूमदार ने एलविन के विचारों से पूर्ण रूप से सहमत नहीं हैं इनका विचार है कि युवागृह जनजातियों में शिक्षा की एक महत्वपूर्ण संस्था हैं जहाँ पर उनके सदस्यों को सामाजिक , आर्थिक और धार्मिक जीवन से सम्बन्धित अनेक कार्यों को सिखाया जाता है इसलिए इसे केवल प्रेम एवम् यौन सम्बन्धी कार्य कलापों का केन्द्र मानना उचित न होगा।

6.6 विवाह के स्वरूप

भारतीय जनजातियों में पाये जाने वाले विवाह के स्वरूप को दो भागों में बाँट सकते हैं-

1. एक विवाह
2. बहु विवाह: इसके दो भेद हैं:

(क) बहुपत्नी विवाह

(ख) बहुपति विवाह: इसके भी दो भेद हैं-

(1) भ्रातृबहुपति विवाह

(2) अभ्रातृबहुपति विवाह

1. एक विवाह - एक विवाह, विवाह का वह स्वरूप है जिसमें एक पुरूष केवल एक स्त्री से विवाह करता है। भारतीय जनजातियों का बहुसंख्यक वर्ग एक विवाह का पालन करता है।

2. बहुविवाह- बहुविवाह विवाह का वह स्वरूप है जिसमें एक से अधिक व्यक्तियों से विवाह किया जाता है । भारतीय जनजातियां इस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्धों का अनुसरण करती हैं बहु विवाह के दो पक्ष हैं।

(क) बहुपत्नी विवाह — एक पुरूष का अनेक स्त्रियां से विवाह करना।

(ख) बहुपति विवाह — एक स्त्री का अनेक पुरूषों से विवाह करना। दोनों प्रकार के विवाह की चर्चा प्राय: बहुविवाह के रूप की जाती है। इस विवाह के भी दो स्वरूप हैं।

(1) भ्रातृबहुपति विवाह - जब एकाधिक भाई आपस में मिलकर एक ही स्त्री से विवाह करते हैं तो उसे भ्रातृबहुपति विवाह कहा जाता है।

(2) अभ्रातृबहुपति विवाह - इस प्रकार के विवाह में पतियों को आपस में भाई होना आवश्यक नहीं है स्त्री भाइयों के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति को पति के रूप में चुन सकती हैं।

बहुपति प्रथा के वैवाहिक सम्बन्धों की सबसे बड़ी कठिनाई पितृत्व का निर्धारण । इस कठिनाई के समाधान हेतु जनजातियां कुछ समारोह करते हैं जैसे नीलगिरि पहाड़ियों के टोडा "धनुष और बाण समारोह" सामाजिक दृष्टि से अपने पितृत्व की घोषणा करने हेतु करते हैं इस समारोह में सभी भाई तथा साझे की पत्नी अपने गर्भ के चौथे या पाँचवें महीने में गाँव के शेष लोगों के मध्य एकत्रित होते हैं तथा आम सहमति के परिणामस्वरूप भाइयों में से एक पत्नी को धनुष और बाण की एक जोड़ी भेट करता है। इसे एक घोषणा के रूप में स्वीकार किया जाता है कि यह विशेष भाई जन्म लेने वाले बच्चे का पिता होगा। इस प्रकारमानव कार्यकलापों के इस समागम में समाजशास्त्रीय पितृत्व, जैविक पितृत्व का आधार प्रदान कर देता है।

6.7 विवाह सम्बन्धी निषेध

भारतीय जनजातियों में विवाह संस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए तीन प्रकार के निषेधों का पालन किया जाता है-

(1) निकटाभिगमन निषेध :- प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में अति निकट सम्बन्धियों जैसे पिता और पुत्री, माता और पुत्र, तथा सगे भाई बहिनों में विवाह करना निषिद्ध है। जनजातियों में भी इस प्रकार के विवाह करना पाप माना जाता है।

(2) बहिर्विवाह - इस विवाह के अन्तर्गत एक व्यक्ति को अपने समूह के बाहर विवाह करने की आज्ञा दी गयी है अधिकांशत: एक जनजाति के लोग अपने परिवार, जाति, गोत्र तथा टोटम समूह आदि से बाहर विवाह करते हैं। बहिर्विवाह का कारण निकटतम सम्बन्धियों के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित होने से बचना है।

(3) अन्तर्विवाह :- इस विवाह के अन्तर्गत एक व्यक्ति अपने ही समूह में विवाह करता है। यह समूह एक व्यक्ति की अपनी जाति, उपजाति, जनजाति, भ्रातृदल और यहाँ तक की कभी कभी गोत्र में भी हो सकता है।

6.8 अधिमान्य विवाह

विवाह साथी के चुनाव के सम्बन्ध में कतिपय दूसरे स्वजनों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने को प्रोत्साहित किया जाता है। इन विषयों में वरीयता किसी एक विशेष नातेदार से विवाह करने हेतु व्यक्त की जाती है भारतीयों जनजातियों में प्रचलित अधिमानित विवाहों के कुछ लोकप्रिय प्रकार निम्नलिखित हैं।

1. विलिंग सहोदरज या भ्राता भगिनी संतति विवाह: जब एक भाई के बच्चे एक बहिन के बच्चों से विवाह करते हैं अर्थात विवाह करने वाले दो पक्ष आपस में ममेरे फुफेरे भाई बहन होते हैं तो इसे भ्राता भगिनी संतति कहते हैं।

2. समान्तर सहोदरज विवाह: जब दो भाइयों अथवा दो बहनों के बच्चे आपस में विवाह करते हैं तो इस प्रकार के विवाह को क्रमश: चचेरे भाई बहिनों का और मौसेरे भाई बहनों का विवाह कहा जाता है। भारतीय जन जातियों में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन नहीं पाया जाता।

3. देवर विवाह: जब एक विधवा स्त्री अपने पति के भाई के साथ विवाह करती है तो उसे पति भ्राता विवाह कहते हैं। इसे दो प्रकारों में बॉटा जा सकता है।

(अ) कनिष्ठ देवर अधिकार

(ब) वरिष्ठ या ज्येष्ठ विवाह

जब स्त्री अपने पति के छोटे भाई से विवाह करती है तो यह कनिष्ठ देवर अधिकार होता है तथा बड़े भाई से विवाह वरिष्ठ देवर अधिकार कहलाता है।

4. सांली विवाह या पत्नी भगिनी विवाह : जब एक पुरूष अपनी पत्नी की बहन य बहनों से विवाह करता हैं तो उसे साली विवाह कहते हैं ऐसा उसकी पत्नी की मृत्यु के बाद अथवा उसके जीवन काल में भी हो सकता है इस प्रकार के विवाह के भी दो प्रकार हैं।

(अ) सीमित साली विवाह

(ब) समकालीन या असीमित साली विवाह

सीमित साली विवाह वह विवाह है जिसमें पत्नी की मृत्यु होने पर उसकी बहिन से विवाह किया जाता है जबकि पत्नी के जीवित रहते उसकी अन्य बहिनों से विवाह को समकालीन साली विवाह कहा जाता है।

6.9 जीवन साथी चुनने की पद्धतियाँ

जनजातियों में विवाह साथी चुनने के एकाधिक पद्धतियाँ पायी जाती जिनमें निम्नलिखित विधियां सबसे अधिक लोकप्रिय हैं।

1. **परिवीक्षा विवाह**- इस प्रकार के विाह को आधुनिक कोर्टशिप पद्धति का आदिम स्वरूप कहा जा सकता है। इस पद्धति के अन्तर्गत भावी पति पत्नी कुछ समय के लिए विवाह सम्पन्न होने के पूर्व साथ रहने की अनुमति दी जाती है जिससे वे एक दूसरे के स्वभाव को समझ सकें तथा यौन समागम के अनुभवों को प्राप्त कर सकेंगे। यदि इस अवधि के मध्य दोनों में सामंजस्य हो जाता है तो विवाह सम्पन्न करा दिया जाता है। यदि दोनों एक दूसरे से सामंजस्य नहीं कर पाते तो वे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं तथा पुरूष को लड़की के माता पिता को हानि मूल्य (मुआवजा) देकर सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है।

2. **अपहरण विवाह** - जब कोई पुरूष एक स्त्री को बलपूर्वक उसके गाँव से छीन लेता है और उससे विवाह कर लेता है तो उसे हरण विवाह कहते हैं। इस प्रकार के विवाह को वीरता तथा शौर्य का प्रतीक माना जाता है। भारतीय दंड संहिता के व्यापक प्रयोग तथा बढ़ती हुई चेतना के फलस्वरूप यह रिवाज तेजी से विलुप्त होता जा रहा है। कुछ जनजातियों में इस पद्धति को अभिनयात्मक हरण के रूप में स्थान दिया गया है। जिसमें विवाह सम्बन्ध को अन्तिम रूप देने के पश्चात लड़की के माता पिता दूल्हे से एक निर्धारित स्थान पर आकर उसकी पुत्री का अपहरण करने का निवेदन करते हैं। दिखावटी रूप से दुल्हन भी प्रतीकात्मक प्रतिरोध प्रस्तुत करती है और फिर बाद में विवाह सम्पन्न हो जाता है।

3. **परीक्षा विवाह** - इस प्रकार के विवाह में व्यक्तिगत साहस तथा शौर्य किसी नवयुवक में वांछित योग्यता के रूप में स्वीकार की जाती है भावी दुल्हे को, इससे पहले कि वह मनचाही लड़की का हाथ मांगने का दावा करे, अपनी शक्ति को सिद्ध करना पड़ता है यह विधा मीलों में अधिक लोकप्रिय है। होली के त्योहार के समय कुंआरे तथा कुंवारियाँ, एक खम्भे या खजूर के पेड़ के चारों ओर जिसके एक सिरे पर एक नारियल तथा गुड़ बांधा होता है, लोकनृत्य करते हैं। सभी युवकों व युवतियों को इस नृत्य में भाग लेने की स्वतंत्रता होती है जिसे स्थानीय तौर पर "गोल गदेदों" कहते हैं लड़कियां पेड़ के चारों ओर नर्तकियों का एक आन्तरिक घेरा बना लेती हैं जब कोई युवक घेरे को तोड़ते हुये नारियल को तोड़ने का प्रयास करता है तो युवतियां अपनी पूरी शक्ति से उसका प्रतिरोध करती हैं आकांक्षी युवक को अनेक चोटें भी जा जाती हैं किन्तु इसे सही नियत से लिया जाता है यदि इन बाधाओं के बावजूद एक साहसी युवक नारियल या गुड़ खाने में सफल हो जाता है तो उसे घेरा बनाने वाली लड़कियों में से किसी को भी अपनी पत्नी के रूप में मांगने का अधिकार होता है।

4. **क्रय विवाह**- क्रय द्वारा विवाह की पद्धति सम्पूर्ण जनजातीय भारत में वैवाहिक सम्बन्धों के एक लोकप्रिय तरीके के रूप में प्रचलित है इस प्रकार के विवाह में वधू प्राप्त करने के लिए वधू के माँ बाप या उसके सम्बन्धियों को कुछ धनराशि वधू मूल्य के रूप में देनी होती है परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वधू का व्यवसाय किया जाता है बहुत से समाजों में यह मूल्य एक प्रतीक के रूप में होता है।

5. **सेवा विवाह** - वधु मूल्य के पूरे भुगतान से बचने का एक दूसरा तरीका है जिसमें भावी दूल्हा, दुल्हन के घर पर सेवा करके इसे पूरा करता है। अर्थात दामाद अपने भावी सास ससुर के घर जा कर नौकर के रूप में सेवा करता हे और उसके बदले में उसकी पुत्री को पत्नी के रूप में प्राप्त करता है।

6. **विनिमय विवाह** - इस विवाह का विकास प्रमुखत: दुल्हन के ऊँचे मूल्य से बचने के साधन के रूप में हुआ। इस विवाह में दो परिवार आपस में स्त्री का लेन देन कर लें। एक भाई की शादी के लिए दूसरे परिवार में उसकी बहिन दे दी जाती है और बदले में बहिन के पति की बहिन से विवाह कर लिया जाता है।

7. **सहमति या सह पलायन द्वारा विवाह** - बाल विवाह प्रथा जनजातियों सामान्यत: कम रही हैं अधिकांशत: युवक युवतियों की सहमति से ही विवाह होते हैं और मां बाप उनके निर्णय का अनुमोदन कर देते हैं। जिन जनजातियों में युवा गृहों का प्रचलन है उनमें बालक और बालिकाएं स्वतंत्र रूप से अपने जीवन साथी का चुनाव कर लेते हैं। परन्तु यदि माता पिता को विवाह के लिए सहमति नहीं प्राप्त होती तो भाग कर विवाह करना ही एक मात्र रास्ता बचता है। पलायन किये हुए प्रेमी जोड़े को लोग गाँव लौटा लेते हैं तो उन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार की विवाह पद्धति अक्सर बहुत ऊँचे वधु मूल्य के कारण भी दिखाई पड़ती है।

8. **हठ या पैठू विवाह** - इस प्रकार के विवाह में लड़की किसी अनिच्छुक युवा से विवाह करने की अभिलाषा रखती है इस प्रकार इच्छुक लड़की अनिच्छुक दुल्हा तथा उसके माता पिता के घर पर जबरन रहने लगती हैं वह भावी पति तथा उसके माता पिता की सेवा करती है। किन्तु उसके बदले उसे अपमानित किया जात है और उसे कष्ट भी दिया जाता है

NMDC-102

यदि वह अपने इरादों में दृढ़ बनी रहती है तो अन्ततः वह घर की बहू के रूप में स्वीकार कर ली जाती है।

6.10 पूर्व-वैवाहिक तथा अतिरिक्त -वैवाहिक यौन-सम्बन्ध

विश्व की अनेका अनेक जनजातियों में विवाह से पूर्व या विवाह सम्बन्ध के बाहर अपनी लैंगिक तृप्ति की काफी स्वतंत्रता एवम् अवसर रहते हैं। यह जनजातियां इस प्रकार की स्वतंत्रता को इसलिए आवश्यक मानते हैं कि इनके बिना युवक युवतियों पारस्परिक सहयोग तथा प्रेम दृढ़ नहीं दे सकता। विवाह के पूर्व लड़कियों के कौमार्य की रक्षा आवश्यक नहीं माना जाता। जिन जनजातियों में युवागृह पाये जाते हैं उनका उद्देश्य युवक युवतियों को यौन सम्बन्धी शिक्षा दी जाय तथा विवाह साथी चुनने का अवसर प्राप्त हो। इसी प्रकार उराँव जनजाति में प्रत्येक कुंवारे लड़के की एक प्रेमिका होती थी जिसे पिल्लो कहा जाता था।

मध्य भारत की जनजातियों में पूर्व वैवाहिक यौन सम्बन्ध स्थापित करने की स्वतंत्रता रहती है बशर्ते लड़की गर्भवती न हो जाय। क्योंकि गर्भवती होना लड़की के माता पिता के लिए लज्जाजनक माना जाता है। ऐसी अवस्था में लड़की को उसी व्यक्ति से विवाह करना पड़ता है जिसका बच्चा है।

पूर्व वैवाहिक यौन सम्बन्ध के अतिरिक्त भारतीय जनजातीय समाजों में अतिरिक्त वैवाहिक यौन सम्बन्ध के भी उदाहरण मिलते हैं। कोनयक नामी जनजाति में विवाह के उपरान्त भी स्त्रियां अन्य पुरूषों से यौन सम्बन्ध बनाये रख सकती हैं यहाँ तक कि वे अपने ससुराल तब तक नहीं जाती जब तक पिहर में उनके एक बच्चा पैदा न हो जाता हो। जनजाति माघी पर्व पर और उराँव जनजाति 'खद्दी' पर्व पर स्त्रियों और पुरूषों को यौन सम्बन्ध स्थापित करने की छूट रहती है। इसी प्रकार थारू जनजाति के पुरूष, अगर उनकी पत्नियाँ इधर उधर यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं तो उसे अपराध नहीं मानते। देहरादून जिले के ''खस'' जनजाति में यौन सम्बन्धी दोहरा मानदण्ड पाया जाता है। जब वधु (रात्ती) अपने ससुराल में रहती है तो उसे यौन सम्बन्धी नियमों को कठोरता से पालन करना पड़ता है परन्तु जब वही स्त्री अपने मायके आती है तो लड़की (ध्यान्ती) के रूप में उसे यौन सम्बन्धी स्वतंत्रता मिल जाती है और वह एकाधिक पुरूषों से यौन सम्बन्ध स्थापित करती है।

6.11 विवाह विच्छेद

लगभग सभी आदिम जातियों में विवाह विच्छेद का प्रावधान है। हिन्दुओं के विपरीत, भारतीय जनजातियों में विवाह एक धार्मिक संस्कार नहीं है।

अतः तलाक जनजातियों में केवल सम्भव ही नहीं अपितु व्यवहारिक रूप में प्रचलित है। इसे सरलता से प्राप्त किया जा सकता है यदि दोनों पक्ष विवाह सम्बन्ध को आगे कायम नहीं रखना चाहते हैं किन्तु तलाक का आधार विभिन्न जनजातियों में अलग अलग प्रकार के हैं जैसे जीवन साथी के दुश्चरित्र, बाँझ, नपुंसक, निर्दयी, बीमार अथवा जादुई क्रियाओं में संलग्न होने आदि की दशा में उसे तलाक देने की स्वीकृति होती है। खासी लोग व्यभिचार बाँझपन तथा स्वभाव में असंगति के कारण तलाक की अनुमति दे देते हैं। कुछ जनजातियों में

तलाक के इच्छुक पक्ष को दूसरे पक्ष को मुआवजा देना पड़ता है तथा ऐसे लोगों को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं देती। गोंड, खारिया आदि वैवाहिक विश्वासघात बाँझपन के आधार पर स्वतंत्र रूप से तलाक की छूट देते हैं। विधवा पुर्नविवाह भारत की लगभग सभी जनजातियों में प्रचलित हैं।

6.12 सारांश

समाज चाहे आदिम हो या सभ्य, परिवार का होना आवश्यक है, क्योंकि परिवार की अनुपस्थिति में समाज का अस्तित्व और निरन्तरता सम्भव नहीं है। आदिम समाज में परिवार के विभिन्न स्वरूप देखने को मिलते हैं। जनजातियों में विवाह न तो धार्मिक संस्कार हैं और न ही जन्म जन्मान्तर का सम्बन्ध इस कारण से उनमें अपना जीवन साथी चुनने की अनेक रीतियाँ पायी जाती हैं। इनमें से अनेक प्रकार के विवाहों का प्रचलन उनके पर्यावरण और आर्थिक जीवन से सम्बन्धित हैं। जनजातियों में यौन सम्बन्धी अनुज्ञायें काफी शिथिल हैं फिर भी सामान्य रूप से आज सभ्य समाज के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उनमें भी विवाह सम्बन्धों में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता जा रहा है।

6.13 सन्दर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

हसनैन नदीम, 1991 ट्राइबल इण्डिया, पालिका प्रकाशन न्यू दिल्ली

कपाडिया, के. एम. 1961 मैरिज एण्ड फेमली इन इण्डिया, बम्बई

दुबे, एस. सी. 1960 मानव एण्ड संस्कृति दिल्ली

गिलिन एण्ड गिलिन, 1950 कलचरल सोशियोलाजी, द मैकमिलन कम्पनी, न्यू यार्क

मजूमदार डी. एन., 1958 रेस एण्ड कलचर आफ इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।

6.14 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय -

1. भारतीय जनजातियों के परिवार का उल्लेख कीजिए।
2. भारतीय जनजातियों में प्रचलित विवाह के सवरूपों की विवेचना कीजिए।
3. जनजातीय विवाह विच्छेद पर एक टिप्पणी लिखिए।

लघु उत्तरीय -

1. जनजातियों में विवाह सम्बन्धी निषेध बताएं।
2. जनजातियों के परिवार में भेद के मुख्य आधार बताएं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. जनजातियों में जीवन साथी के चयन के लोकप्रिय विधियाँ कितनी हैं?

   (अ) 1 (ब) 5 (स) 8 (द) 11 (उत्तर (स))

NMDC-102

इकाई 7 संयुक्त परिवार : अवधारणा, विशेषताएं, उपादेयता, परिवर्तन के कारक

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 संयुक्त परिवार: परिभाषा एवं अवधारणा

7.2.1 संयुक्त परिवार की प्रकृति

7.3 संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएं

7.3.1 संयुक्त परिवार के प्रकार

7.4 संयुक्त परिवार के प्रकार्य

7.5 संयुक्त परिवार के दोष

7.6 संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारक

7.6.1 आर्थिक कारक

7.6.2 भावनात्मक शक्तियां

7.6.3 नये सामाजिक कानून

7.6.4 उदीयमान प्रवृत्तियाँ

7.7 संयुक्त परिवार में संरचनात्मक परिवर्तन

7.8 संयुक्त परिवार में अन्तर्क्रियात्मक परिवर्तन

7.9 सारांश

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.11 संबंधित प्रश्न/ उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपके द्वारा सम्भव होगा:

* संयुक्त परिवार की अवधारणा और परिभाषा को समझ सकेंगे।
* संयुक्त परिवार के प्रकार्यों एवं दोषों को जान सकेंगे।
* संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारकों की व्याख्या कर सकेंगे।
* संयुक्त परिवार में संरचनात्मक एवं अन्त: क्रियात्मक परिवर्तनों को जान सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

भारतीय सामाजिक संरचना की एक विशेषता के रूप में यहाँ संयुक्त परिवार का प्राचीन काल से ही महत्व रहा है। भारत में परिवार का शास्त्रीय स्वरूप संयुक्त परिवार रहा है। मैक्समूलर ने संयुक्त परिवार को "आदि परम्परा" कहा है। संयुक्त परिवार की अवधारणा में जैविकीय पक्ष पर जोर न देते हुये सह निवासिता, सह परिवार पूजा, सह सम्पत्ति और कोई नातेदारी सम्बन्ध पर बल दिया गया है। यद्यपि संयुक्त परिवार व्यक्तियों के लिए सामाजिक बीमा का कार्य करता रहा है, परन्तु साथ ही इस संस्था ने इसी कारण सामाजिक पर जीवीपन को भी प्रोत्साहित किया है। प्रत्येक सदस्य के साथ समानता का व्यवहार होने के कारण प्रतिभाशाली व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधा रही है। अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि हुई है। इस सन्दर्भ में विभिन्न आर्थिक और वैधानिक कारकों के माध्यम से संयुक्त परिवार में होंने वाले अन्त: क्रियात्मक एवं संरचनात्मक परिवर्तनों पर इस इकाई में प्रकाश डाला गया है।

इस इकाई के भाग 8.2 में संयुक्त परिवार की परिभाषा एवं अवधारणा दी गई है । भाग 8.2.1 संयुक्त परिवार की प्रकृति की व्याख्या की गई है भाग 8.3 का शीर्षक संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएं हैं।

इस इकाई के भाग 8.4 एवं भाग 8.5 में क्रमश: संयुक्त परिवार के प्रकार्यों एवं दोषों की चर्चा की गई है। भाग 8.6 में संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारकों का उल्लेख किया गया है।

इस इकाई के भाग 8.7 में संयुक्त क्रियात्मक परिवर्तन का विवेचन किया गया है भाग 8.9 में सारांश संक्षेप है

7.2 संयुक्त परिवार: परिभाषा एवं अवधारणा

किसी भी समाज की संरचना को समझने के लिए परिवार व्यवस्था वह महत्वपूर्ण इकाई है जिसके आधार पर ही व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा सामाजिक सांस्कृतिक प्रतिमानों को समझा जा सकता है। वास्तव में भारत में संयुक्त परिवार वैदिक काल से ही रहे हैं। आज इनके स्थान पर मूल परिवारों की संख्या में वृद्धि हो जाने के बाद भी ऐसे परिवार पश्चिमी देशों के मूल परिवारों की तरह न होकर संयुक्त परिवार के आदर्शों से मिलते जुलते हैं।

के. एम. परिक्कर का यह कथन इस संस्था के महत्व को दर्शाता है कि "हिन्दू समाज की इकाई व्यक्ति नहीं बल्कि संयुक्त परिवार है"।

हिन्दुओं के साथ साथ अहिन्दुओं में संयुक्त परिवार की पारिवारिक व्यवस्था पायी जाती रही है।

संयुक्त परिवार एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें अनेक पीढ़ियों (सामान्य तौर पर तीन पीढ़ियों) के व्यक्ति एक ही घर में रहते हुये संयुक्त रूप से अपने दायित्वों की पूर्ति करते हैं। प्रो. इरावती कर्वे ने अपनी पुस्तक "किनशिप आर्गेनाइजेशन इन इण्डिया" में संयुक्त परिवार को परिभाषित करते हुये लिखा है "एक संयुक्त परिवार ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो सामान्यत: एक ही घर में रहते हैं, जो एक ही रसोई में बना भोजन, करते हैं, जो सम्पत्ति के

NIOS-102

सम्मिलित स्वामी होते हैं। व जो सामान्य पूजा में भाग लेते हैं और जो किसी न किसी प्रकार से एक दूसरे के रक्त सम्बन्धी हों।''

आई. पी. देसाई के अनुसार ''हम उस गृह को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें एकांकी परिवार से अधिक पीढ़ियों (अर्थात तीन या अधिक) के सदस्य रहते हैं और जिसके सदस्य एक दूसरे से सम्पत्ति, आय और पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्यों द्वारा सम्बद्ध हों''।

डा. श्यामाचरण दुबे के अनुसार ''यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों, उनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों जो सम्पत्ति के सम्मिलित स्वामी तो उन्हें सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।''

इस प्रकार संयुक्त परिवार से हमारा तात्पर्य ऐसे परिवार से है जिसमें कई पीढ़ियों के लोग एक साथ निवास करते हैं जिनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है परिवार के सभी सदस्य भोजन, उत्सव, त्योहार और पूजन में सामूहिक रूप से भाग लेते हैं और परस्पर अधिकारों और कर्तव्यों से बंधे होते हैं।

संयुक्त परिवार शब्द में संयुक्तता की धारणा की विभिन्न विद्वानों ने विविध रूप में विवेचना की है।

जैसे इरावती कर्वे ने संयुक्तता के लिए सहनिवास को आवश्यक माना है तो कुछ विद्वान (वी.एस. कोहन, एस.सी.दुबे, हैरोल्ड मूल्ड पालिन कोलेण्डा) सह निवास तथा सह भोजन दोनों को संयुक्तता के लिए आवश्यक मानते हैं। जबकि कुछ विद्वान (एफ.जी.बेली, टी.एन.मदान) संयुक्त सम्पत्ति स्वामित्व को अधिक महत्व देते हैं भले ही उनके निवास अलग अलग हों तथा सम्पत्ति में सहस्वामित्व न हो।

कपाड़िया (1960) का मानना है कि हमारा आदि परिवार केवल संयुक्त या पितृसत्तात्मक ही नहीं था, इसके साथ साथ हमारे परिवार व्यक्तिश: (Individual) भी होते थे।

व्यक्तिवादिता की प्रवृत्ति के बाद भी परिवार का संयुक्त तथा सगोत्तक स्वरूप बना हुआ है । कर्वे ने परम्परागत परिवार की पॉच विशेषताएं बताई हैं।

सह निवास, सह रसोई, सह सम्पत्ति, सह पूजा तथा कोई नातेदारी सम्बन्ध/ इस प्रकार कर्वे का संयुक्तता का आधार है आकार, निवास, सम्पत्ति, आमदनी।

आई.पी. देसाई का मानना है कि सह निवास तथा सह रसोई को संयुक्त परिवार की परिसीमा के लिए आवश्यक समझना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा करने पर संयुक्त परिवार को सामाजिक सम्बन्धों का समुच्चय एवं प्रकार्यात्मक इकाई नहीं माना जायेगा। उनका कहना है कि एक घर के सदस्यों के बीच के आपसी सम्बन्धों तथा अन्य घरों के सदस्यों के साथ सम्बन्धों पर ही परिवार से अलग देखने के लिए भूमिका सम्बन्धों के अन्तर को एवं विभिन्न नातेदारों के बीच व्यवहार के मानदण्डीय प्रतिमान को समझना पड़ेगा। इनकी मान्यता है कि जब दो एकाकी परिवार नातेदारी सम्बन्धों के होने पर भी अलग अलग रहते हों लेकिन एक ही व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में रहते हों तो वह परिवार संयुक्त परिवार होगा इस परिवार को देसाई ने प्रकार्यात्मक संयुक्त परिवार (Functional Joint Family) कहा है। आवासीय

NMDC-102

संयुक्त परिवार में जब तक तीन या अधिक पीढ़ियां न रह रही हों तब तक यह परम्परात्मक संयुक्त परिवार नहीं हो सकता। उसके अनुसार दो पीढ़ियों का परिवार सीमान्त संयुक्त परिवार (Marginal joint family) कहलायेगा। इस प्रकार देसाई ने संयुक्त परिवार के तीन आधार माने हैं। पीढ़ी की गहराई, अधिकार और दायित्व, तथा सम्पत्ति। (आहूजा, 1995 : 22-24)

3.2.1 संयुक्त परिवार की प्रकृति

संयुक्त परिवार की अवधारणा के प्रति विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

आई. पी. देसाई (1964:153-156) ने 1956 और 1958 के बीच किये गये 423 परिवारों के सर्वेक्षण के आधार पर परिवार के दो भिन्न भिन्न वर्गीकरण दिये हैं (1) पीढ़ियों की गहराई को लेकर सदस्यों के बीच सम्बन्धों पर आधारित। (2) अन्य परिवारों के सदस्यों के साथ सम्बन्धों के आधार पर देसाई ने पाँच प्रकार के परिवार बताये हैं: एकल, प्रकार्यात्मक रूप से संयुक्त प्रकार्यात्मक तथा धन के आधार पर संयुक्त, सीमान्त संयुक्त और पारम्परिक संयुक्त।

कपाड़िया ने भी पाँच प्रकार के परिवार बताये हैं।

(1) एकाकी परिवार अविवाहित पुत्रों के साथ

(2) एकाकी परिवार विवाहित पुत्रों के साथ

(3) समरेखीय (Lineal) संयुक्त परिवार

(4) भिन्न शाखाई (Colateral) संयुक्त परिवार

(5) आश्रितों के साथ परिवार

एम.एस.गोरे का मानना है कि संयुक्त परिवार की व्याख्या में सही दृष्टिकोण यह है कि इसे एकाकी परिवारों की बहुलता मानने के स्थान पर इसे पुरूष सहसम्पत्ति भागियों तथा उनके आश्रितों का परिवार माना जाये, क्योंकि पहली दृष्टि से वैवाहिक संबंधों पर बल दिया जाता है जब कि दूसरी दृष्टि से संयुक्त परिवार में माता पिता व उनकी संतान एवं भ्रातृक (filial and fraternal) संबंधों पर बल देना अधिक तर्क संगत है।

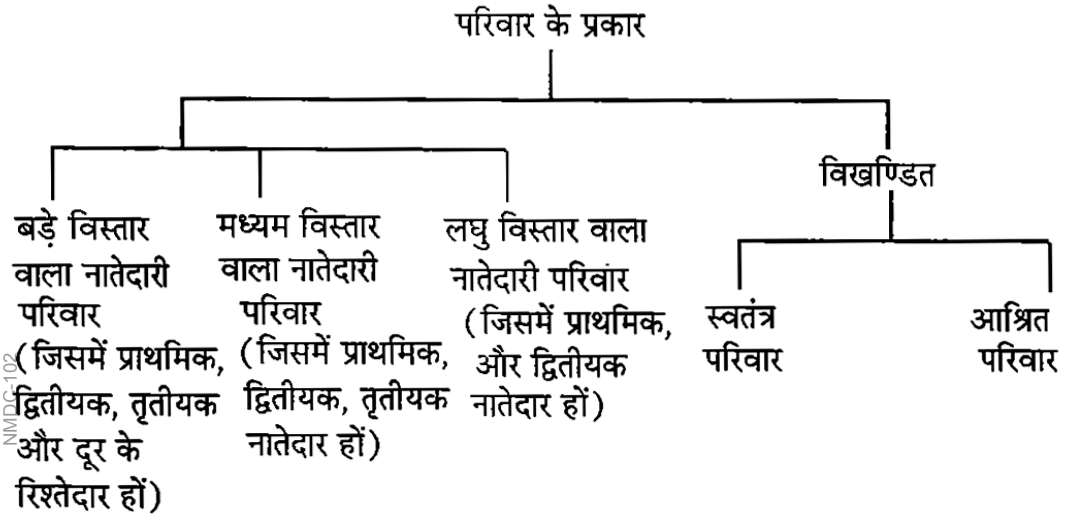

NMDG-102

7.3 संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएं

संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं।

1. सत्तात्मक संरचना (Authoritarian structure) :

सत्तात्मकता का यहां अर्थ है कि निर्णय तथा निश्चय करने की शक्ति एक व्यक्ति में होती है जिसकी आज्ञा का पालन बिना चुनौती के होनी चाहिए।

प्रजातंत्रीय परिवार में सत्ता जबकि एक या एक से अधिक लोगों में निहित होती है। जिसका आधार दक्षता और योग्यता होता है सत्तात्मक परिवार में परम्परा से सत्ता, आयु, एवं वरिष्ठता के आधार पर सबसे बड़े पुरूष के पास ही होती है पविार का मुखिया अन्य सदस्यों को थोड़ी ही स्वतंत्रता देता है और निर्णय प्रक्रिया में उसका निर्णय ही अन्तिम होता है। लेकिन जनतन्त्रीय परिवार में मुखिया का कर्तव्य होता है कि वह अन्य सदस्यों की सलाह ले और कोई भी निर्णय करने से पूर्व उनकी राय को पूर्ण महत्व प्रदान करे।

2. आयु और संबंधों के आधार पर सदस्यों की प्रस्थिति का निर्धारण (Determination of status of members by their age and relationship) :

परिवार के सदस्यों की प्रस्थिति का निर्धारण उनकी आयु और संबंधों द्वारा निश्चित होता है। पति का पद पत्नी से ऊँचा होता है। दो पीढ़ियों में ऊँची पीढ़ी वाले व्यक्ति की प्रस्थिति निम्न पीढ़ी के व्यक्ति की प्रस्थिति से अधिक ऊँची होती है लेकिन उसी पीढ़ी में बड़ी आयु वाले व्यक्ति की प्रस्थिति कम आयु वाले व्यक्ति की प्रस्थिति से ऊँची होती है। पत्नी की प्रस्थिति उसके पति की प्रस्थिति से निश्चित होती है।

3. सन्तान तथा भ्रातृक सम्बन्धों की दाम्पत्य संबंधों पर वरीयता (Filial and fraternal relationships gets preference over conjugal relationship):

रक्त सम्बन्धों को वैवाहिक सम्बन्धों की अपेक्षा वरीयता प्रदान की जाती है। अर्थात पति पत्नी के सम्बन्ध (Conjugal) पिता पुत्र (Filial) या भाई-2 (fraternal) सम्बन्धों की अपेक्षा निम्न माने जाते हैं।

4. सामान्य सामाजिक प्रकार्य (Common Social functions) :

कपाड़िया ने सामान्य सामाजिक कार्यों को महत्वपूर्ण माना है। अर्थात सामाजिक कार्यों के लिए परिवार को एक व्यक्ति माना जाता है और उनका एक प्रतिनिधि ही सारे परिवार की तरफ से भाग लेता है जो अधिकांशत: मुखिया होता है चाहे वह जाति पंचायत की सभा हो या फिर विवाह, मृत्यु भोज आदि।

5. वरिष्ठता के सिद्धान्त के आधार पर सत्ता-निर्धारण (Determination of authority on principle of seniority):

परिवार में (स्त्री-पुरूषों, पुरूषों - पुरूषों, स्त्री-पुरूषों के) बीच के सम्बन्धों का निर्धारण वरीयता क्रम के अनुसार निर्धारित होता है। यद्यपि सबसे बड़ी आयु का पुरूष किसी दूसरे

को सत्ता सौंप सकते हैं लेकिन यह भी वरीयता के सिद्धान्त पर ही होगा, जिससे व्यक्तिवाद की भावना विकसित न हो सके।

6. सहयोगी व्यवस्था (Co-operative system):

संयुक्त परिवार पारस्परिक सहयोग पर निर्भर करता है। इसके अभाव में सदस्यों का विभाजन हो जाता हैं प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करे। साथ ही उसे उसकी आवश्यकतानुसार परिवार से प्राप्त होता रहता है। संयुक्त परिवार में एक सब के लिए सब एक के लिए वाला सिद्धान्त लागू होता है।

कुछ अन्य महत्वपूर्ण विशेषताएं इस प्रकार हैं-

1. सामान्य निवास (Common Residence)
2. सामान्य रसोईघर (Common Kitchen)
3. सामान्य सम्पत्ति (Common Property)
4. सामान्य धार्मिक कर्तव्य (Common religious duties)
5. रक्त सम्बन्ध से सम्बन्धित (Related to kindered)
6. बड़ा आकार (Large size)
7. अधिकारों और कर्तव्यों पर आधारित व्यवस्था (System based on rights and obligations)

7.3.1 संयुक्त परिवार के प्रकार

भारत में संयुक्त परिवार के अनेक रूप विद्यमान हैं। सत्ता, वंश, स्थान, पीढ़ियों की गहराई व सम्पत्ति में अधिकार, आदि की दृष्टि से परिवार के निम्नांकित रूप पाये जाते हैं।

(1) सत्ता, वंश और स्थान के आधार पर :-

(क) पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय, एवं पितृ स्थानीय परिवार:

उपर्युक्त प्रकार के संयुक्त परिवार में पिता ही परिवार का केन्द्र बिन्दु होता है अर्थात इस प्रकार के परिवारों में पिता का स्थान प्रमुख होता है तथा वंश परम्परा का चलन उसी के नाम के आधार पर होता है। ऐसे परिवारों में पत्नियाँ अपने पति के घर पर ही निवास करती हैं एवं पुरूष पक्ष के तीन चार पीढ़ियों के सदस्य एक साथ निवास करते हैं।

(ख) मातृसत्तात्मक, मातृवंशीय एवं मातृस्थानीय परिवार:

इस प्रकार के परिवारों में माता का स्थान प्रमुख होता है। परिवार की सम्पत्ति पर माँ का स्वामित्व होता है, एवं उत्तराधिकार माता से पुत्रियों को मिलता है। वंश परम्परा से चलन का आधार भी माता होती है अर्थात वंशनाम माता से पुत्रियों को मिलता है। खासी, गारो, जयन्तिया तथा केरल के नायर ऐसे संयुक्त परिवार का प्रतिनिधित्व करते हैं।

नायर संयुक्त परिवार को तारवाड़ कहा जाता है, जिसका विघटन हो रहा है, और तावझी : अर्थात एकाकी परिवार का विकास हो रहा है।

2. पीढ़ियों की गहराई के आधार पर

(अ) संयुक्त परिवार का उग्र प्रारूप (Vertical model of joint family)

इस प्रकार के संयुक्त परिवारों में एक ही वंश के कम से कम तीन पीढ़ियों के लोग एक साथ निवास करते हैं। जैसे - दादा-पिता-अविवाहित पुत्री और पुत्र

(ब) संयुक्त परिवार का क्षैतिज स्वरूप (Horizontal form of joint family)

इस प्रकार के परिवारों में भाई का सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण है अर्थात ऐसे परिवारों में दो से अधिक भाइयों के एकाकी परिवार एक साथ निवास करते हैं।

(स) संयुक्त परिवार का मिश्रित स्वरूप (Mixed form of Joint family)

संयुक्त परिवार का एक रूप उपर्युक्त दोनों प्रकार के परिवार का मिश्रित रूप है, जिसमें दो या तीन पीढ़ियों के सभी भाई सम्मिलित रूप से निवास करते हैं।

3. सम्पत्ति में अधिकार की दृष्टि से

सम्पत्ति में अधिकार की दृष्टि से हिन्दू संयुक्त परिवार को मिताक्षरा एवं दायभाग दो भागों में बॉटा जा सकता है।

(1) मिताक्षरा संयुक्त परिवार : विज्ञानेश्वर द्वारा लिखित मिताक्षरा टीका पर आधारित है बंगाल और असम को छोड़कर प्रत्येक जगह मिताक्षरा संयुक्त परिवार पाये जाते हैं। इस प्रकार के परिवारों की मुख्य विशेषताएं हैं। कि - (अ) पुत्र को जन्म से ही पिता की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त हो जाता है। (ब) स्त्रियों को सम्पत्तियों में कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता है (स) एक व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर यदि उसके पुत्र पौत्र आदि नहीं हैं तो भाई मिलकर बॉट लेंगे। (द) पुत्र पिंता के जीवित रहते भी कभी भी अपने हिस्से की मांग कर सकते हैं।

दायभाग संयुक्त परिवार : इसके नियम जीमूतवाहन द्वारा लिखित दायभाग ग्रन्थ पर आधारित है। इस प्रकार के परिवार बंगाल और असम में पाये जाते हैं। इनकी मुख्य विशेषताएं हैं - (अ) पिता के मरने के बाद ही पुत्र का सम्पत्ति का अधिकार होता है। (ब) पिता के जीवित रहते पुत्र सम्पत्ति के बटवारे की मांग नहीं कर सकता है। (स) पिता सम्पत्ति का निरंकुश अधिकारी होता है (द) पिता के मरने पर पुत्र न होने पर उसकी सम्पत्ति उसकी पत्नी को मिलती है। (य) इसमें पुरूष के साथ साथ स्त्रियाँ भी सम्पत्ति की अधिकारिणी होती हैं।

उपरोक्त तीनों वर्गीकरण को निम्न चित्र के माध्यम से सरलता से समझा जा सकता है (चित्र-1)

NMDC-102

विद्या

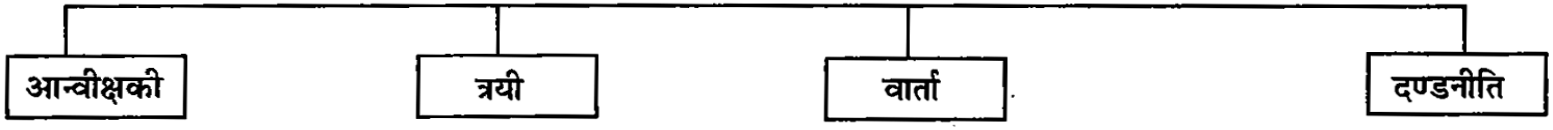

- सांख्य, योग और लोकायत दर्शन का ज्ञान।
- सब विधाओं का प्रदीप सभी कार्यों का साधन और सब धर्मों का आश्रय।

- धर्म - अधर्म का त्रान
- साम्, ऋक् और यजु तीनों वेदों का समन्वय
- चारों वर्णों और चारों आश्रमों को स्थिर रखने में समर्थ।

- अर्थ अनर्थ का ज्ञान
- वार्ता विषय-कृषि, पशुपालन और वाणिज्य

- शासन सुशासन का ज्ञान
- सभी प्राणियों को वश में करने वाली विद्या।

7.4 संयुक्त परिवार के प्रकार्य

प्रत्येक सामाजिक संस्था का विकास एक समाज विशेष की परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार होता है। भारत सदैव से एक ग्राम प्रधान समाज रहा है। इस समाज की खेतिहर व्यवस्था में जहाँ व्यक्तियों के आर्थिक साधन सीमित होते हैं, वहीं उनके बीच पारस्परिक सहयोग तथा सामाजिक सुरक्षा का होना आवश्यक होता है।

1. सामाजिक सांस्कृतिक क्षेत्र में कार्य :

(अ) सामाजिक सुरक्षा : संयुक्त परिवार का सबसे बड़ा गुण इसके द्वारा प्रत्येक सदस्य को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना है। संयुक्त परिवार एक ऐसी व्यवस्था है जो प्रत्येक सदस्य को बेरोजगारी बीमारी, दुर्घटना में पूर्ण सुरक्षा प्रदान करता है।

2. समाजीकरण का कार्य :

संयुक्त परिवार में बच्चों के पालन पोषण तथा उनके समाजीकरण का कार्य उन वृद्ध सदस्यों की देख रेख में होता है जिन्हें जीवन का लम्बा अनुभव प्राप्त होता है। संयुक्त परिवार आरम्भ से ही बच्चों की सेवा, अनुशासन त्याग जैसे गुणों के आधार पर व्यवहार करना सिखाते हैं। इन्हीं व्यवहारों के फलस्वरूप परिवार का भावी जीवन संगठित बना रहता है।

3. संस्कृति का प्रशिक्षण :

इस व्यवस्था ने व्यक्ति को धार्मिक आचरणों, वैवाहिक नियमों, शिष्टाचार के तरीकों, तथा सामाजिक मूल्यों की सीख प्रदान करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परिवार के जो सदस्य अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं तथा सामाजिक मूल्यों के विरूद्ध कार्य करते हैं(

4. स्वस्थ मनोरंजन :

परिवार में बच्चों का एक दूसरे के साथ खेलना, स्त्रियों द्वारा विभिन्न अवसरों पर उत्सवों की व्यवस्था करना, संध्याकालीन हंसी-मजाक आदि संयुक्त परिवार में मनोरंजन के प्रमुख साधन हैं।

II. आर्थिक क्षेत्र में कार्य :

1. अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति :

इन परिवारों में सम्पत्ति किसी एक व्यक्ति की न होकर परिवार के सभी सदस्यों की होती है इस स्थिति में परिवार का कोई सदस्य चाहे कितनी भी कम या अधिक आजीविका उपार्जित करता हो प्रत्येक सदस्य को इतनी सुविधाएं अवश्य दी जाती हैं जिससे वह अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

2. सम्पत्ति के विभाजन से रक्षा:

संयुक्त परिवार की सम्पत्ति अविभाजित होती है, यदि कोई सदस्य अपने संयुक्त परिवार को छोड़कर बाहर चला जाय, तो उसे परिवार की सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं दिया जाता है। इसके फलस्वरूप परिवार के सामान्य कोष तथा सम्पत्ति में से सभी व्यक्तियों की आवश्यकताएं पूरी होती रहती हैं ग्रामीण अर्थव्यवस्था में संयुक्त परिवार की इस विशेषता से

कृषि भूमि को अनेक टुकड़ों में विभाजित होने में मदद मिलती है।

इन्हीं लाभों के कारण कहा जाता है कि परम्परागत संयुक्त पारिवारिक जीवन बालपन में विद्यालय, यौवन में सुरक्षा कवच, वृद्धावस्था में सान्त्वना तथा हर समय सम्मानीय संस्था है।

7.5 संयुक्त परिवार के दोष

संयुक्त परिवार के अनेक लाभों के होते हुये भी कुछ दोषों के कारण यह व्यवस्था दिन प्रतिदिन कमजोर होती जा रही है। प्रथमत: संयुक्त परिवार पराश्रित (parasites) एवं निकम्मे (Drones) लोगों को जन्म देता है। कुछ सदस्य यह सोच कर बिलकुल काम नहीं करते हैं कि परिवार के अन्य लोग उनको पोषण आदि देने के लिए हैं ही ऐसा इसलिए कि संयुक्त परिवार "सबके लिए एक और सब एक के लिए" के सिद्धान्त पर कार्य करता है। यह स्थिति कई संदेहों और झगड़ों को जन्म देती है। जिससे सदस्यों के सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध व परिवार का संगठन ही समाप्त हो जाता है। द्वितीयत: संयुक्त परिवार व्यक्तिवाद रोकता है युवक अपने अधिकारों एवं प्रस्थति के प्रति सचेत हो गये हैं । और परिवार के भीतर भी सम्बन्धों के पुनरावलोकन की मांग करते हैं। तृतीयत: संयुक्त परिवार विवादों एवं मन मुटावों की स्थली है जिस स्त्री का पति अधिक कमाता है वह उत्तेजित होती है विवाद करती है और पृथकता की मांग करती है। संयुक्त परिवार की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि सदस्यों के बीच तनाव उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि या तो वे परिवार द्वारा प्रदत्त कर्तव्यों और भूमिकाओं के साथ सामन्जस्य करने के लिए इच्छुक नहीं रहते हैं। या फिर संयुक्त परिवार उनको समायोजित करने में असमर्थ होता है।

अन्तत: संयुक्त परिवार महिलाओं की स्थिति को प्रतिकूल रूप से प्रभावित करता है, उन्हें अथक परिश्रम करना पड़ता है तथा भावनात्मक तनावों से पीड़ित रहती है।

संक्षेप में संयुक्त परिवार के निम्नलिखित दोष हैं।

1. अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि
2. व्यक्तित्व के विकास में बाधक
3. स्त्रियों की निम्न स्थिति
4. कुशलता में बाधक
5. गतिशीलता में बाधक
6. गोपनीय स्थान का अभाव
7. कर्ता की स्वेच्छाचारिता
8. सामाजिक समस्याओं के पोषक

7.6 संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारक

परम्परात्मक भारतीय संयुक्त परिवार में अनेक परिवर्तन हुये हैं और वह संक्रमण के काल से गुजर रहा है। नवीन परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार में होने वाले परिवर्तनों को कुछ

MRC-102

विद्वानों ने विघटन माना है तो कुछ ने इसे स्वरूप परिवर्तन कहा है। संयुक्त परिवार में परिवर्तन किसी प्रभावों के एक समुच्चय से नहीं आया है। और न यह सम्भव है कि इन कारकों में से किसी एक को प्राथमिकता दी जा सके। मितटन सिंगर (1968) ने परिवार में परिवर्तन के लिए चार कारकों को उत्तरदायी माना है। आवासीय गतिशीलता, व्यावसायिक गतिशीलता, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा, और द्रव्यीकरण (minetralization) डा. आर एन. सक्सेना ने संयुक्त परिवार में परिवर्तन लाने वाली शक्तियों कोतीन भागों में बाटा गयाहै।

(1) आर्थिक शक्तियाँ : औद्योगीकरण एवं पूंजीवादी व्यवस्था

(2) भावनात्मक शक्तिया: इसमें उदारवाद, व्यक्तिवाद एवं पश्चिमी विचारधारा सम्मिलित हैं

(3) नये सामाजिक कानून: इनमें विवाह एवं सम्पत्ति से सम्बन्धित कानून सम्मिलित हैं

डा. राम आहूजा ने पांच कारकों की पहचान की है। ये हैं : शिक्षा, नगरीकरण, औद्योगीकरण, विवाह संस्था में परिवर्तन तथा वैधानिक उपाय।

7.6.1आर्थिक कारक :

आर्थिक कारकों के अर्न्तगत मूल रूप से औद्योगीकरण को सम्मिलित करते हैं परन्तु नगरीकरण भी इस उपभाग का महत्वपूर्ण कारक है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम में भारत में औद्योगीकरण प्रारम्भ हो गया था। नये उद्योगों के चारों ओर शहरों का विकास हुआ। औद्योगीकरण से पूर्व हमारे पास यह व्यवस्था थी:

(1) कृषि अमुद्राहीन अर्थव्यवस्था (not minitized economy)

(2) तकनीकी का वह स्तर जहां घरेलू इकाई आर्थिक विनिमय की ईकाई थी।

(3) पिता पुत्र के बीच व्यावसायिक भेद न था।

(4) एक ऐसी मूल्य व्यवस्था थी जहाँ युक्तिसंगतता (rationality) के मानदण्ड की अपेक्षा बुजुर्गों की सत्ता और परम्पराओं की पवित्रता दोनों को ही महत्व दिया जाता था।

पारिवारिक संगठन पर औद्योगीकरण के तीन मुख्य प्रभाव हुये: (1) परिवार उत्पादन की एक प्रधान इकाई थी, औद्योगीकरण की प्रक्रिया के बाद उपभोग की इकाई में परिवर्तित हो गया है। एक एकीकृत आर्थिक व्यवस्था में लगे परिवार के सभी सदस्यों के एक साथ काम करने के बजाय परिवार के कुछ सदस्य परिवार की जीविका चलाने के लिए बाहर चले जाते हैं। इससे न केवल संयुक्त परिवार का परम्परागत स्वरूप ही प्रभावित हुआ है।

(2) कारखानों में नौकरी के कारण युवक अपने पैतृक परिवारों पर सीधे निर्भर नहीं रहते। इसलिए परिवार के मुखिया की सत्ता में कमी आई है।

(3) बच्चे अब आर्थिक रूप से आस्ति (asset) न होकर देय (liability) बन गये हैं।

कुछ समाजशास्त्रियों ने औद्योगीकरण के कारण एकाकी परिवार के उदय के सिद्धान्त को

चुनौती दी है। जिसमें एम. एस. ए. राव, एम. एस. गोरे, तथा मितटन सिंगर महत्वपूर्ण हैं। इनके अनुभवाश्रित अध्ययनों के अनुसार कि संयुक्तता को व्यापारिक समुदायों में वरीयता दी जाती है।

परन्तु फिर भी यह कह सकते हैं कि परिवर्तनों ने हमारी परिवार व्यवस्था को बदलता है गाँव से शहर की ओर जनसंख्या के प्रवाह के कारण सत्तावादी अधिकार में कमी और धर्मनिरपेक्षता में वृद्धि ने एक ऐसी मूल्य व्यवस्था को जन्म दिया है जो कि व्यक्ति में पहल उपक्रम और उत्तरदायित्व पर बल देती है।

परिवार को प्रभावित करने वाला अन्य कारक नगरीकरण भी है। गत कुछ दशकों में हमारे देश की शहरी जनसंख्या में तीव्र दर से वृद्धि हुई है।

नगरीय परिवार ग्रामीण परिवारों से न केवल संरचना में बल्कि विचारधारा में भी भिन्न होते हैं। शहर में रहने वाला एकाकी परिवार का चयन अधिक करता है।

एम. एस. गोरे (1968) की मान्यता है कि नगरीय परिवार अपने दृष्टिकोण भूमिका परिप्रेक्ष्य तथा व्यवहार में संयुक्त परिवार के मानदण्डों से हट रहे हैं।

लुई विर्थ (Louis Wirth, 1938) का भी यह विचार है कि नगर परम्परागत पारिवारिक जीवन बड़े नातेदारी समूह से युक्त है जो कि गांव की विशेषता है तथा व्यक्तिगत रूप में सदस्य अपनी स्वयं की शैक्षिक, व्यावसायिक , धार्मिक, मनोरंजन सम्बन्धी तथा राजनैतिक आकांक्षाओं की पूर्ति में लगा रहता है।

परिवार व्यवस्था के परिवर्तन में नगरीकरण का विशेष महत्व है शहरी जीवन संयुक्त परिवार के स्वरूप को कमजोर बनाता है तथा एकाकी परिवारों को दृढ़ बनाता है। नगरों में उच्च शिक्षा व नये व्यवसायों के चुनने के लिए अधिक अवसर होते हैं। वे लोग जो अपने परिवार के परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर नये व्यवसाय अपनाते हैं अपने विचारों और अभिवृत्तियों में उन लोगों की अपेक्षा बड़ा परिवर्तन दर्शाते हैं।

7.6.2 भावनात्मक शक्तियाँ

इस कारक के अन्तर्गत उदारवाद, व्यक्तिवाद एवं पश्चिमी विचारधारा सम्मिलित है। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण भारतीयों का पश्चिम की शिक्षा, संस्कृति एवं विचारधारा से परिचय हुआ, उनके दर्शन एवं सामाजिक मूल्यों को भारतीयों में भी अपनाया। व्यक्तिवाद, उदारवाद, प्रकृतिवाद, उपयोगितावाद तथा पश्चिमी साहित्य व शिक्षा आदि का भी भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव पड़ा भारतीयों ने पश्चिम से ही स्त्री पुरूष समानता के विचार प्रस्तुत किये।

7.6.3 नये सामाजिक कानून

अंग्रेजों के समय से ही देश में ऐसे अनेक कानून बने जिन्होंने संयुक्त परिवार की एकता पर प्रहार किये। संयुक्त परिवार की एकता का मूल कारण था कि पारिवारिक सम्पत्ति में किसी सदस्य के वैयक्तिक अधिकार नहीं थे, लेकिन हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1929 ने उन व्यक्तियों को भी सम्पत्ति में अधिकार प्रदान किये हैं जो संयुक्त परिवार से अलग रहना

NMDG-102

चाहते थे। सन 1939 के हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम (Hindu Womens Right to property act) ने संयुक्त परिवार की सम्पत्ति विभाजित होने लगी। संयुक्त परिवार में सदस्यों की अधिकता का कारण था बाल विवाह, किन्तु बाल विवाह निरोधक अधिनियम 1929 ने बाल विवाहों पर कानूनों पर रोक लगा दी। 1856 के विधवा पुनर्विवाह अधिनियम ने विधवाओं को छूट दे दी, जिससे वे दूसरे घरों में जाने लगी, इससे समुन्नता विखण्डित हुई है।

हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 में स्त्री पुरूषों को विवाह विच्छेद का अधिकार प्रदान किया इससे भी संयुक्त परिवार टूटे । हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 ने पुत्रियों एवं स्त्रियों को भी पारिवारिक सम्पत्ति में उत्तराधिकारी बना दिया। दहेज निरोधक अधिनियम 1961 के द्वारा परिवार कर्ता की निरंकुशता को कम किया गया।

7.6.4 उदीयमान प्रवृत्तियाँ

संयुक्त परिवार से सम्बन्धित सभी प्रकार के अध्ययनों से यह पता चलता है कि जिनमें देसाई, कपाडिया, रास, मुखर्जी, गोरे, कोलेण्डा, सच्चिदानन्द प्रमुख हैं। हमारे देश में परिवार संरचना के परिवर्तन से सम्बद्ध निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

1. विखण्डित परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है अर्थात पुत्र अर्थात पुत्र अपने माता पिता से अलग रहना पसन्द करते हैं लेकिन उनके प्रति परम्परागत दायित्वों का निर्वाह करना जारी रखते हैं।

2. परम्परागत समुदायों में संयुक्तता अधिक है और बाहरी प्रभावों से प्रभावित समुदायों में एकाकिता अधिक है।

3. परम्परागत परिवारों का आकार छोटा हो गया है।

4. हमारे समाज में प्रकार्यात्मक प्रकार का संयुक्त परिवार तब तक बना रहेगा जब तक कि यह सांस्कृतिक आदर्श बना रहेगा कि एक पुरूष को अपने माता पिता व अल्प आयु भाई बहनों की देख भाल करती है।

7.7 संयुक्त परिवार में संरचनात्मक परिवर्तन

भारत में संयुक्त परिवार की संरचना में प्रत्येक स्तर पर परिवर्तन आया है। इन परिवर्तनों को निम्न आनुभाविक अध्ययनों के माध्यम से देखा जा सकता है।

आई. पी. देसाई ने गुजरात के महुवा नगर के 423 परिवारों का 1955-57 में अध्ययन किया था।

कुल 423 परिवारों का वर्गीकरण संयुक्तता के स्तर पर तथा दूसरे परिवारों के साथ सम्बन्धों के आधार पर करते हुये देसाई ने पाया कि लगभग आधे परिवार निवास सम्पत्ति तथा कार्य प्रणाली के आधार पर संयुक्त थे, जबकि 1/3 मात्र कार्यप्रणाली के आधार पर ही संयुक्त थे इसी प्रकार देसाई ने नगरीय परिवारों में परिवर्तन के विषय में तीन प्रकार के निष्कर्ष दिये।

(1) एकाकिता (Nuclearity) बढ़ रही है और संयुक्तता घट रही है तथा आवासीय

एवं संगठनात्मक प्रकार के परिवारों में पति पत्नी और बच्चों के समूह की प्रधानता है ।

(2) व्यक्तिवाद की भावना नहीं पनप रही हैं, क्योंकि एकाकी परिवार अलग रहते हुये भी सक्रिय रूप से संयुक्त हैं।

(3) संयुक्तता के घेरे में नातेदारी की परिधि छोटी होती जा रही है।

एलीन रॉस (1961) ने 1977 में शहरी परिवेश में केवल हिन्दू परिवारों का अध्ययन किया। रास ने अपने अध्ययन में पाया कि (1) परिवार के स्वरूप कोद्ध प्रवृत्ति पारम्परिक संयुक्त परिवार से एकल इकाइयों की ओर मिलती है।

(2) लघु संयुक्त परिवार पारिवारिक जीवन का प्रारूपिक (Typical) स्वरूप है।

(3) अब काफी संख्या में लोग अपने जीवन का कम से कम एक हिस्सा एकल परिवारों में व्यतीत करते हैं।

(4) वर्तमान पीढ़ी के लिए दूर के रिश्तेदार कम महत्व के हैं।

एम.एस.गोरे (1960) ने शहरी (दिल्ली) और सीमावर्ती गांवों का अध्ययन किया जिसमें दो प्रकार के परिवार पाये गये- एक पति, पत्नी और विवाहित बच्चों वाला परिवार, दूसरा पति पत्नी अविवाहित और विवाहित पुत्र जो सभी जगह प्रमुख थे। अतब यह अध्ययन संरचनात्मक परिवर्तन को स्पष्ट नहीं करता।

सच्चिदानन्द (1977) ने बिहार के शाहाबाद जिले के 30 गाँवों के परिवारों का अध्ययन किया और पाया कि (1) एक चौथाई परिवार एकल परिवार थे और तीन चौथाई संयुक्त जो परम्परिक परिवारों की प्रधानता दर्शाता है। (2) मध्यम और निम्नजातियों की अपेक्षा उच्च जातियों में एकल परिवार अधिक थे। (3) एकलता शिक्षा के स्तर के साथ ऊँची उठती है।

रामकृष्ण मुखर्जी (1975) ने पं0 बंगाल में 1960-61 में 4,210 परिवारों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संयुक्त परिवार की संरचना समय के साथ एकाकी परिवारों में बदल रही है और संयुक्त परिवार का स्थान एकाकी परिवार द्वारा लिया जाना पहले से शुरू है।

पालिन कोलेण्डा (1968) ने 1950 व 1970 के दशकों के बीच किये गये 26 अध्ययनों के आधार पर घरों की रचना (Composition of household) से सम्बन्धित परिमाणात्मक तथ्यों (सह-निवास व सह-भोजन इकाइयो) का प्रयोग किया। कोलेण्डा ने पाया कि -

(1) यद्यपि अधिक संख्या में लोग संयुक्त व पूरक एकाकी परिवारों में रहते हैं लेकिन संरचना की दृष्टि से अधिक परिवार एकाकी ही होते हैं।

(2) संयुक्त परिवारों के अनुपातों में क्षेत्रीय भेद स्पष्ब होते हैं ।

(3) संयुक्त परिवार उच्च औरभू स्वामी जातियों की विशेषता है। अपेक्षाकृत निम्न और भूमिहीन जातियों के -

परिवार में होने वाले सभी संरचनात्मक परिवर्तनों का एक साथदेखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैंकि -

1. विखण्डित परिवारों की संख्या बढ़ रही है।

2. गाँवों में संयुक्तता अधिक है और औद्योगीकरण, नगरीकरण, और पश्चिमीकरण से प्रभावित समुदायों में एकलता अधिक है।

3. संयुक्त परिवार का आकार छोटा हो गया है।

4. जब तक लोगों में पुराने मूल्य बने रहेंगे, संयुक्त परिवार हमारे समाज में चलता रहेगा।

7.8 संयुक्त परिवार में अन्त: क्रियात्मक परिवर्तन

अन्तरा पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन तीन स्तरों पर देखे जा सकते हैं।पति पत्नी के सम्बन्ध, माता पिता व संतान के सम्बन्ध और वहू तथा सास ससुर के सम्बन्ध।

भारतीय परिवार में पति पत्नी के सम्बन्धों का मूल्यांकन गुडे (1963), कपाडिया (1966), गोरे (1968), और मेरी स्ट्रास द्वारा किया गया है ये अध्ययन (1) निर्णय करने में शक्ति का विभाजन (2) पत्नी की मुक्ति (3) निकटता में परिवर्तन का संकते करते हैं।

परम्परागत परिवार में परिवार सम्बन्धी निर्णय करने की प्रक्रिया में पत्नी की सहभागिता न के बराबर होती थी। लेकिन समकालीन समाज में परिवार व्यय, बजट बनाने में, बच्चों के अनुशासन में, वस्तुएं खरीदने और उपहार देने में पत्नी की भूमिका समान शक्ति वाली होती है। यद्यपि पति की साधक भूमिका अभी भी जारी है।

शक्ति का स्रोत संस्कृति से संसाधन की ओर खिसक गया है। इसमें संसाधन का अर्थ है कोई भी वस्तु एक साथी दूसरे की सहायता करते हुये उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु या लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उपलब्ध करा दें। पति से पत्नी की ओर शक्ति का झुकाव पर मेरी स्ट्रास का अध्ययन सांस्कृतिक मूल्य सिद्धान्त की अपेक्षा संसाधन सिद्धान्त पर आधारित संकल्पना का समर्थन करता है। माता पिता और बच्चों के बीच के सम्बन्धों का चार आधार पर सत्ता धारण करने, समस्याओं की चर्चा की स्वतंत्रता, बच्चों द्वारा माता पिता का विरोध और दण्ड देने के तरीकों के सन्दर्भ में मूल्यांकन किया जा सकता है।

परम्परागत परिवार में मुखिया / पिता के हाथ में ही शक्ति और अधिकार रहते थे। वह पूर्ण शक्तिवान होता था और परिवार के बच्चों की शिक्षा, व्यवसाय, विवाह और जीवन आदि के विषय में सभी निर्ण करता था। (कैथलीन गफ, मैरिएट, 1955:44) समकालीन परिवार में न केवल एकाकी बल्कि संयुक्त परिवार में भी दादा का अधिकार समाप्त हो गया है।

कपाडिया (1966) और मागरिट कार्मेक (Margaret Carmach, 1969) ने भी पाया कि बच्चे अब अधिक स्वतंत्र हैं कुछ वैधानिक उपायों ने भी बच्चों को अपने अधिकार मांगने की शक्ति दी है। शायद इसी कारण से माता पिता बच्चों को दण्ड देने के पुराने तरीके नहीं अपनाते हैं।

सास ससुर तथा बहू के बीच सम्बन्ध में भी परिवर्तन हुआ है। यद्यपि यह परिवर्तन सास बह में इतना अधिक नहीं हुआ है जिसे DIL - MIL (Daughter-in-law, Mother-

in-Law) सम्बन्ध कहते हैं शिक्षित बहू श्वसुर से पर्दा नहीं करती हैं वह न केवल पारिवारिक मामलों पर बल्कि राजनीतिक मामलों पर भी श्वसुर से चर्चा करती हैं।

सभी तीन प्रकार के सम्बन्धों को एक साथ देखने पर कहा जा सकता है (1) युवा पीढ़ी अब अधिक व्यक्तिवादी होने का वादा करती है। (2) रक्तमूलक सम्बन्ध विवाहमूलक सम्बन्धों के सामने महत्व नहीं रखते। (3) संस्कृति और वैचारिक तत्वों के साथ साथ संसाधन तत्व भी सम्बन्धों को प्रभावित करता है।

7.9 सारांश

संयुक्त परिवार की संरचना, प्रकार्य एवं अन्य सम्बन्धित आयामों पर केन्द्रित इस इकाई में वृहद विश्लेषण किया गया है। परिवार व्यवस्था के इस परम्परागत स्वरूप पर विभिन्न वाह्य और आन्तरिक शक्तियों से निरन्तर चोट हो रही है। सह निवास, सह भोज, एवं सह सम्पत्ति जिन पर कि संयुक्त परिवार की संरचना टिकी है, सबसे पहले औद्योगीकरण द्वारा प्रहार किया गया, और व्यावसायिक गतिशीलता ने लोगों के अन्दर व्यक्तिवादिता को जन्म दिया है तथा पाश्चात्य शिक्षा एवं नगरीकरण ने उन समस्त पहलुओं को विश्रंखलित कर दिया, जिनसे परिवार में संयुक्तता थी।

चार तरह की क्रान्तियां जो कि मूल रूप से संयुक्त परिवार के विखण्डन के लिए उत्तरदायी है।

औद्योगिक क्रान्ति, लोक तान्त्रिक क्रान्ति, जनसंख्या क्रान्ति एवं धर्मनिरपेक्ष क्रान्ति।

निष्कर्षत: कह सकते हैं संयुक्त परिवार विखण्डित तो हुआ है पर इसकी संयुक्तता एक नवीन स्वरूप ग्रहण कर रही है। जबकि कृषिगत भूमि के अभाव के कारण, रोजगार के लिए लोग शहरों में चले जाते हैं तो चाहे स्वयं की आवश्यकता के वशीभूत या किसी अन्य कारण से अपने माता पिता को भी शहर ले आते हैं तो विखण्डित संयुक्त परिवार पुन: संयुक्त स्वरूप ले लेता है।

7.10 उपयोगी पुस्तकें

1. देसाई, आई. पी. : सम असपेक्टस आफ फेमिली इन इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई , 1964
2. दुबे, एस. सी. : ट्रेडीशन एण्ड डेवलेपमेन्ट विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1990
3. गोरे, एम. एस. : एजूकेशन एण्ड माडर्नाइजेशन इन इण्डिया, रावत प्रकाशन जयपुर, 1982
4. आहूजा राम : भारतीय समाज, रावत, प्रकाशन जयपुर, 2000
5. कपाड़िया, के. एम. : मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1966

7.11 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 संयुक्त परिवार को परिभाषित करिये? संयुक्त परिवार के परिवर्तन के लिए उत्तरदायी आर्थिक कारकों पर प्रकाश डालिय?

प्र.2 संयुक्त परिवार के संरचनात्मक परिवर्तन एंव अन्त: क्रियात्मक परिवर्तनों की व्याख्या करिये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

प्र.1 किनशिप आर्गेनाइजेशन आफ इण्डिया पुस्तक के लेखक हैं?

(अ) कोलेण्डा (ब) एम.एस.गोरे (स) इरावती कर्वे (द) बी.वी.शाह

प्र.2 हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम कब पारित हुआ?

(अ) 1867 (ब) 1939 (स) 1970 (द) 1949

प्र.3 विधवा पुनर्विवाह अधिनियम कम पारित हुआ ?

(अ) 1870 (ब) 1861 (स) 1856 (द) 1910

प्र. 4 दहेज निषेध अधिनियम कब पारित हुआ?

(अ) 1961 (ब) 1937 (स) 1987 (द) 1991

प्र. 5 संयुक्त परिवार से सम्बन्धित महुवा नगर का अध्ययन किस समाज वैज्ञानिक से सम्बन्धित है?

(अ) आई. पी. देसाई (ब) एलीन रास (स) एम.एस.गोरे

(द) रामकृष्ण मूखर्जी ।

प्र. 6 बिहार के शहाबाद जिले का अध्ययन निम्न में से किसने किया है?

(अ) ए.आर. देसाई (ब) बी. वी. शाह (स) सच्चिदानन्द

(द) इनमें से कोई नहीं।

प्र. 7 "परम्परागत संयुक्त परिवार में शक्ति का स्रोत 'संस्कृति', से 'संसाधन की ओर खिसक गया है।" यह कथन किस समाज वैज्ञानिक से सम्बन्धित है?

(अ) मेरी स्ट्रोक (ब) देसाई (स) मेरी स्ट्रास (द) इनमें से कोई नहीं

बोध प्रश्नों के उत्तर (वस्तुनिष्ठ)

प्र. 1 स

प्र. 2 ब

प्र. 3 स

प्र. 4 अ

प्र. 5 अ

प्र. 6 स

प्र. 7 स

इकाई 8 विवाह एवम् परिवार में परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 अवधारणा

8.3 परिवार में संरचनात्मक एवम् प्रकार्यात्मक परिवर्तन

8.4 परिवार का बदलता स्वरूप

8.5 पारिवारिक विघटन की प्रकृति

8.6 परिवार में आधुनिक परिवर्तन के कारण

8.7 संयुक्त परिवार का बदलता हुआ स्वरूप

8.8 मुस्लिम परिवार में परिवर्तन

8.9 परिवार का भविष्य

8.10 विवाह में परिवर्तन

8.11 बाल विवाह

8.12 विवाह के धार्मिक संस्कार के स्वरूप में गिरावट

8.13 विवाह सम्बन्धी निषेधों में अन्तर

8.14 हिन्दू विवाह अधिनियम

8.15 एक विवाह का प्रचलन

8.16 विवाह विच्छेद

8.17 विधवा पुर्नविवाह

8.18 दहेज निषेध अधिनियम 1961

8.19 प्रेम-विवाह

8.20 मुस्लिम स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन

8.21 ईसाई विवाह में आधुनिक परिवर्तन

8.22 सारांश

8.23 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

4.24 सम्बन्धित प्रश्न

NMDC-102

8.0 उद्देश्य

परिवर्तन प्रकृति का विधान है, वह भविष्य के कल से भिन्न होगा। सामाजिक संरचना में सदैव परिवर्तन होता रहा है। गति और जीवन परस्पर अन्त: सम्बन्धित है। जीवन और समाज गतिशील है, परिवर्तनशील है, परिवर्तन की प्रकृति है। मनुष्य स्थायित्व के लिये चाहे जितना प्रयास करता रहे, समाज में स्थिरता का भ्रम उत्पन्न करता रहे, निश्चितता की खोज निरन्तर होती रहे, तथापि इस वास्तविकता से इंकार नहीं किया जा सकता कि समाज सदैव और सतत् परिवर्तनशील घटना है, जिसका विकास, ह्रास एवं नवीनीकरण होता रहा है और जो परिवर्तनशील दशाओं के अनुरुप स्वयं को अनुकूलित करता रहा है तथा जिसमें इस दौरान विशाल परिवर्तन हुये हैं। यह प्रश्न विचाराधीन है कि मानव क्रियायें क्यों और कैसे परिवर्तित होती हैं। समाज के वे क्या विशिष्ट स्वरूप हैं जो व्यवहार में परिवर्तन करते हैं। इस प्रकार समाज की सभी छोटी बड़ी संस्थायें चाहे विवाह हो या परिवार परिवर्तन दिखाई पड़ता है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये इस अध्याय में संस्थाओं के परिवर्तन समझने के लिये प्रयास किया गया है।

8.1 प्रस्तावना

सामाजिक सम्बन्धों के स्थापित स्वरूपों, मूल्यों, संरचनाओं तथा संस्थाओं में आया हुआ परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है। सामाजिक परिवर्तन कभी भी समग्र रूप से नहीं होता बल्कि आंशिक होता है। समाज की सम्पूर्ण संरचना में एक साथ परिवर्तन कठिनाई से ही होता है इस प्रकार समाज के कुछ पक्षों में ही परिवर्तन होता है। जब कभी सामाजिक व्यवस्था के मूल में परिवर्तन होता है तो उसे वृहत परिवर्तन कहा जाता है परन्तु प्राय: सामाजिक व्यवस्था समग्र रूप से कभी परिवर्तित नहीं होती, सामाजिक परिवर्तन अधिकांशत: आंशिक ही होता है।

8.2 अवधारणा

परिवर्तनकाल की किसी अवधि में किसी वस्तु में दृश्यमान परिवर्तन को इंगित करता है। अतएव, सामाजिक परिवर्तन किसी निश्चित कलावधि में किसी सामाजिक परिघटना में अन्तर से है। सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में विचारकों में मतभेद है। कुछ विचारक सामाजिक ढांचे में दृष्टिगत परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा है तो कुछ ने सामाजिक सम्बन्धों में घटित परिवर्तन को। मैकाइवर एवं पेज सामाजिक सम्बन्धों में घटित परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन माना है जबकि किंग्सले डेविस सामाजिक ढांचे और प्रकार्यों में घटित परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन मानता है। सामाजिक परिवर्तन लोगों के जीवन प्रतिमानों में होनेवाले परिवर्तनों की ओर संकेत करती है। वह समाज में घटित हो रहे सभी प्रकार के परिवर्तनों की ओर इंगित नहीं करता, जैसे - कला, साहित्य दर्शन और प्रौद्योगिकी में होने वाले परिवर्तन को हम सामाजिक परिवर्तन नहीं कहेंगे। सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन को कहते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

होगा, सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अन्त:क्रियाओं और सामाजिक संगठन के किसी स्वरूप में अन्तर से है। यह समाज को संस्थागत तथा आचारात्मक संरचना में परिवर्तन है।

8.3 परिवार में संरचनात्मक एवम् प्रकार्यात्मक परिवर्तन

औद्योगीकरण और विकसित प्रौद्योगिकी ने, सामाजिक परिवर्तन के नवीन आयामों को प्रस्तुत किया जिसने प्राचीन पारिवारिक जीवन की नींव को हिला दिया। परिवार का प्राचीन आकार-प्रकार तथा उसके ऊपर आर्थिक सुरक्षा के कवच को लगभग धूमिल कर दिया। धीरे-धीरे परिवार मानव संगठन की एक छोटी इकाई के रूप में सिमट गया और जिसका मुख्य उद्देश्य प्रजनन तक सीमित रह गया। इसी प्रकार बड़ा परिवार अधिकांशत: आर्थिक धरोहर न होकर एक आर्थिक दायित्व बन गया। इस प्रकार पुराने परिवारों के टूटने से बाल अपराधों में वृद्धि होने लगी और विवाह विच्छेद की दर में भी बढ़ोत्तरी हो गई। मनुष्य के जीवन में अधिक गतिशीलता बढ़ाने का श्रेय विज्ञान को ही जाता है। तीव्र गतिशीलता का परिणाम यह हुआ कि पारिवारिक जीवन के तार ढीले हो गये और टूटने के कगार पर पहुँच गये। परिवार जो एक समय में व्यक्तियों को आर्थिक सुरक्षा, का कार्य करते थे आज वह पुरानी बात हो गयी है। आज आर्थिक कारणों से पति-पत्नी एक दूसरे से दूर रहते हैं, इस कारण से अति प्राचीन संगठन परिवार भी बिखरता जा रहा है। सामाजिक परिवर्तन की आंधी ने पारिवारिक संरचना को झकझोर कर रख दिया है।

आधुनिक उद्योगवाद ने परिवार और घर की अवधारणा को बहुत ही अधिक ठेस पहुंचाया है। पति और पिता को सुदूर रहने से वह घर और परिवार के कार्यों में बहुत कम सहायता दे पाता है। आज पिता बच्चों को बहुत कम दिशा का निर्देशन कर पाता है। स्त्रियों का कार्य का प्राचीन दृष्टिकोण भी बदल गया है क्योंकि आज वे विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में लगी हुई है। आज वे स्वयं आत्मनिर्भर है। स्त्रियों की व्यवसायिक आत्म निर्भरता ने भी परिवार के तन्तुओं को शिथिल कर दिया है।

8.4 परिवार का बदलता स्वरूप

परिवर्तन एक सार्वभौमिक और शाश्वत प्रक्रिया है। समाज और उसकी कोई भी इकाई इसके प्रभाव से बच नहीं सकती। 18वीं शताब्दी के अन्त में यूरोप में और 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में, जैसे औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण एवं नगरीकरण का प्रारम्भ हुआ, परिवार में अनेक प्रकार के परिवर्तन दिखाई देने लगे। प्रौद्योगीकरण के विकास से पहले परिवार उत्पादन की एक आधारभूत इकाई थी, परन्तु औद्योगीकरण के होने के बाद उत्पादन परिवार से हटकर कल कारखानों में पहुँच गया, कामकाजियों की अधिक मांग के कारण पति-पत्नी और बच्चे सभी काम पर जाने लगे। इसका परिणाम यह हुआ बच्चों की देख-रेख की उपेक्षा, पिता का परिवार पर अनुशासन ढीला पड़ गया, परिवार के सदस्य स्वच्छन्द हो गया। और इस प्रकार परिवार के सामूहिक दायित्व पर प्रभाव पड़ा और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में वृद्धि हुई। औद्योगीकरण का सबसे अधिक प्रभाव स्त्रियों की आर्थिक दशा पर पड़ा। स्त्रियाँ आत्मनिर्भर

NMDS-109

हो गयीं। आज स्त्रियाँ घर की शोभा न रहकर पुरुषों से कन्धा मिला कर काम करने लगीं। और इस प्रकार घर अस्त-व्यस्त हो गया।

नगरीकरण सुविधाओं के कारण लोग गावों से नगरों में पलायन करने लगे। नगरों में एकाकी परिवार का ही स्वरूप पाया जाता इस कारण भी संयुक्त परिवार संकट में आ गये। आधुनिक चिकित्सा और शिक्षा ने भी छोटे परिवार के निर्माण में बहुत अधिक योगदान दिया। परिवार के कार्यों में तीव्र परिवर्तन आया। आज परिवार के बहुत से कार्यों को दूसरी संस्थाओं ने ले लिया। जैसे पहले परिवार उत्पादन एवम् उपभोग की एक इकाई थी - परिवार में व्यक्ति की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी, शिक्षा, बीमारी या वृद्ध की सेवा होती थी। आज इसका स्वरूप बदल गया है।

8.5 पारिवारिक विघटन की प्रकृति

औद्योगिक विकास ने पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी। आधुनिक व्यवस्था में परिवार के सदस्यों में बहुत अधिक प्रतियोगिता बढ़ गई जिससे परिवार में तनाव शुरु हो गया और परिवार विघटन होने लगे। परिवार, वास्तव में कुछ आन्तरिक सम्बन्धों के सूत्र से बंधा रहता है लेकिन जब यह सूत्र शिथिल हो जाते हैं या टूट जाते हैं तो परिवार बिखर जाता है। परिवर्तन सामाजिक जीवन के सभी पक्षों पर दिखाई पड़ता और इस कारण परिवार भी इस परिवर्तन से अछूता नहीं रह सका।

पारिवारिक विघटन केवल बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में ही नहीं दिखाई देती फिर भी पारिवारिक विघटन हो जाता है। जैसे आन्तरिक विरोध। बाहरी रूप से परिवार के सभी सदस्य एक छत के नीचे रहते हैं, बोल-चाल भी रहती है फिर भी आन्तरिक रूप से एक दूसरे से बहुत दूर हैं वे एक दूसरे के सामान्य हितों की रक्षा की बात कभी नहीं सोचते। इस प्रकार पारिवारिक विघटन वह अवस्था है जिसमें परिवार के सदस्यों के हितों, उद्देश्यों और व्यक्तिगत इच्छाओं की एकता के अभाव में उनके अन्दर प्रेम, सहयोग और त्याग की भावनायें न के बराबर हो जाती हैं जिसके कारण वह परिवार अपने प्रमुख कार्यों को करने में असमर्थ हो जाता है और पारिवारिक जीवन कष्टमय हो जाता है।

8.6 परिवार में आधुनिक परिवर्तन के कारण

आधुनिक युग में सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ पर्याप्त बदल गई हैं और कुछ ऐसे कारक आज क्रियाशील हैं जिनके कारण आज के परिवार में बदलाव आ रहा है। इस बदलाव को दो भागों में बांट सकते हैं।

1. परिवार की संरचना में परिवर्तन
2. परिवार के प्रकार्यों में परिवर्तन

1. **परिवार की संरचना में परिवर्तन**—आज परिवार का प्राचीन स्वरूप नष्ट हो गया है। परिवार की सामूहिक भावना व्यक्तिवादी भावना में बदल गई है। परिवार का पुराना ढांचा पूरी तरह से छिन्न-भिन्न हो गया है जिसके निम्नलिखित कारण हैं :—

1. **औद्योगीकरण**—उद्योगवाद पारिवारिक संरचना को विघटित करने का एक महत्वपूर्ण कारण रहा है। इस क्रान्ति के पूर्व प्रत्येक भारतीय परिवार आत्मनिर्भर हुआ करता था। परिवार के सभी सदस्य सामूहिक जीवन बिताते थे, एक दूसरे के सुख-दुख में समान भागीदार होते थे, पर मशीनों के आविष्कार और वृहत्त उद्योगों के पनपने का साथ-साथ परिवार का पुराना आत्मनिर्भर स्वरूप टूटने लगा और परिवार के कार्यशील सदस्य जीविकोपार्जन हेतु, अपना घर छोड़कर, सुदूर नगरों में बसने लगे। उद्योगीकरण ने स्त्रियों को भी नौकरी के अवसर प्रदान किये जिससे वे आत्मनिर्भर हो गई, उससे अनेक स्त्रियाँ अपने पारिवारिक कर्तव्यों के प्रति उदासीन हो गई। इस प्रकार उद्योगवाद ने परिवार के स्वरूप को ही बदलकर रख दिया।

2. **छोटा परिवार**—वर्तमान समय में परिवार के सदस्यों की संख्या दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। संयुक्त रूप से रहने की अपेक्षा एकाकी परिवार बसा कर रहना अब सदस्यों की अधिक पसन्द है। आज पिता का हस्तक्षेप परिवारों में अधिक मान्य नहीं रह गया है।

3. **पति-पत्नी के सम्बन्धों में अन्तर**—पहले पत्नी के लिये पति देवता के समान था परन्तु आज इस स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर आ गया है। अब वह एक साथी के रूप में पति के कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

4. **वैवाहिक सम्बन्धों में परिवर्तन**—अब विवाह परिवार या पिता के द्वारा ही नहीं सम्पन्न हो रहे हैं बल्कि विवाह सम्बन्धों में लड़के व लड़कियाँ काफी स्वतंत्र हैं। आज विल्मव विवाह की प्रथा अधिक प्रचलित है। जीवन साथी के चुनाव लड़के व लड़की की स्वीकृति बहुत महत्वपर्ण हो गई है। आज कल अन्तर्जातीय विवाहों तथा प्रेम विवाहों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना नगरीय क्षेत्रों मे विवाह-विच्छेद बढ़ रहा है जो परिवार के स्थायित्व के लिये एक खतरा है।

5. **जीवन दर्शन में परिवर्तन**—यदि जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में पति और पत्नी के बीच विचार व आदर्श अलग-अलग हैं तो परिवार कभी स्थायी नहीं रह सकता जिसका परिणाम होता है पति-पत्नी में छोटी से छोटी बातों को लेकर रोज संघर्ष जिसका परिणाम विवाह विच्छेद तक पहुँच जाता है।

2. **परिवार के प्रकार्यों में परिवर्तन**—आधुनिकीकरण ने परिवार के प्राचीन कार्यों में आमूल परिवर्तन कर दिया है। पहले परिवार के स्थायित्व का केन्द्र बिन्दु कृषि थी, क्योंकि भारत एक कृषि प्रधान देश था इसलिये परिवार के सदस्यों की गतिविधियाँ कृषि के अगल-बगल ही सीमित थी परन्तु आज आधुनिक शिखा व मशीनीकरण ने परिवार के उस प्राचीन स्वरूप व कार्यों को बदल कर रख दिया है। जैसे—

1. **परिवार के आर्थिक कार्यों में परिवर्तन**—भारतीय परिवार, औद्योगिक क्रान्ति के पहले उत्पादन और उपभोग दोनों का ही केन्द्र थे, परन्तु आज परिवार उत्पादन का केन्द्र नहीं रहा, जिससे परिवार के सदस्य अपनी जीविका को चलाने के लिये दूसरे स्थानों पर कार्य करने लगे। इसी प्रकार परिवार को स्थायित्व देने में धर्म महत्वपूर्ण कार्य करता था आज लोगों का धर्म पर विश्वास बहुत कम रह गया है।

2. **सांस्कृतिक कार्यों में अन्तर**—वर्तमान में परिवार व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के निर्धारण में पहले की तरह महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह नहीं कर पा रहे हैं। परिवार के

मुखिया का नियंत्रण सदस्यों के ऊपर पहले जैसा नहीं रहा। सदियों से चली आ रही सांस्कृतिक परम्पराओं से परिचित कराना आज लाभप्रद नहीं समझा जाता।

8.7 संयुक्त परिवार का बदलता हुआ स्वरूप

परम्परागत भारतीय संयुक्त परिवार के अनेक परिवर्तन हुये हैं। नवीन परिस्थितियों के कारण परिवार के स्वरूप में परिवर्तन आया है। अट्ठारहवीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति से हुये इस क्रान्ति को अंग्रेजों ने भारतीयों को भी परिचित कराया। औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु देश में रेल मार्ग, सड़कों तथा सन्देश वाहन के साधनों का तेजी से विकास हुआ जिससे अनेक नवीन व्यवसाय खुले और इस प्रकार ग्रामीण कुटीर उद्योग नष्ट होने लगे। अब परिवार उत्पादन की एक मात्र इकाई नहीं रह गयी लोग घर छोड़कर रोजगार के लिये नगरों की ओर पलायन करना शुरु कर दिया, इससे परिवार की एकता टूट गई कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था का स्थान औद्योगिक एवम् पूंजीवादी व्यवस्था ने ले लिया संयुक्त परिवार के सदस्य नौकरी के लिये दूर-दूर बिखर गये। नगरों में मकानों का अभाव में लोग छोटे परिवारों में निवास करने लगे। मशीनों ने कृषि व्यवस्था पर आधारित संयुक्त परिवार को तोड़ दिया। औद्योगीकरण ने एक नवीन अर्थ व्यवस्था का जन्म दिया जिसमें स्त्रियों को भी नौकरी की सुविधा थी। स्त्रियों द्वारा नौकरी करने के कारण उनमें आत्मनिर्भरता एवम् व्यक्तिवादिता आयी जिससे स्त्रियों ने एकाकी परिवार की स्थापना पर जोर देने लगे। इन सारी परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार में परिवर्तन आया और उसके स्थान पर एकाकी परिवार विकसित हो गये।

नगरीकरण का जन्म भी औद्योगीकरण के कारण हुआ। नगर के लोग विभिन्न विचारधाराओं, व्यक्तिवादिता, भौतिकवादी एवम् प्रगतिशील दृष्टिकोण में अधिक विश्वास रखते हैं। शहरी स्त्रियाँ अधिक स्वतंत्र रहना चाहती हैं इसलिये वे एकाकी परिवार बनाकर रहने में अधिक विश्वास करती हैं जिससे भी संयुक्त परिवार का स्वरूप शिथिल हो गया।

पाश्चात्य शिक्षा एवं विचारधारा का प्रभाव भी संयुक्त परिवार को विघटित करने में सहायक रहा। अंग्रेजी शासन के बाद भारतीयों की पश्चिमी शिक्षा, संस्कृति दर्शन एवम् सामाजिक मूल्यों से परिचय हुआ जिसे भारतीयों ने भी अपना लिया। व्यक्तिवाद, उदारीकरण, उपयोगितावाद तथा शिक्षा आदि का भी भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव पड़ा। इन सभी के फलस्वरूप भारत में प्रेम-विवाह, स्त्री-पुरुष की समानता तथा अन्तर-जातीय विवाह होने लगे, कानून ने परिवार के मुखिया की सत्ता पर अंकुश लगा दिया जिससे संयुक्त परिवार टूटने लगे।

वैधानिक उपायों ने भी संयुक्त परिवार की एकता पर प्रहार किया। संयुक्त परिवार की संयुक्ता का मूल कारण यह था कि पारिवारिक सम्पत्ति में किसी सदस्य के वैयक्तिक अधिकार नहीं थे, लेकिन हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1929 ने उन व्यक्तियों को भी सम्पत्ति में अधिकार प्रदान किया जो संयुक्त परिवार से बाहर रहना चाहते थे। सन् 1939 के हिन्दू स्त्रियों का सम्पन्न अधिकार अधिनियम ने संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में स्त्रियों के अधिकारों को स्वीकार किया जिससे परिवार की सम्पत्ति विभाजित होने लगी। जीवन-साथी के चुनाव की

NMDC-102

स्वतंत्रता, किसी भी जाति एवम् धर्म में माँ-बाप की अनुमति के बिना विवाह जिसे विशेष विवाह अधिनियम 1954 के अन्तर्गत अनुमति प्रदान की गई, विधवा पुर्नविवाह अधिनियम 1956 द्वारा विधवा पुनर्विवाह की अनुमति, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अनुसार विवाह विच्छेद की अनुमति तथा 1956 में पुत्रियों एवम् स्त्रियों को भी पारिवारिक सम्पत्ति में उत्तराधिकारी बना दिया इन सभी अधिनियमों ने संयुक्त परिवार की स्थिरता को प्रभावित किया।

8.8 मुस्लिम परिवार में परिवर्तन

हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों में भी संयुक्त परिवार की व्यवस्था है जो ग्रामीण समुदाय में अधिक और नगरों में इसकी न्यूनता है। औद्योगीकरण एवं आधुनिक प्रभावों के कारण मुसलमानों में एकाकी परिवार में वृद्धि हो रही है। शिक्षा के प्रसार के कारण मुसलमानों में बहुपत्नीत्व को अनुचित माना जाने लगा है और उनका झुकाव एक विवादी परिवार की स्थापना की ओर बढ़ता जा रहा है। ईसाई परिवार के मौलिक स्वरूप में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता। ईसाई परिवार भी ईसाई समाज के आदर्शों को व्यक्त करता है।

8.9 परिवार का भविष्य

परिवार का भविष्य आशा और निराशा के मध्य में दिखाई दे रहा है। परिवार के कार्यों का घट जाना, उसकी अस्थिरता, प्रेम-विवाह का विस्तार तथा विवाह-विच्छेद की दरों का बढ़ना आदि के आधार पर कुछ विद्वान यह अनुभव कर रहे हैं कि परिवार का भविष्य अन्धकार में है और ऐसा लगता है कि परिवार टूट रहा है। परन्तु इसके विपरीत दूसरी विचारधारा यह है कि परिवार सामाजिक जीवन का आधार है। इस कारण जब तक समाज है परिवार रहेगा। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् हमारी सभ्यता और संस्कृति, प्रथा और परम्पराओं आदि में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में अनेक नवीन आयाम जुड़ गये हैं चूंकि परिवार सामाजिक जीवन की ही एक इकाई है इस कारण उसे भी नवीन परिवर्तनों के साथ अनुकूलन करना ही पड़ेगा। नवीन अनुकूलन की प्रक्रिया के प्रारमभ में ऐसा प्रतीत होता है कि परिवार में विघटन की अवस्था उत्पन्न हो गई है। वास्तव में वह विघटन नहीं है। बल्कि आधुनिक नवीन परिस्थितियों से परिवार द्वारा अनुकूलन की प्रक्रिया का ही एक अंग है।

8.10 विवाह में परिवर्तन

समकालीन भारतीय समाज अत्यन्त द्रुतगति से परिवर्तित हो रहा है। यह परिवर्तन समाज की संरचना एवम् उसके प्रकार्य दोनों में परिलक्षित हो रहे हैं। भारत की सामाजिक संस्थाओं के मूल्य तेजी से बदल रहे हैं। इस परिवर्तन का प्रभाव परिवार व विवाह संस्थाओं पर भी दिखाई देता है। सदियों से चली आ रही इस पवित्र संस्था में समय के साथ-साथ अनेक परिवर्तन हुये हैं फिर भी इसका मौलिक रूप वैसा ही बना हुआ है। आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण के कारण विवाह के प्रचलित बहुत से स्वरूपों में अन्तर है जैसे—

8.11 बाल-विवाह

बाल-विवाह प्रथा भारत के लिये एक सम्मानजनक अवस्था नहीं थी। बाल विवाह को रोकने का श्रेय राजाराम मोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को जाता है। इन प्रयत्नों से सन् 1860 में सबसे पहले बाल विवाह को रोकने के लिये प्रथम अधिनियम पास हुआ जिसके अनुसार कन्या की आयु कम से कम 10 वर्ष होनी चाहिये। पुन: 1891 में दूसरा अधिनियम पास हुआ जिसके अनुसार विवाह के समय कन्या की आयु 12 वर्ष की होनी चाहिये। सन् 1924 में राय हरविलास शारदा की सिफारिशों के फलस्वरूप एक नया अधिनियम पास हुआ। बाल-विवाह निरोधक अधिनियम जिसे शारदा ऐक्ट भी कहते हैं। इस अधिनियम के अनुसार वर की आयु 18 वर्ष से कम और कन्या की आयु 15 वर्ष से कम न हो। सन् 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम ने भी विवाह की उपर्युक्त आयु को ही अनुमोदित कर दिया।

4.12 विवाह के धार्मिक संस्कार के स्वरूप में गिरावट

प्राचीन हिन्दू विवाह एक संस्कार था। विवाह के बाद पति-पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर को हो जाता था परन्तु हिन्दू परिवार अधिनियम, 1955 के अनुसार अब विवाह संस्कार की अपेक्षा एक समझौता रह गया है।

8.13 विवाह सम्बन्धी निषेधों में अन्तर

प्राचीन समय में हिन्दू विवाह से सम्बनिधत निषेधों जैसे सगोत्री, सपरवर तथा जाति का पालन करना पड़ता था, परन्तु वर्तमान में यह बन्धन बहुत ही शिथिल पड़ गये हैं, इससे विवाह का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक हो गया है। प्राचीन काल में हिन्दू के लिये विवाह एक आवश्यक धार्मिक कर्तव्य माना जाता था, क्योंकि उसे ऋणों से मुक्ति दिलाने एवं पुरूषार्थ की पूर्ति के लिये करना पड़ता था। आज धार्मिक पक्ष की शिथिलता के कारण विवाह की अनिवार्यता समाप्त हो रही है।

8.14 हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955

इस अधिनियम के द्वारा विवाह सम्बन्धी अब तक प्रचलित सभी हिन्दू कानून रद्द हो गये। हिन्दुओं में हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्ध, जैन और सिक्ख भी सम्मिलित हैं। हिन्दू विवाह के वैधता का आधार—(1) किसी पक्ष का जीवन साथी जीवित न हो (2) कोई भी पक्ष पागल न हो। (3) वर की आयु 18 वर्ष और कन्या की आयु 15 वर्ष हो (4) दोनों पक्ष निषेधात्मक सम्बन्धों के अन्तर्गत न हों। (5) विवाह करने वाले आपस में सपिण्ड न हो।

8.15 एक विवाह का प्रचलन

1955, हिन्दू विवाह अधिनियम के द्वारा बहुपत्नी एवम् बहुपति विवाह को समाप्त कर उसके स्थान पर एक विवाह की मान्यता दी गई है। अब बिना तलाक दिये हुये कोई भी पक्ष दूसरा विवाह नहीं कर सकता है।

8.16 विवाह विच्छेद

हिन्दुओं में अब तक विवाह जन्म-जन्मान्तर का बन्धन माना जाता रहा है जिसे कभी भी भंग नहीं किया जा सकता था, किन्तु हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 ने दोनों ही पक्षों को कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में तलाक देने की सुविधा प्रदान की है। विवाह को निम्नलिखित चार आधारों पर निरस्त किया जा सकता है। (1) विवाह के समय विवाहित स्त्री-पुरुष नपुंसक रहे हों। (2) विवाह के समय दोनों में से एक पागल या मूर्ख रहा हो (3) माता-पिता या संरक्षक की सहमति बलात ली गयी हो। (4) विवाह के समय पत्नी-पति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति से गर्भ धारण कर चुकी हो। विवाह-विच्छेद व्यभिचार, धर्म परिवर्तन, अस्वस्थ मस्तिष्क, कोढ़, सात वर्ष तक परित्याग आदि आधारों पर हो सकता है। पत्नी भी तलाक के लिये प्रार्थना पत्र दे सकी है यदि उसका पति विवाह से पूर्व भी एक पत्नी रखता हो या बलात्कार का दोषी हो। विशेष विवाह अधिनियम के अनुसार पारस्परिक सहमति के द्वारा विवाह किया जा सकता है।

8.17 विधवा पुनर्विवाह

परम्परागत रूप से विधवाओं को यह अधिकार नही दिया गया है कि वे फिर से विवाह करें, क्योंकि यह हिन्दू विवाह के आदर्शों के विपरीत था परन्तु हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 ने ही पुर्नविवाह के विषय में विधवाओं की सभी निर्योग्यताओं को दूर कर दिया था। विवाह की प्रथम शर्त यह है कि विवाह के समय किसी भी पक्ष का विवाह साथी जीवित न हो। इस प्रकार के विवाह की कोई भी सन्तान अवैधानिक नहीं होगी।

8.18 दहेज निषेध अधिनियम, 1961

विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में दहेज प्रथा उपहार के रूप में थी जिसे विवाह के समय कन्या के माता-पिता वर और वधू को प्रदान करते थे ऐसा करने के लिये उन्हें बाध्य नहीं किया जाता था। आधुनिक युग में दहेज प्रथा मानव मूल्यों पर एक बड़ा धब्बा है। आज इसका स्वरूप व्यावसायिक हो गया है।

इस प्रथा को समाप्त करने के लिये इस विधेयक में मुख्य प्राविधान है :

(1) यदि कोई व्यक्ति दहेज देता है व लेता है या लेन-देन में मदद करते हैं तो उस व्यक्ति को 6 माह का कारावास और 5000 रुपया जुर्माना होगा।

(2) दहेज लेन-देन के सन्दर्भ यदि किसी प्रकार का समझौता किया जायेगा तो अवैधानिक होगा।

(3) दहेज का उद्देश्य कन्या को लाभ देना मात्र होगा। यदि कोई व्यक्ति दहेज का रुपया स्वीकार करता है तो उसे 1 साल के भीतर वह रूपया विवाहित लड़की को लौटाना पड़ेगा।

(4) दहेज प्रथा के अन्तर्गत होने वाले अपराधों पर न्यायालय तभी विचार करेगा जबकि-

NAAC-188

(अ) इस सम्बन्ध में लिखित शिकायत की जाय

(ब) यह शिकायत किसी प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के न्यायालय में की जाय, और

(स) यह शिकायत एक वर्ष के अन्तर्गत की जाय।

8.19 प्रेम विवाह

सह शिक्षा, औद्योगीकरण, चलचित्र आदि प्रभावों के कारण प्रेम पर आधारित विवाह होने लगे हैं। इस प्रकार के विवाह में पत्नी पति की सहचरी, मित्र व साथी माने जाने लगी है जिससे समाज में उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन हिन्दू विवाह संस्था को नवीन सामाजिक विधानों ने परिवर्तन किया है और उसकी प्रकृति तथा स्वरूप में कई नवीन परिवर्तन घटित हो रहे हैं।

8.20 मुस्लिम स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन

पहले पत्नी को, बिना पति की स्वीकृति के विवाह विच्छेद करने का अधिकार नहीं था। इस निर्योग्यता को सर्वप्रथम सन् 1939 "मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम" के द्वारा समाप्त किया गया। इस अधिनियम में निम्न आधारों पर एक मुस्लिम स्त्री को विवाह विच्छेद के अधिकार दिये गये। (1) जब चार वर्ष से पति का कोई पता नहीं चल रहा हो। (2) जब पति अपनी असमर्थता के कारण दो वर्ष से पत्नी के भरण-पोषण की व्यवस्था करने में असफल है (3) जब पति को सात वर्ष या उससे अधिक अवधि की कैद का दण्ड मिल गया हो (4) विवाह के समय से ही पति नपुंसक हो (5) दो वर्ष की अवधि से पति पागल हो अथवा कोढ़ या गुप्त रोग से पीड़ित हो। (6) जब पति की ओर से शारीरिक निर्दयता है उसका बदनाम स्त्रियों से सम्पर्क है, पत्नी को अनैतिक जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य करता है, पत्नी के धार्मिक कार्यों में बाधा उत्पन्न करता है आदि।

औद्योगीकरण, नवीन आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक विचारधारा, यातायात के साधन, शिक्षा, पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव आज मुस्लिम समाज पर पड़ रहा है जिससे उनकी सामाजिक परिस्थितियाँ तेजी से बदल रही है।

8.21 ईसाई विवाह में आधुनिक परिवर्तन

वर्तमान समय में औद्योगीकरण नगरीकरण, पाश्चात्य शिक्षा, भौतिकवादिता, व्यक्तिवादी आदर्श तथा प्रेम आदि के कारण ईसाई विवाह से सम्बन्धित आदर्शों में परिवर्तन हो रहे हैं। ईसाई स्त्रियाँ आर्थिक क्षेत्र में काम करने के कारण अधिक स्वतंत्र हैं इससे विवाह की परम्परागत मान्यताओं एवम् रूप में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। चूंकि इन पर अन्य धर्म के मानने वालों की तुलना में पाश्चात्य संस्कृति का अधिक प्रभाव मालूम पड़ता है। ऐसी दशा में इनके परम्परागत वैवाहिक आदर्श बदल रहे हैं। जैसे विवाह का धार्मिक पक्ष शिथिल होता जा रहा है आज ईसाई नवयुवक और नवयुवतियाँ सिविल विवाह को अधिक पसन्द कर रहे हैं। ईसाई समाज में अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द वातावरण पाये जाने से, स्त्री पुरुषों को एक

दूसरे के निकट आने का अवसर अधिक मिलता है जिससे प्रेम अधिक बढ़ता है जिससे रोमांस पर आधारित प्रेम विवाह अधिक होते हैं। ईसाइयों से रक्त सम्बन्धियों के बीच विवाह सम्बन्ध वर्जित है, परन्तु वर्तमान में निकट के रक्त सम्बन्धियों को छोड़कर शेष सब में विवाह सम्बन्ध होने लगे हैं। ईसाइयों में यद्यपि धार्मिक दृष्टि से विवाह विच्छेद मान्य नहीं है तथापि उनमें विवाह विच्छेद की प्रवृत्ति तथा प्रतिशत बढ़ता जा रहा है। बढ़ते हुये विवाह विच्छेद पारिवारिक जीवन की स्थिरता में बाधक बन रहे हैं। इसी प्रकार धार्मिक दृष्टिकोण से विधवा विवाह उचित नहीं माना गया है परन्तु अब व्यभिचार को नियंत्रित रखने के लिये पति की मृत्यु के एक वर्ष बाद विवाह करने की आज्ञा दी गयी है। आजकल, ईसाइयों में विधवा पुनर्विवाह को प्रोत्साहिक किया जा रहा है। इन सब परिवर्तनों के कारण विवाह तथा पारिवारिक अस्थिरता ईसाइयों में एक समस्या का रूप ले रही है।

8.22 सारांश

परिवार और विवाह संस्थायें भारतीय सामाजिक व्यवस्था की मेरूदण्ड हैं परन्तु आज इन परम्परागत स्वरूप में बहुत अन्तर दिखाई देने लगा है। इस अन्तर का मूल कारण पश्चिमीकरण का आंख मून्द कर अनुकरण है। मुस्लिम और ईसाइयत ने भी भारतीय सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों को अनेक रूप से प्रभावित किया है। आज हिन्दू, मुस्लिम तथा ईसाई परिवारों एवं विवाह के कठोर नियमों को शिथिल कर दिया है। औद्योगीकरण के कारण स्त्रियों की अधिक स्वतंत्रता ने संयुक्त परिवार की अपेक्षा एकाकी परिवारों को जन्म दे दिया। विवाह भी आज धर्म की कहरता की परिधि से बाहर निकल रहा है। फिर भी भारतीय संस्कृति अपनी सहिष्णुता एवम् उदारता के गुणों के कारण अपने मौलिक स्वरूप को, विभिन्न परिवर्तनों के बाद भी बनाये हुये हैं।

8.23 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. के० एम० पण्णिकर, हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर
2. के० एम० कपाड़िया, मैरिज एण्ड फेमिली इन इण्डिया
3. एम० एस० गोरे, अर्वनाइजेशन एण्ड फेमिली चेन्ज
4. आर० बी० पाण्डे, हिन्दू संस्कार

8.24 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घउत्तरीय

1. एक सामाजिक संस्था के रूप में भारतीय परिवार की व्याख्या कीजिये।
2. भारत में संयुक्त परिवार के भविष्य पर एक लेख लिखिये।
3. हिन्दू विवाह के परम्परागत रूप में आधुनिक परिवर्तनों का निरुपण कीजिये।
4. मुसलमानों के सामाजिक संगठन का उल्लेख कीजिये।

NIDC-102

5. ईसाई परिवार एवम् विवाह की प्रवृत्तियों में परिवर्तन को स्पष्ट कीजिये।

लघुउत्तरीय

1. परिवार के संरचनात्मक परिवर्तन पर टिप्पणी लिखें।

2. परिवार के भविष्य पर टिप्पणी करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. बदली हुई सामाजिक सांस्कृतिक परिस्थितियों में एक तो परिवार की संरचना बदल रही है तथा दूसरा परिवर्तन किसमें आया है :

(अ) संख्या में (ब) आकार में (स) प्रकार्य में (द) किसी में नहीं

उत्तर : (स)

NMDC-102

NMDC-102

खण्ड

3

स्तरीकरण व्यवस्था : वर्ण जाति एवं वर्ग

इकाई 9

वर्ण, अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति

इकाई 10

जाति अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति, प्रकार्य, दुष्कार्य व भविष्य

इकाई 11

वर्ग संरचना- अवधारणा, विशेषताएं व भारत में उदय व विकास

इकाई 12

वर्ण, जाति, उपजाति वर्ग में अन्तर व जाति व वर्ग के मध्य
अन्तः क्रियात्मक सम्बन्ध

संदर्भ ग्रन्थ सूची

NMDC-102

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो के.पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.एन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ल, कुलसचिव	सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो० सी.एस. एस. ठाकुर — विषय विशेषज्ञ
आचार्य एवं अध्यक्ष, समाज शास्त्र विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

प्रो. जयकान्त तिवारी — विषय विशेषज्ञ
आचार्य समाजशास्त्र विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव — दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
रीडर, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रो. वी. के. पंत — सम्पादक
सेवा निवृत्त आचार्य एवं अध्यक्ष , समाज शास्त्र विभाग
(कुमार्यु विश्वविद्यालय, नैनीताल) लखनऊ

MASY-104 : – *भारतीय समाज : निरन्तरता एवं परिवर्तन*

लेखक मण्डल :

खण्ड एक :	**डॉ. जे. पी. मिश्र,** जे. एन. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
	डॉ. ए. एस. तिवारी, सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
खण्ड दो :	**डॉ. रश्मि त्रिवेदी,** रीडर, आर.बी.डी. स्नातकोत्तर महिला विद्यालय, बिजनौर	1 इकाई
	डॉ. ए. एस. तिवारी, सेवानिवृत्त रीडर, लखनऊ	2 इकाई
	डॉ. ए. के. सिंह, डी.ए.वी.पी.जी.कालेज, कानपुर	1 इकाई
खण्ड तीन :	**डॉ. अंशु केडिया,** ए.पी.सेन मेमो.पी.जी.कालेज, लखनऊ	4 इकाई
खण्ड चार :	**डॉ. अमरेश चन्द्र शुक्ला,** सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. रश्मि त्रिवेदी, रीडर, आर.बी.डी.स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिजनौर	3 इकाई
खण्ड पाँच :	**डॉ. ए. एस.तिवारी,** सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. डी.पी.बाजपेयी, सेवानिवृत आचार्य, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. जे.पी.मिश्र, जे.एन. स्नातकोत्तर महा. विद्यालय, लखनऊ	2 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

खण्ड - 3 : खण्ड परिचय - स्तरीकरण व्यवस्था:वर्ण जाति एवं वर्ग

इस खण्ड में समाज की स्तरीकरण व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुये वर्ण, ज़ाति एवं वर्ग को स्पष्ट किया गया है **पहली इकाई** का शीर्षक है ''वर्ण, अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति' । इसमें वर्ण व्यवस्था के अर्थ एवं अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। इसकी विशेषताओं तथा दोषों पर प्रकाश डाला गया है। **इकाई दो** का शीर्षक है ''जाति- अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति एवं भविष्य''। इसमें जाति व्यवस्था के अर्थ व अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। जाति प्रथा की विशेषताओं का चित्रण हुआ है। जाति प्रथा के सम्बन्ध में आधुनिक समाजशात्रियों के सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला गया है। **ईकाई तीन** का शीर्षक है ''वर्ग : अर्थ, अवधारणा, भारत में उदय व विकास'' । इसमें वर्ण के अर्थ व परिभाषा को स्पष्ट किया गया है। वर्ग की विशेषताओं एवं मापदण्डों पर प्रकाश डाला गया है। प्रमुख समाज शास्त्रियों के विचारों का उल्लेख किया गया है। **ईकाई चार** का शीर्षक है ''वर्ण, जाति एवं वर्ग में अन्तर व जाति व वर्ग के मध्य अन्तर्क्रियात्मक सम्बन्ध''। इसमें वर्ण और जाति के सह-सम्बन्ध के साथ-साथ अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है। जाति के उपविभाजन एवं उपजाति की भी विवेचना की गयी है। इसमें जाति और वर्ग के मध्य अन्तर्क्रियात्मक रूप की भी व्याख्या की गई है।

इकाई 9 वर्ण, अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 वर्ण का अर्थ व अवधारणा

9.3 वर्ण व्यवस्था के उद्भव सम्बन्धी सिद्धान्त

9.3.1 दैवी अथवा परम्परागत सिद्धान्त

9.3.2 आधुनिक विचार

9.4 विभिन्न वर्णों के कर्तव्य अथवा धर्म

9.5 वर्णव्यवस्था की विशेषताएं

9.6 वर्ण व्यवस्था का महत्व

9.7 वर्णव्यवस्था के दोष

9.8 सारांश

9.9 संदर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

9.10 प्रश्नोत्तर

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

* वर्ण व्यवस्था के अर्थ, अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
* इसके उद्भव के विभिन्न सिद्धान्त, चाहे वे परम्परागत हो या आधुनिक को भी जान सकेंगे।
* पौराणिक ग्रन्थों में विभिन्न वर्णों के क्या कार्य सम्बन्धी धर्म निर्धारित किये गये इनसे भी अवगत हो सकेंगे।
* आदिकालीन परन्तु प्रभावपूर्ण वर्णव्यवस्था की क्या विशेषताएं होने तथा दोषों की विवेचना कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

NIDC-182

भारतीय मनीषियों द्वारा समाज के कार्यात्मक विभाजन के लिए वर्णव्यवस्था को जन्म दिया गया। यह सामाजिक स्तरीकरण की अनूठी व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अन्तर्निहित तत्वों ने हमारी सामाजिक व्यवस्था पर दूरगामी प्रभाव डाले हैं। भारतीय हिन्दू समाज के विभिन्न

पौराणिक ग्रन्थों में इस व्यवस्था का उल्लेख है एवं उसके परम्परागत स्वरूप को धार्मिकता व अलौकिकता से जोड़ कर देखा गया है। इसके आध्यात्मिक स्वरूप के कारण ही, शताब्दियों बाद आज भी यह व्यवस्था भारतीय हिन्दू समाज में गहराई तक समायी हुई है। यद्यपि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु यह व्यवस्था सहायक रही है तथापि व्यक्तियों के मध्य अन्यायपूर्ण विभाजन ने इसे दोषयुक्त बना दिया है वर्तमान में यह व्यवस्था अपने मूल रूप में सैद्धान्तिक ही है परन्तु परिवर्तित प्रकार, जाति व्यवस्था के रूप में समाज को प्रथा वित कर रही है प्रस्तुत इकाई में वर्ण व्यवस्था के अर्थ, अवधारणा, उद्भव को स्पष्ट करने के साथ साथ इसके महत्व व दोष को भी विवेचित करने का प्रयास किया गया है।

9.2 वर्ण का अर्थ व अवधारणा

भारतीय समाज के इतिहास में वर्ण व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। जिसके अन्तर्गत सामाजिक स्तरीकरण (Social Stratification) की एक सुनियोजित नीति के अतर्गत भारतीय समाज का कार्यात्मक विभाजन किया गया। यह सुनियोजित नीति भारतीय मनीषियों के चिन्तन व अथक परिश्रम का परिणाम थी। इस नीति में एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया गया जो समाज और व्यक्ति को संमान रूप से महत्वपूर्ण मानती थी। भारतीय मनीषियों की यह नीति समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुकूल ही थी कि समाज का विकास हुए बिना व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता और व्यक्तित्व के विकास की समुचित सुविधा के बिना सामाजिक व्यवस्था को बनाए नहीं रखा जा सकता। समाज और व्यक्ति के मध्य संतुलन बनाए रखने के मूल में जिन व्यवस्थाओं का निर्माण हुआ उसके मूल में वर्ण व्यवस्था ही थी।

वर्ण व्यवस्था के मूल आधार में विवाद है तथापि मुख्य आधार रंग भेद व प्रजातीय आधार को ही माना गया है । आर्यों द्वारा इस विभाजन के अन्तर्गत कर्म, रूचि, स्वभाव के अनुसार वर्ण परिवर्तन की व्यवस्था भी रखी गयी थी। किन्तु परिवर्तन की प्रक्रिया सैद्धान्तिक अधिक थी व्यवहारिक कम। उत्तर वैदिक काल में इस व्यवस्था का लचीलापन कम होता गया एवं उसमे कठोरता आती गयी। समाज के कार्यात्मक विभाजन की इस व्यवस्था ने समाज की समस्त गतिविधियों को समय समय पर प्रभावित किया। कालान्तर में इसकी भेद परक प्रकृति के कारण विभिन्न वर्णों में संघर्ष व अन्य दुस्परिणाम भी सामने आए। इन विवादों के बावजूद भी वर्ण व्यवस्था की जड़ें कहीं से भी निर्बल नहीं हो पायी एवं वर्तमान में भी हिन्दू समाज में गहराई तक विद्यमान है। वर्ण व्यवस्था से भली भाँति अवगत होने के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम हम वर्णव्यवस्था के अर्थ व आधारभूत सिद्धान्तों से अवगत हो।

वर्ण का अर्थ व अवधारणा (Meaning of Varns)

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'वृञ् वरणे' अथवा 'वरी' धातु से हुयी है, जिसका अर्थ है 'चुनना' या 'वरण करना' । इस प्रकार एक ही व्यवसाय का चयन करने वाले व्यक्ति एक ही वर्ण के माने गये। व्यवसाय चयन के विचार के अतिरिक्त वर्ण शब्द के 2 अन्य

अर्थ भी निकलते हैं रंग तथा वृत्ति के अनुरूप। वर्ण शब्द का दूसरा अर्थ रंग से लगाया जाता है। रंग आधार पर भेद प्रजातीय भिन्नता को दर्शाता है। ऋग्वेद में जहां कहीं भी विभिन्न वर्णों का नाम आया है। वह आर्य और दास (अनार्य) के भेद के लिए माना जाता है प्रारम्भ में आर्य और दास इन दोनों वर्णों का ही उल्लेख है। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर आर्य और दास (अनार्य) के मध्य पारस्परिक संघर्षों की भी चर्चा की गयी है। जिसमें दासों के हारने व आर्यों के जीतने का उल्लेख है। 'दास' वर्ग को 'अतत' (देवताओं के नियम और व्यवहार को अस्वीकार करने वाले) 'मृध्रवाच:' (अमुधरभाषी), अपनास: (चपटी नासिका वाले तथा 'अकृतु' (यज्ञ न करने वाले) कहा गया है। पी. वी. काणे, सेनार्ट एवं डा. घुरिए का भी मत है कि प्रारम्भ में वर्ण शब्द का प्रयोग आर्यों और अनार्यों के भेद को व्यक्त करने के लिए किया गया किन्तु बाद में इसका प्रयोग समाज के चार वर्णों को व्यक्त करने के लिए किया गया। वर्ण शब्द का तीसरा अर्थ 'वृत्ति' से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से जिन व्यक्तियों की मानसिक एवं व्यवहार सम्बन्धी विशेषताएं एक समान हैं अर्थात् जो व्यक्ति समान स्वभाव के हों उन्हीं से एक वर्ण का निर्माण माना गया।

वास्तविकता यह है कि वर्ण शब्द मात्र शाब्दिक अर्थ के आधार पर समझा जा सकता सामान्यतया वर्ण का सम्बन्ध व्यक्ति के गुण तथा कर्म से है जैसा कि श्रीकृष्ण ने भी भगवदगीता में कहा है कि मैंने ही गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों की रचना की है। वे व्यक्ति जिनके गुण तथा कर्म एक से थे अर्थात जो समान स्वभाव के थे, वे सब एकही वर्ण के सदस्य माने गये। यद्यपि गुण और कर्म जटिल शब्द हैं। अत: इन्हें पूर्णतया समझा जाना आसान नहीं है। लेकिन ये शब्द व्यक्ति के स्वभाव और सामाजिक दायित्वों का ही बोध कराते हैं निष्कर्षत: समाज के सभी कार्यों को समुचित ढंग से चलाने के लिए व्यक्तियों के व्यवहार व स्वभाव को देखते हुए उनके मध्य कार्यों का समुचित विभाजन किया गया। वर्ण शब्द का अर्थ इसके उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों से अवगत होने के पश्चात, समझना अधिक आसान हो जाएगा।

9.3 वर्ण व्यवस्था के उद्भव सम्बन्धी सिद्धान्त (Origin of Varna system)

भारतीय समाज को सदियों से प्रभावित करने वाली वर्ण व्यवस्था के उद्भव से अवगत होना जितना अधिक महत्वपूर्ण है उतना ही अधिक दुरूह कार्य भी है। विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति कैसे हुयी? इससे सम्बन्धित विचारों में अत्यधिक भिन्नता है। एक ओर यह विचार वेदों उपनिषदों, गीता और पौराणिक गाथाओं के आधार पर स्पष्ट किए जाते हैं तो दूसरी ओर दर्शन को भी आधार के रूप में लिया जाता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि वर्णव्यवस्था का विकास क्रमश: धीरे धीरे सहस्त्रों वर्षों तक ऐतिहासिक घटनाओं के संदर्भ में हुआ।

जैसे जैसे हम वैदिक काल (4000-1000 बी.सी.) से ब्राह्मण काल (230 बी. सी.- 700 ए.डी.) तक चलते हैं ये चारों वर्ण श्रेणी क्रम में व्यवस्थित होते चले गये और ब्राह्मण सर्वोच्च शिखर पर रहे । विभिन्न वर्णों के कर्तव्य निर्धारण में गुण, व्यावसायिक प्रवृत्ति, समाज

की आवश्यकता आदि का ध्यान रखा गया। व्यक्तियों के कार्य निवधि रूप से चलते रहे इसके लिए इसे धार्मिकता का पुट दिया गया। इसके उद्‌भव सम्बन्धी विचारों को परम्परागत सिद्धानत व आधुनिक विचारधाराओं में विभाजित कर निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

9.3.1 दैवी अथवा परम्परागत सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के अनुसार वर्ण की उत्पत्ति ईश्वर प्रदत्त है अत: इसे धर्म आधारित पवित्र विभाजन माना गया है। वेद, उपनिषद, महाकाव्यों में अलग अलग विचारों के आधार पर वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति दर्शायी गयी है।

(अ) ऋग्वेद के अनुसार पुरूषसूक्त :

ऋग्वेद के पुरूषसूक्त मे एक ऐसे विराट पुरूष की कल्पना की गयी है जिसके मुख से ब्राह्मण , बाहु से क्षत्रिय, उरू (जांघ) से वैश्य तथा पद (पैर) से शूद्र की उत्पत्ति हुयी।

ऋग्वेद 10.90.12 ब्राह्मणोऽस्य दुखासीद् बाहू राजन्यकृत: ।

उरूतदस्य यद्‌वैश्य: पदभ्यां शूद्रोऽजायत ॥

इस विराट पुरूष अथवा ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति के आधार पर कुछ व्यक्ति वर्ण व्यवस्था को एक ईश्वरीय व्यवस्था के रूप में स्पष्ट करते हैं अनेक विद्वानों का मत है (जिनमें जिमर का नाम उल्लेखनीय है) कि पुरूषसूक्त का यह श्लोक मौलिक नही है बल्कि इसे बाद में जोड़ा गया है। अत: इसकी प्रामाणिकता पर अविश्वास व्यक्त किया जाता है। फिर भी यह श्लोक इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि इसमें वर्णों की दो विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। एक यह है कि एक विराट पुरूप के अंगों से विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति होने की बात यह स्पष्ट करती है कि विभिन्न वर्णों की स्वाभाविक विशेषताएं एक दूसरे से भिन्न हैं तथा दूसरी यह कि चारों वर्ण एक ही शरीर के विभिन्न अंगों से जुड़े होने के कारण कार्यात्मक रूप से भी एक दूसरे से सम्बद्ध है। जिस प्रकार सभी अंगों का शरीर में महत्व होता है, किसी भी एक अंग के सुचारू रूप से कार्य न करने की स्थिति में शरीर की स्थिति दयनीय हो जाती है उसी प्रकार किसी किसी एक वर्ण के बिना समाज की स्थिति भी गम्भीर हो जाती है ब्राह्मणों की उत्पत्ति मुख से होने के पीछे यह कारण माना गया कि उनका समस्त कार्य मुख से सम्बन्धित था अर्थात अध्ययन, अध्यापन का कार्य। क्षत्रियों को बाहु से इसीलिए उत्पन्न माना गया कि उनका कार्य था देश की सुरक्षा, प्रशासन आदि। बाहु शक्ति और वीरता का परिचायक माना गया है। वैश्यों का उद्‌भव जांघ से माना गया क्योंकि वैश्यों का मुख्यत: कार्य आर्थिक व्यवस्था की सुदृढ़ता से सम्बद्ध था। इनसे व्यापार, पशुपालन के द्वारा समाज की उदर पूर्ति की अपेक्षा की गयी थी। शूद्रों की उत्पत्ति पैरों से माने जाने के कारण इनका कार्य मुख्यत: अपनी सेवा द्वारा तीनों वर्णों और समाज को गति प्रदान करना था। अत: शरीर कोगतिमान रहने के लिए जिस प्रकार समस्त शारीरिक अंगों की आवश्यकता होती है ठीक उसी प्रकार समाज की गत्यात्मकता के लिए चारों वर्णों का अपना अपना महत्व है।

(ब) उपनिषद के अनुसार :

परम्परागत दैवी सिद्धान्तों के अन्तर्गत उपनिषदों विशेषकर वृहदारण्यक व छान्दोग्य उपनिषद में भी वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के उल्लेख पर भी प्रकाश डाला गया है। वृहदारण्यक उपनिषद में यह उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मा के साथ ही चारों वर्णों को उत्पन्न नहीं किया। आरम्भ में केवल ब्राह्मणों को ही जन्म दिया। जब ब्राह्मणों द्वारा समाज के लिए समस्त आवश्यक कार्य किया जाना असम्भव प्रतीत हुआ तो ब्रह्मा ने क्षत्रिय वर्ण की रचना की। जब इन दोनों वर्णों द्वारा भी समस्त कार्यों को सफलता पूर्वक पूरा नहीं किया जा सका तब ब्रह्मा ने बसु, मरूत, रूद्र, और अदित के द्वारा वैश्यों को जन्म दिया। अन्त में समाज की सेवा सम्बन्धी कार्यों के लिए शूद्र वर्ण को जन्म दिया। इससे दो बातें स्पष्ट हैं - प्रथम, सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अलग अलग समय पर विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुयी द्वितीय इस उद्भव का आधार इन वर्णों द्वारा की जाने वाली विभिन्न प्रकार की सेवाएं हैं।

(स) महाभारत के अनुसार:

दैवी एवं परम्परागत सिद्धान्त में महाभारत में अनेक स्थलों पर उल्लिखित वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के विचारों को भी सम्मिलित किया जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है "प्रारम्भ में केवल एक वर्ण ब्राह्मण (द्विज) वर्ण ही था। यही वर्ण बाद में ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में बंट गया। महर्षि भृगु ने अपने शिष्य भारद्वाज को उपदेश देते समय कहा है कि ब्राह्मणों का रंग श्वेत (सफेद) था जो सतोगुण पवित्रता का परिचायक था। क्षत्रियों का लोहित (लाल) रंग राजसगुण क्रोध को अभिव्यक्त करता था। इसी तरह वैश्यों का पीत (पीला) रंग रजोगुण तथा तमोगुण के मिश्रण का सूचक था। शूद्रों का श्याम (काला) रंग तमोगुण का सूचक था। रंगों के आधार पर वर्णों के विभाजन की कठिनाई का समाधान करते हुए भृगु का आगे कथन है कि रंग वास्तव में वर्ण विभाजन का आधार नहीं है, वास्तविक आधार तो शक्ति के गुण और कर्म ही हैं

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्रह्मनिंद जगत।

ब्राह्मण पूर्वसृष्टं हि कर्म भिर्णतां गतम् ॥

इस प्रकार यद्यपि ब्रह्मा ने सभी को समान उत्पन्न किया था लेकिन धीरे धीरे व्यवहार और कर्म आधारित विशेषताओं से भिन्न वर्ण में समाहित होते चले गये। जो ब्राह्मण क्रोधी और अभिमानी हो गये। उन्हें क्षत्रिय कहा जाने लगा व्यवसाय उन्मुख मस्तिष्क वाले ब्राह्मण व्यापार और कृषि में लग गये एवं वैश्य कहलाए लोभी एवं असत्यता का आश्रय लेने वाले ब्राह्मण शूद्र वर्ण की श्रेणी में आ गये।

(4) गीता के अनुसार :

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता के चौथे अध्याय यमें बताया है कि अर्जुन गुण और कर्मों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र वर्णों की उत्पत्ति मेरे ही द्वारा की गयी है।

वैदिक ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ स्मृतियों में भी वर्ण की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार मिलते हैं

ऋग्वेद के पुरूष सूक्त के समान ही वर्ण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मनुस्मृति, विष्णु पुराण और मत्स्य पुराण में विचार व्यक्त किये गये हैं। वायु पुराण में क्षत्रिय वर्ण को ब्रह्मा की बाह से उत्पन्न न मानकर वक्ष से उत्पन्न माना गया है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारतीय मनीषियों ने वर्णों की उत्पत्ति पर ब्रह्म से स्वीकार कर इसे धार्मिक आधार प्रदान किया और इस व्यवस्था को आदिकालीन माना। यह व्यवस्था प्रारम्भ में गुण कर्म के अनुसार परिवर्तनशील थी लेकिन कालान्तर में धार्मिक संकीर्णता ने इस व्यवस्था में लोच को कम कर दिया। जिसके कारण वर्ण व्यवस्था की मौलिक उदारता आगे चलकर जाति व्यवस्था की संकीर्णता में परिवर्तित हो गयी।

वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति की आधुनिक विचारधारा

(अ) डा. राधाकृष्णन के विचार -

वर्ण सदस्यता के निर्धारण के सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णा की मान्यता है कि यद्यपि इस व्यवस्था में आनुवांशिक क्षमताओं (जन्म) का महत्व था, तथापि यह प्रमुख रूप से कर्म प्रधान व्यवस्था थी । आपने ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वर्ण में यदि जन्म का ही महत्व होता तब उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की अनुमति नहीं दी जाती। उदाहरण के लिए यदि वर्ण का निर्धारण जन्म से ही होता तब विश्वामित्र सदैव क्षत्रिय ही रहते वे राज जनक को ब्राह्मण की प्रतिष्ठा कभी प्राप्त न हो पाती इसी तरह महामुनि व्यास, वाल्मीकि, अजमीठ अपने गुण तथा कर्म के आधार पर अपना वर्ण परिवर्तन कर पाए। स्मृति में यहां तक उल्लेख है कि जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है लेकिन अपने संस्कार अथवा कर्मों से शुद्ध होकर ही वह ब्राह्मण की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

जन्मना जायते शूद्र: संस्कारै द्विज उच्यते।

इस प्रकार आपका मत था कि वर्ण का आधार गुण तथा कर्म था, न कि जन्म।

(ब) डा. जी. एस. घुरिये के अनुसार:

डा. घुरिये व्यक्तिगत विशेषताओं को महत्व देते हुये वर्ण का वास्तविक सम्बन्ध रंग से मानते हैं। आपके अनुसार आरम्भ में हमारे समाज में दो ही वर्ण थे- आर्य एवं दस्यु । आर्यों एवं दस्युओं (द्रविड़ों) के मध्य हुए युद्ध में आर्यों ने द्रविड़ों को परास्त कर अपना दास बना लिया। समय के साथ साथ आर्यों की संख्या में वृद्धि होती गयी और कर्म के आधार पर भी भिन्नता आती गयी। अत: अपने अपने गुणों के आधार पर ही ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, वर्णों में विभाजित हो गये। डा. घुरिये के अनुसार यही कारण था कि प्रारम्भ में इन वर्णों के मध्य विवाह, खान पान और अन्य सम्बन्ध के उदाहरण भी मिलते हैं।

(स) श्री के. एम. पणिक्कर के विचार :

आपने व्यावायिक तथ्यों के आधार पर वर्ण व्यवस्था के जन्म आधारित विचारों की कटु आलोचना की। आपके अनुसार वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म होता तो सहजता से व्यवसाय बदलना सम्भव न हो पाता जबकि पौराणिक साहित्यों से इस कथन की पुष्टि होती है कि

ब्राह्मण अध्ययन अध्यापन के साथ औषधि, शस्त्र सम्बन्धी और प्रशासनिक कार्य भी करते थे । बौद्ध ग्रन्थों में भी कहीं कहीं ब्राह्मणों की आखेट क्रिया औरव्यावसायिक गतिविधियों का उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्यों के उदाहरणों से आपने सिद्ध करने का प्रयास किया कि व्यक्ति के व्यावसायिक व वैवाहिक सम्बन्धों में जन्म आधारित प्रतिबन्ध नहीं थे।

(द) महात्मा गाँधी के विचार :

वर्ण का अर्थ रंग और व्यवसाय दोनों से होता था। वंशानुक्रमण द्वारा जन्म से ही एक व्यक्ति को रंग और व्यवसाय प्राप्त होता है अत: वर्ण निर्धारण का आधार जन्म है।

(य) बसन्त कुमार चट्टोपाध्याय के विचार:

द्रोणाचार्य का उदाहरण देते हुए आपका मत है कि वर्ण का आधार जन्म है न कि कर्म। यदि कर्म ही वर्ण का आधार होता तो द्रोणाचार्य ब्राह्मण नहीं होकर क्षत्रिय होते क्योंकि वे कर्म से क्षत्रिय थे।

परम्परागत सिद्धान्त व आधुनिक विद्वानों के विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष सामने आता है कि यह व्यवस्था अपने उद्भव को लेकर विवादास्पद ही हैं श्री पणिक्कर तो इस व्यवस्था की मात्र कल्पना आधारित मानते हैं। जिसकी प्रामाणिकता नहीं सिद्ध की जा सकती। आपके अनुसार गीता में श्री कृष्ण द्वारा कहा गया कथन 'चातुर्वर्ण मया सृष्टं गुण कर्म विभागश:' ब्राह्मणों की जन्मजात श्रेष्ठता के दावे का खण्डन ही है।

यह व्यवस्था अपने उद्भव के समय गुण कर्म आधारित रही होगी लेकिन शनै: शनै: गुण को जन्म आधारित मानकर इसमें जन्म के महत्व को प्राथमिकता दी जाने लगी होगी। यही कारण है कि इस व्यवस्था में संकीर्णता आती गयी। ब्राह्मण काल में इस व्यवस्था को धार्मिकता का पुट देकर ब्राह्मणों की सर्वोच्च सत्ता बनाए रखने के लिए इसे पूर्णतया जन्म आधारित बना दिया गया। जों भीहो प्रारम्भ में इस व्यवस्था में खुलापन था जो कि बाद में आनुवांशिक होकर अपरिवर्तन शील हो गयी। वर्तमान में यह व्यवस्था सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र ही है।

9.4 विभिन्न वर्णों के कर्तव्य अथवा धर्म (Duties of various Varna)

सभी वर्ण अपने अपने दायित्वों का निर्वाह कर सके इस उद्देश्य को लेकर विभिन्न स्मृतियों, पुराणों तथा महाभारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है।

(1) ब्राह्मण धर्म :

ब्राह्मणों का मुख्य धर्म इंद्रियों पर संयम रखना माना गया है। मनुस्मृति के अनुसार वेदों का अनुशीलन (अभ्यास), तप, अध्ययन, अध्यापन एवं यज्ञों का सम्पादन ब्राह्मण के मुख्य दायित्व हैं।

वेदोभ्यासो हि विप्रस्य तप: परिमिहोच्यते ।

अध्यापन अध्ययन यजनं याजनं तया ॥ 2.166 ॥

NMDC-102

(2) क्षत्रियों का धर्म :

मनुस्मृति के अनुसार प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, एवं विषयों में आसक्ति न रखना क्षत्रियों के प्रमुख कर्म है। गीता में क्षत्रियों के 7 प्रकार बताये गये हैं ये हैं - शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना, दान देना और नि:स्वार्थ भाव से प्रजा का पालन करना।

शौर्य तेजौ धृति र्दाक्ष्यं युद्धे चाप्य पलायनम् ।

दानभीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

गीता 18/43 ॥

(3) वैश्यों का धर्म :

गीता में कृषि, गोरक्षा करना तथा व्यापार को ही वैश्यों का धर्म बताया गया है। मनुस्मृति में उल्लिखित वैश्यों के कर्तव्य हैं –पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, व्यापार करना, ब्याज पर धन देना एवं कृषि करना।

पशूनां रक्षण दान भिज्या ध्ययन मेव च।

वाणिक्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृषमेव च ॥

(4) शूद्र धर्म :

अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना, शूद्र का प्रधान कर्तव्य माना गया है। मनुस्मृति के अनुसार शूद्रों का एकमात्र धर्म अपने से उच्च तीनों वर्णों की बिना किसी ईर्ष्याभाव (असूया) के सेवा करना है।

''एक मेव तु शूद्रस्य प्रभ: कर्म समादिशत् ।

एतेषा मेव वर्णानां शूश्रूषामन सूयया ॥

उपर्युक्त धर्म सभी वर्णों के विशिष्ट धर्म हैं इसके अतिरिक्त सभी के प्रति सरल भाव रखना क्रोध न करना, क्षमाशील होना, सभी जीवों का भरण पोषण करना, सच बोलना और धन बाटकर उसको काम में लेना आदि सभी वर्णों के सामान्य धर्म हैं।

9.5 वर्ण व्यवस्था की विशेषताएं (Characteristics of Varna-System)

अपनी विशेषताओं के कारण ही यह व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखती है इस व्यवस्था की मुख्य विशेषताएं निम्न प्रकार हैं-

(1) गुण व कर्म आधारित :

पौराणिक धम्र ग्रन्थों के आधार पर स्पष्ट होता है कि यह व्यवस्था गुण व कर्म पर आधारित रही है। व्यक्ति अपने गुणों व कर्मों में परिवर्तन कर उच्च वर्ग में सम्मिलित हो सकता। इस प्रकार उच्च वर्ण की प्राप्ति हेतु व्यक्ति सदकर्म करने के लिए प्रेरित होता था ।

(2) श्रम विभाजन पर आधारित:

सभी वर्णों के कर्म इस प्रकार निर्धारित किये गये थे कि समाज के समस्त दायित्वों की पूर्ति निर्बाध रूप से हो सके। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यों की पूर्ति करता हुआ सामाजिक प्रगति में योगदान दे सके।

(3) जन्म पर आधारित स्तरीकरण:

यद्यपि वर्ण व्यवस्था में व्यक्ति के गुण तथा कर्म का विशेष महत्व है लेकिन व्यावहारिक रूप से यह व्यवस्था जन्म आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति आजीवन अपने वर्ण की सदस्यता में परिवर्तन नहीं कर सकता। वर्ण परिवर्तन के यदि कोई उदाहरण मिलते हैं तो वे अपवाद ही कहे जा सकते हैं।

(4) शक्ति व अधिकारों का निश्चित वितरण :

वर्ण व्यवस्था में समस्त वर्णों की शक्तियां व अधिकार पूर्व निर्धारित हैं। इस व्यवस्था में ब्राह्मण सर्वोच्च है समाज रूपी शरीर के अंगों के कार्यों से इन वर्णों के कार्यों की तुलना करके इनको सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी माना गया है।

(5) व्यवसायों का परम्परागत रूप :

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के व्यवसाय पूर्व निर्धारित आनुवंशिक होते हैं यद्यपि भृगु का यह कथन है कि व्यक्ति को व्यवसाय के आधार पर ही एक विशेष वर्ण की सदस्यता प्राप्त होती है। यह कथन वर्ण व्यवस्था की आरम्भिक स्थिति में तो सत्य माना जा सकता था परन्तु बाद में व्यक्ति को जन्म के द्वारा जिस वर्ण की सदस्यता प्राप्त होती थी उसे अपने ही वर्ण से सम्बन्धित व्यवसाय अपनाना आवश्यक था।

(6) आध्यात्मिकता :

हमारे मनीषियों द्वारा वर्ण व्यवस्था को धर्म के साथ जोड़ दिया गया ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपना दायित्व निर्वाह अपना कर्तव्य समझ कर करे। वर्ण व्यवस्था में सामूहिक कल्याण और व्यक्तिगत आकांक्षाओं का समन्वय किया गया है। इसी आधार पर यह व्यवस्था सामाजिक होते हुये भी पवित्र मानी गयी है।

(7) गुणात्मक प्रेरणा:

वर्ण व्यवस्था गुणात्मक प्रेरणा का स्रोत है जिसमें प्रत्येक को यह प्रेरणा मिलती है कि यदि वह अपने वर्ण धर्म का पालन करेगा, तो आगामी जीवन में उसे उच्च वर्ण की सदस्यता प्राप्त होगी। इस प्रेरणा ने व्यक्तियों को कर्तव्य पालन के लिए विशेष प्रोत्साहन दिया है।

9.6 वर्ण व्यवस्था का महत्व (Importance of Varna System)

सामान्यतया जातिप्रथा के दुष्परिणामों को देखते हुए वर्ण व्यवस्था की भी आलोचना की जाती रही है। वास्तविकता यह है कि वर्ण व्यवस्था अपने प्रारम्भिक समय में जन्म आधारित न होकर गुण व कर्म आधारित थी यद्यपि यह कभी भी प्रभावपूर्ण भूमि का निर्वहन नहीं कर

सकती तथापि निम्न महत्वों को अपने में समेटे हुए थी।

(1) लचीली व्यवस्था:

वर्ण निर्धारण का आधार गुण व कर्म था। अत: व्यक्ति अपने गुण व कर्म में परिवर्तन करके उच्च वर्ण की सदस्यता ग्रहण कर सकता था अत: यह व्यवस्था व्यक्ति को सदकर्म के लिए प्रेरित करती थी।

(2) सामाजिक संघर्षों से छुटकारा:

इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को एक निश्चित सामाजिक स्थिति प्राप्त होती थी प्रत्येक सामाजिक स्थिति के सामाजिक दायित्व व कर्तव्य भी पूर्व निर्धारित थे अत: व्यक्तियों के मध्य प्रतियोगिता व संघर्ष की आवश्यकता नहीं रह गयी थी।

(3) श्रम विभाजन और विशेषीकरण :

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत परम्परागत व्यवसाय को अपनाने के फलस्वरूप व्यक्ति बचपन से ही व्यवसाय में निपुण होने लगता था, इससे न केवल व्यावसायिक योग्यता में विशेषीकरण हुआ बल्कि बेरोजगारी जैसी समस्या का यह अच्छा समाधान था।

(4) कर्तव्य पालन की प्रेरणा:

इस व्यवस्था ने वर्ण धर्म के पालन पर जोर देकर लोगों को अपने कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ते जाने के लिए प्रेरित किया। इसे मोक्ष प्राप्ति का मार्ग भी बताया गया है । इस प्रेरणा ने व्यक्तियों को सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति में योग देने को प्रोत्साहित किया।

(5) समानता की नीति पर आधारित :

इस व्यवस्था में सामाजिक संस्तरण की एक सुनियोजित नीति अपनायी गयी थी। इस संस्तरण की व्यवस्था में सभी वर्णों के कार्यों को समान महत्व प्रदान किया गया था।

(6) गतिशीलता :

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तियों को अपनी सामाजिक स्थिति को उन्नत करने की छूट दी गयी थी। वर्ण व्यवस्था की इसी गतिशील प्रकृति के कारण व्यक्तियों को अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने की प्रेरणा मिली।

(7) रक्त की पवित्रता:

रक्त की शुद्धता बनाए रखने के उद्देश्य से अन्य वर्णों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं प्रदान की गयी। इस प्रकार हमारी सांस्कृतिक विशेषताएं बिना किसी अवरोध के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती चली गयी।

9.7 वर्ण व्यवस्था के दोष (Demerits of Varna System)

व्यावहारिक रूप में यह व्यवस्था न्यायपूर्ण, समतावादी व कल्याणकारी, नहीं मानी जा सकती। इस व्यवस्था में इतने अधिक दोष हैं कि इसे किसी भी प्रकार उपयुक्त नहीं माना जा सकता।इस व्यवस्था के निम्न दोषों का उल्लेख किया जा सकता है —

(1) यह व्यवस्था नैतिकता के दोहरे प्रतिमान को स्वीकारती है। व्यावहारिक रूप में कोई भी व्यक्ति इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर सकता कि जन्म के आधार पर कुछ व्यक्तियों को अज्ञानी, अपवित्र, सुस्त मानकर उनको उन्नति के अवसर न प्रदान किये जाए।

(2) वर्ण संकरता की अवधारणा की एक अत्यधिक संकीर्ण मनोवृत्ति की द्योतक है। यह मानना कि भिन्न वर्ण के स्त्री पुरूष से उत्पन्न सन्तान वर्णसंकर होती है और दुर्गुणयुक्त होती है निराधार है। इसे जैविकीय आधार पर सिद्ध भी नहीं किया जा सकता।

(3) यह व्यवस्था कालान्तर में दोषयुक्त जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो गयी । यह जाति व्यवस्था राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक होने के साथ साथ देश के विकास के लिए भी हानिकारक है।

(4) वर्ण व्यवस्था में समाज के एक बड़े वर्ग को शूद्रमान कर उसका अमानवीय शोषण किया गया है। इस वर्ण को तमोगुण प्रधान मानकर अज्ञानी माना गया एवं कालान्तर में इसी वर्ण को अस्पृश्यता द्वारा शोषण का शिकार भी होना पड़ा।

नि:सन्देह यह व्यवस्था मानवीय दृष्टि से दोषपूर्ण रही है जिसे अलौकिकता,आध्यात्मिकता और परम्परागत सिद्धान्त का जामा पहनाकर स्थिर बनाने का प्रयत्न किया गया।

9.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई सामाजिक स्तरीकरण के एक प्रमुख प्रकार वर्णव्यवस्था पर आधारित है। इस व्यवस्था ने भारतीय समाज को अत्यन्त गहराई तक प्रभावित किया है। अत: भारतीय समाज की विशेषताओं से अवगत होने के लिए आवश्यक था कि इस व्यवस्था से परिचित हुआ जाए। अत: इस इकाई में सर्वप्रथम वर्णव्यवस्था के अर्थ व अवधारणा को स्पष्ञ किया गया है। तत्पश्चात इसके उद्भव सम्बन्धित विभिन्न परम्परागत सिद्धान्तों व आधुनिक विचारों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। इन सिद्धान्तों में रंग, जन्म, गुण कर्म के आधार पर उत्पत्ति के विवाद पर स्पष्ट दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास किया गया है। तत्पश्चात विभिन्न वर्णों के कर्तव्यों व दायित्वों सम्बन्धित विशिष्ट व सामान्य धर्म का उल्लेख किया गया है। अति प्राचीन इस वर्णव्यवस्था की कुछ ऐसी विशेषताएं व महत्व अवश्य रहे हों गे जिसके कारण शताब्दियों से हम इसे किसी न किसी रूप में अभी तक स्वीकार करते आए हैं। इन्हीं विशेषताओं व महत्व को देखते हुए प्रस्तुत इकाई में इनका पृथक पृथक उल्लेख है। अन्त में इस व्यवस्था में सन्निहित दोषों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

9.9 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

सेनार्ट कास्ट इन इण्डिया पृ0 46

घुरिये वैदिक इण्डिया

गीता अध्याय 4 श्लोक 13, 18.43

NMDC-102

ऋग्वेद 10/90/12

प्रो. रानाडे ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलॉसफी पृ0 60

महाभारत शान्तिपर्व, 122, 4.5

मनुस्मृति 1.89, 1.90, 1.91, 2.166

के. एम. पणिक्कर हिन्दू समाज निर्णय के द्वार पर पृ0 15

9.10 प्रश्नोत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के ऋग्वेद सिद्धान्त को स्पष्ट करें।

प्र. 2 उद्भव सम्बन्धी आधुनिक विचारों में से किसी एक विचारक के विचारों का उल्लेख करें?

प्र.3 वर्ण व्यवस्था की विशेषताओं को विवेचित करें?

प्र.4 क्या वर्ण व्यवस्था वर्तमान में जीवित हैं? यदि हाँ तो किस रूप में, संक्षेप में लिखें?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्र.1 क्या वर्ण व्यवस्था का उद्भव जन्म आधारित था या गुण कर्म आधारित? विभिन्न विचारकों के विचार की सहायता से विश्लेषित करें?

प्र.2 विभिन्न वर्णों के धर्म या दायित्वों का उल्लेख करें?

प्र.3 वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के परम्परागत या दैवी सिद्धान्तों की समालोचनात्मक व्याख्या करें?

प्र.4 गुण दोषों की विवेचना करते हुए बताएं कि दोषों के विद्यमान होने के पश्चात भी यह व्यवस्था परिवर्तित रूप में क्यों कायम हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

प्र.1 'धातुवर्ण मयासृष्टं गुण कर्म विभागशः' का उल्लेख किस पौराणिक ग्रन्थ में है?

(अ) ऋग्वेद (ब) उपनिषद (स) पुराण (द) गीता

उत्तर (द) गीता

प्र.2 वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति में वंशानुक्रमण के नियम का किस विचारक ने उल्लेख किया है-

(अ) डा. राधाकृष्णन (ब) महात्मा गाँधी (स) के. एम. पणिक्कर

(द) बसन्त कुमार चट्टोपाध्याय

उत्तर (ब) महात्मा गाँधी

प्र.3 किस वर्ण का कार्य व्यवसाय कृषि, पशुपालन माना गया है?

(अ) ब्राह्मण (ब) क्षत्रिय (स) वैश्य (द) शूद्र

उत्तर (स) वैश्य

प्र. 4 वर्ण व्यवस्था का परिवर्तित रूप क्या है?

(अ) आश्रम व्यवस्था (ब) जाति व्यवस्था

(स) संस्कार (द) पुरूषार्थ

उत्तर (ब) जातिव्यवस्था।

इकाई 10 जाति-अर्थ, अवधारणा, उत्पत्ति एवं भविष्य

इकाई की रूपरेखा

10.1 उद्देश्य

10.2 प्रस्तावना

10.3 जाति प्रथा का अर्थ व अवधारणा

10.4 जाति प्रथा की विशेषताएं

10.5 जाति प्रथा की उत्पत्ति

10.6 जाति प्रथा के प्रकार्य

10.7 जाति प्रथा के दुष्कार्य

10.8 जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक व आधुनिक परिवर्तन

10.9 जाति प्रथा का भविष्य

10.10 सारांश

10.11 प्रश्न

10.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप:

* जाति व्यवस्था के अर्थ व अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।

* जाति प्रथा की विशेषताओं का विवरण कर सकेंगे।

* उदभव् के परम्परागत सिद्धान्त के साथ-साथ आधुनिक समाजशास्त्रियों द्वारा दिये गये उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना कर सकेंगे।

* जाति प्रथा की प्रकार्यों का वर्णन कर सकेंगे।

* अंत में जाति प्रथा के भविष्य के बारे में विवेचना कर सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना

भारतीय समाज की एक आधाभूत विशेषता वर्ण व्यवस्था थी जिसका कि पूर्व इकाई में हम लोगों ने अध्ययन किया। यह व्यवस्था कालान्तर में अनेक जातियों व उपजातियों में परिवर्तित हो गयी। वर्ण व्यवस्था में गुण कर्म के आधार पर लोच शीलता जाति व्यवस्था में पूर्णतया परिवर्तित होकर जन्म आधारित हो गयी। इस प्रकार यह व्यवस्था बंद स्तरीकरण के रूप में सामने आयी।

वर्तमान में भारतीय सामाजिक संस्थाओं में जाति एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था है। चाहे ग्रामीण वासी हो या नगरवासी सभी के जीवन व व्यवहार के स्वरूप का निर्धारण करने में

जन्म से लेकर मृत्यु तक जाति व्यवस्था एक प्रभावशाली व महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। **डा. सक्सेना** का मत है कि जाति हिन्दू सामाजिक संरचना का मुख्य आधार रही है, जिससे हिन्दुओं का सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक और राजनैतिक जीवन प्रभावित होता रहा है। हिन्दुओं के सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र का अध्ययन बिना जाति के विश्लेषण के अपूर्ण ही रहता है।

श्रीमती कर्वे का भी मत है कि यदि हम भारतीय संस्कृति के तत्वों को समझना चाहते हैं तो जाति प्रथा का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

सन् 1931 की जनगणना में सामाजिक स्थिति की भिन्नता के आधार पर भारत में 2,993 जातियां व उपजातियां पायी गयीं। अत: इतनी अधिक जातियों वाली व्यवस्था को किसी एकयादों परिभाषाओं मे समाहित करना कठिन कार्य है। जाति व्यवस्था की जटिलता व व्यापकता को देखते हुए ही हट्टन (Hutton) का मानना है कि इस व्यवस्था के पूर्ण अध्ययन के लिए विशेषज्ञों की एक सेना (An Army of specialists) की आवश्यकता होगी।

10.3 जाति व्यवस्था का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Caste)

जाति शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द (Caste) कास्ट का हिन्दी अनुवाद है । अंग्रेजी में इस भाषा की व्युत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के Casta शब्द से मानी जाती है। Casta का अर्थ है प्रजाति अथवा प्रजाति भेद। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1665 में ग्रेसिया डि ओर्टा (Gracia de Orta) द्वारा प्रजातीय समूहों के विभेद के अर्थ में किया गया था। इसके बाद फ्रांस के अब्बेडुबॉय ने इसका प्रयोग प्रजाति के संदर्भ में किया। परन्तु भारतीय जाति व्यवस्था का सम्बन्ध प्रजातीय भिन्नता से नहीं है वरन् सामाजिक स्तरीकरण की नीति से लिया जाता है। इस प्रकार 'जाति' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृति के शब्द जात: से मानी जाती है जिसका तात्पर्य है - व्यक्ति के "जन्म" अथवा "जन्म के परिवार" से है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा जाति व्यवस्था को निम्न प्रकार परिभाषित किया गया है।

कूले के अनुसार :- "जब एक वर्ग पूर्णत: आनुवंशिकता पर आधारित होता है तो हम उसे जाति कहते हैं।"

कूले की परिभाषा के अलभग समान अर्थ में **मजूमदार** व **मदान** कहते हैं "जाति एक बन्द वर्ग है"।

ये दोनो ही परिभाषाएं जाति की जन्म आधारित विशेषता को महत्व देती है। कोई भी व्यक्ति अपनी शिक्षा योग्यता व गुण में वृद्धि करके जाति नहीं बदल सकता। व्यक्ति की जीवनपर्यन्त एक ही जाति रहती है।

जाति के अधिकांश पक्षों को समाहित करते हुए **ब्लण्ट** कहते हैं, "जाति एक अन्तर्विवाही समूह अथवा अन्तविवाही समूहों का संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता आनुवंशिक होती है, जो सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सदस्यों पर

NMDG-102

कुछ प्रतिबन्ध लगाता है, इनके सदस्य या तो एक सामान्य परम्परागत व्यवसाय को करते हैं अथवा किसी सामान्य आधार पर अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं। इस प्रकार एक समान समुदाय के रूप में मान्य होते हैं। ''

ब्लण्ट की इस परिभाषा की आलोचना एक सामान्य पूर्वज से सम्बद्धता की विचारधारा के कारण की गयी है। वास्तव में कोई भी जाति अपनी उत्पत्ति एक सामान्य पूर्वज से नहीं मानती, बल्कि ऐसा विश्वास गोत्र (Clan) के सम्बन्ध में किया जा सकता है।

सर रिजले के अनुसार ''जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक संकलन है जिसका कि सामान्य नाम है, जो एक काल्पनिक पूर्वज मानव या देवता से सामान्य उत्पत्ति का दावा करता है, एक ही परम्परागत व्यवसाय करने पर बल देता है और एक सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होता है जो अपना ऐसा मत व्यक्त करने के योग्य है।''

इस कथन की सबसे बड़ी कमी यह मानी जाती है कि इसमें ''गोत्र और जाति'' को मिला दिया गया है। काल्पनिक पूर्वज से वंश परम्परा या उन्नति का दावा गोत्र के लोग स्वीकार करते हैं न कि जाति के लोग। वैसे जाति का कोई काल्पनिक सामान्य पूर्वज नहीं होता।

केतकर के अनुसार:- ''जाति एक सामाजिक समूह है जिसमें (क) एक विशेष जाति का सदस्य केवल उन्हीं व्यक्तियों तक सीमित होती है जिन्होंने उसी जाति में जन्म लिया हो, तथा (ख) जिसके सदस्यों पर एक दृढ़ सामाजिक नियम द्वारा अपने समूह के बाहर विवाह करने पर निषेध लगा दिया जाता है।

केतकर द्वारा दी गयी परिभाषा तुलनात्मक रूप से अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि आपने कुछ स्थानों पर जाति के एक ''सामान्य नाम'' व ''संस्तरण'' की भी चर्चा की है।

हट्टन के अनुसार :- ''जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज अनेक 'आत्मकेन्द्रित' तथा एक दूसरे से पृथक इकाइयों (जातियों) में विभाजित रहता है। इन इकाइयों के पारस्परित सम्बन्ध ऊँच नीच के आधार पर सांस्कारिक रूप से निश्चित होते हैं।

आलोचकों के अनुसार 'हटटन' के विचार अधिक सन्तुलित हैं, लेकिन जिन अर्थों में हट्टन ने 'आत्मकेन्द्रित' शब्द का प्रयोग किया है। उसका सम्बन्ध 'जातिवाद' से है, जाति व्यवस्था से नहीं।

वास्तविकता यह है कि जाति का स्वरूप विभिन्न स्थानों व विभिन्न कालों में एक दूसरे इतना भिन्न रहा है कि इसकी कोई भी सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन है। विभिन्न कठिनाइयों को देखते हुए एन. के. दत्त और डा. घुरिये जैसे विद्वानों ने जाति की कोई परिभाषा न देकर इसको कुछ विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया है।

10.4 जाति प्रथा की विशेषताएं (Characteristics of Caste System)

एन.के. दत्त द्वारा जाति व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया गया है:-

1. एक जाति के सदस्य अपनी जाति के बाहर विवाह नही कर सकते।

2. प्रत्येक जाति के दूसरी जातियों के साथ खान पान के सम्बन्ध में कुछ प्रतिबन्ध होते है

3. अधिकांश जातियों के व्यवसाय निश्चित होते हैं।

4. सभी जातियों में ऊँच नीच का एक संस्तरण होता है, जिनमें ब्राह्मणों की सर्वोच्चता निर्विवाद है।

5. व्यक्ति का जाति जन्म से ही निश्चित होती है।

6. सम्पूर्ण जाति व्यवस्था ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर आधारित है।

सांस्कृतिक व संरचनात्मक पक्ष के आधार पर डा. घुरिये ने जाति व्यवस्था की 6 विशेषताओं का उल्लेख किया है:

1. **समाज का खण्डात्मक विभाजन (Segmental Division of Society)-** जाति व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय समाज अनेक खण्डों में विभाजित है और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य निश्चित है। डा. घुरिये के अनुसार खण्ड विभाजन से अभिप्राय एक जाति के सदस्यों की सामुदायिक भावना व निष्ठा सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर अपनी ही जाति तक सीमित होती है।

2. **संस्तरण (Hierarchy)** - समाज में सभी जातियों के मध्य ऊंच नीच का एक संस्तरण पाया जाता है । ऊंच नीच की इस व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊपर है। तथा शूद्रों का सबसे नीचे । क्षत्रिय व वैश्य इनके मध्य में हैं। जन्म आधारित होने के कारण इस संस्तरण में स्थिरता एवं दृढ़ता पायी जाती है।

3. **भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Feeding and Intercourse)** - जाति व्यवस्था में भोजन व व्यवहार सम्बन्धित अनेक निषेध पाए जाते हैं। कच्चे भोजन से सम्बन्धित नियम तो अत्यधिक कठोर हैं। प्राय: ब्राह्मणों के हाथ का बना भोजन सब जातियों के लोग खा लेते हैं। सबसे ज्यादा प्रतिबन्ध अछूतों के हाथ द्वारा बने भोजन पर होता है।

4. **नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं ए विशेषाधिकार (Civil and Religious Disabilities and Privileges)** - जाति व्यवस्था में उच्च जातियों को कई सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं जबकि रिक्त व अछूत जातियां इनसे वंचित हैं। अछूत लोग मंदिर, स्कूल, तालाब, कुओं आदि का प्रयोग नहीं कर सकते हैं यहां तक कि कहीं कहीं उनको छूना तो दूर देखना भी अच्छा नहीं माना जाता।

5. **व्यवसाय के स्वतंत्र चुनाव का अभाव (Lack of Unrestricted Choice of Occupation)** - जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जातियां परम्परागत पेशे को अपनाना अपना धार्मिक व नैतिक कर्तव्य समझती है। किन्तु कुछ व्यवसाय जैसे - कृषि मजदूरी, सेना में नौकरी आदि में सभी जातियों के व्यक्ति कार्य करते हैं। इस तरह केवल ब्राह्मण व शूद्रों का कार्य ही निश्चित प्रकृति का है।

NMDC102

6. **विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Restrictions onMarriage)** - अपनी ही जाति यहां तक कि उपजाति में विवाह करना जाति प्रथा की प्रमुख विशेषता है वेस्टरमार्क ने तो जाति

अन्तर्विवाह को जाति का सार-तत्व (The essence of caste system) माना है।

इस प्रकार जाति व्यवस्था जन्म के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति को निर्धारित करके एक बन्द समाज का निर्माण करती है।

10.5 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति (Origin of Caste System)

भारतीय समाज को समझने के जाति व्यवस्था से अवगत होना जितना अधिक महत्वपूर्ण है उतना ही जटिल है इसकी उत्पत्ति को समझना। **मजूमदार** के अनुसार, "जाति संरचना के सम्बन्ध में एक शताब्दी के परिश्रम और सावधानीपूर्ण किए गये अनुसंधान के पश्चात भी हम निश्चित रूप से उन परिस्थितियों की व्याख्या नहीं कर पाये हैं जिन्होंने इस विशिष्ट व्यवस्था के निर्माण और विकास में योगदान दिया है।"

इस व्यवस्था की उत्पत्ति के कुछ प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं-

1. **परम्परागत सिद्धान्त (Traditional Theory)** - जाति व्यवस्था के उद्भव से सम्बन्धित परम्परागत सिद्धान्त ऋग्वेद, उपनिषद, पुराण, स्मृति गीता में उल्लिखित है। इस सिद्धान्त का आदि स्रोत ऋग्वेद के 10वें मण्डल का 'पुरूषसूक्त' नामक निम्न मंत्र है:

ब्राह्मणेऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।

उरू तदस्थ यद्रवैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥

अर्थात ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों का बाहु से, वैश्यों का उदर से व शूद्रों का पैरों से हुआ है। इसी तरह उपनिषद के अनुसार सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति हेतु परब्रहम द्वारा वर्णों की तथा गीता के अनुसार श्री कृष्ण द्वारा गुण व कर्म के आधार पर वर्णों की उत्पत्ति की गयी। मनुस्मृति में भी ऋग्वेद के पुरूष सूक्त के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति मानी गयी परन्तु जातियों की उत्पत्ति के लिए मनु प्रतिलोम विवाह औरवर्ण संकरता को प्रमुख कारक मानते हैं।

इस सिद्धान्त की जाति की अपेक्षा वर्ण को अधिक महत्व देने, ईश्वरीय शक्ति को आधार मानने, स्वयं विभिन्न धर्मग्रन्थों में एक मतता का अभाव होने के कारण आलोचना की जाती है साथ ही मात्र प्रतिलोम विवाह व वर्ण संकरता के आधार पर उत्पत्ति का विचार एकांगी दृष्टिकोण है।

2. **प्रजातीय सिद्धान्त (Racial Theory)** - डॉ. मजुमदार, रिजले, डा. घुरिये, एन. के. दत्त, श्री राम आदि विद्वान जाति की उत्पत्ति को प्रजातीय आधार पर प्रस्तुत करते हैं। आपके मतों में थोड़ी बहुत भिन्नता के बावजूद आर्यों व अनार्यों (द्रविड़ों) के प्रजातीय एवं सांस्कृतिक सम्पर्क को जाति व्यवस्था के लिए उत्तरदायी माना गया है। डा. रिजले के अनुसार प्रजाति संघर्ष ने अनुलोम विवाह को, अनुलोम विवाह ने प्रजातीय मिश्रण को, प्रजातीय मिश्रण ने वर्णसंकरता व वर्ग भेद को जन्म देकर नवीन जातियों की उत्पत्ति में सहयोगाडिया। डा. घुरिये के अनुसार रक्त की शुद्धता की भावना के कारण ही आर्यों व अनार्यों में कई उच्च व निम्न समूहों का जन्म हुआ। जबकि डा. मजुमदार के अनुसार विभिन्न प्रजातीय समूहों के प्रभाव से बचने के लिए एवं अपनी सांस्कृतिक एकता बनाए रखने के लिए आर्यों ने अन्तर्विवाह व व्यवसाय

सम्बन्धित नियम बनाए थे।

आलोचकों के अनुसार यदि प्रजाति मिश्रण ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार माना जाए तो विश्व के अन्य देशों में भी इस व्यवस्था का जन्म होना चाहिए। एवं छुआछूत जैसी भावना का जन्म क्यों हुआ इसका उत्तर इस सिद्धान्त द्वारा नहीं दिया जा सकता। यह सिद्धान्त भी मात्र एक कारक आधारित है। हट्टन के अनुसार इस सिद्धान्त के आधार पर अनुलोम विवाह से तो अवगत हुआ जा सकता है किन्तु जाति की उत्पत्ति से नहीं।

3. **ब्राह्मणवादी सिद्धान्त** (Brahmanic Theory) - डा. घुरिये व अब्बे डुबॉय का मत है कि अपनी सत्ता को बनाए रखने की ब्राह्मणों की चतुरनीति थी जिसके कारण उन्होंने जाति व्यवस्था को जन्म दिया।

आलोचकों के अनुसार मात्र ब्राह्मणों की चतुर युक्ति के आधार पर ही इस प्रथा की उत्पत्ति को नहीं स्वीकार किया जा सकता। क्योंकि व्यक्तियों को कुछ समय के लिए मूर्ख बनाया जा सकता है सदियों तक नहीं। इसकी उत्पत्ति के अन्य कारक भी अवश्य उत्तरदायी रहे होंगे।

4. **व्यावसायिक योग्यता** (Occupational Theory) - नेसफील्ड, दहलमन्न तथा ब्लण्ट इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। नेसफील्ड के अनुसार "व्यवसाय और केवल व्यवसाय ही जाति प्रथा के लिए उत्तरदायी है।" ब्लण्ट जाति के विकास के केवल दो ही स्तर मानते हैं। जनजाति 2. जातीय स्तर। आपके अनुसार व्यवसाय के आधार पर अनेक संघों का निर्माण हुआ। इनमे जनजातीय समूह भी शामिल होने लगे। ये जनजातीय समूह अन्तर्विवाही थे एवं अपनी उत्पत्ति किसी विशेष पूर्वज से होने का दावा करते थे।

प्रजातीय भिन्नता को महत्व न देने, शूद्र वर्ण की उत्पत्ति पर प्रकाश न डालने, धर्म के महत्व को नकारने व एकांगी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के कारण इस सिद्धान्त की आलोचना की गयी है।

5. **धार्मिक सिद्धान्त** (Religious Theory)- इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक होकार्ट (Hocart) और सेनार्ट (Senart) हैं। होकार्ट का विचार है कि सम्पूर्ण जाति व्यवस्था का उदभव धार्मिक क्रियाओं अथवा कर्मकाण्डों (Nitrals) से सम्बन्धित है। आपके अनुसार कर्मकाण्डों से सम्बन्धित विभिन्न क्रियाएं पवित्रता के आधार पर अनेक उच्च और निम्न स्तरों में विभाजित होती है। सेनार्ट ने जाति व्यवस्था के अर्न्तगत भोजन, विवाह और सामाजिक सहवास से सम्बन्धित प्रतिबन्धों व विशुद्धता पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए यह विचार व्यक्त किया कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति परिवार में भोजन सम्बन्धी निषेधों की भिन्नता और कुल देवता की पूजा पर आधारित है।

6. **आदिम संस्कृति या माना का सिद्धान्त** (Theory of Primitive Culture or Mana) - हट्टन ने जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए माना सम्बन्धी विश्वास को माना है। "माना" एक रहस्यमयी, अलौकिक एवं अवैयक्तिक शक्ति है। यह स्पर्श से एक व्यक्ति से दूसरे में आ जा सकती है। इसका प्रभाव अच्छा या बुरा दोनों ही हो सकता है। हट्टन के अनुसार माना सम्बन्धी विश्वास के कारण ही खान पान में भेदभाव, छुआछूत का विचार और अन्तर्विवाही व्यवस्था सम्बन्धी विशेषताएं विकसित होकर जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार बनी है।

NADC-12

डा. डी. एन. मजुमदार 'माना' सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहते हैं कि ''माना'' सम्बन्धी विश्वास तो प्राय: विश्व की सभी जनजातियों में हैं। यदि यही आधार जाति प्रथा की उत्पत्ति का माना जाए तो विश्व की अन्य जनजातियों में भी 'जातिप्रथा' का प्रचलन होता।

7. **विभिन्न तत्वों के सहयोग का सिद्धान्त** (Multi-Factor Theory) - जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रचलित सभी सिद्धान्तों के वर्णन और समीक्षा के पश्चात यह स्पष्ट है कि इसकी उत्पत्ति मात्र एक या दो कारक उत्तरदायी नहीं हैं। जाति प्रथा एक जटिल संस्था है, इसके उदभव व विकास में अनेक तत्व उत्तरदायी रहे हैं। इसकी उत्पत्ति में आर्य द्रविड़ संघर्ष, माना, धर्म, व्यवसाय, ब्राह्मणों की चतुरयुक्ति, व्यवसायिक श्रेणियां इत्यादि अनेक कारकों का योग है। इसे हम सर्वांगीण दृष्टिकोण से ही समझ सकते हैं। हट्टन ने इसी बात को स्पष्ट करते हुये लिखा है, ''यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि भारतीय जाति प्रथा कई भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक कारकों की अन्त: क्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। जो अन्य कहीं भी इस प्रकार सम्मिलित रूप में नहीं पायी जाती है। ''

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि जाति प्रथा को जन्म देने में किसी एक कारक का नहीं वरन् अनेक कारकों का योग रहा है। वास्तव में इसकी उत्पत्ति नहीं उद्विकास हुआ है। नि:सन्देह यह विश्व में अपने ढंग की एक अद्भुत और अनूठी व्यवस्था है।

10.6 जाति प्रथा के प्रकार्य (Functions of Caste System)

जाति प्रथा ने भारतीय समाज के संरक्षण व विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है और इसे स्थायी स्वरूप प्रदान किया है। जब हम जाति प्रथा के लाभों की चर्चा करते हैं तो उसके आदर्श स्वभाव और स्वरूप के लिए होता है। जिन कार्यों से जाति प्रथा प्रशंसा का पात्र बनी है।

हट्टन ने जाति द्वारा किए जाने वाले कार्यों को 3 भागों में विभक्त किया है-

(1) व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित कार्य

(2) जातीय समुदाय के लिए कार्य

(3) समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए जाति द्वारा किए जाने वाले कार्य

(1) व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित कार्य :- विल्सन ने व्यक्ति के जन्म के प्रथम दिन से लेकरमृत्यु तक जीवन के समस्त सम्बन्धों व घटनाओं पर जाति प्रथा का प्रभाव दर्शाया है।

अपने सदस्यों के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित जाति के कार्य निम्नलिखित है।

(अ) **सामाजिक स्थिति को निर्धारित करना** -

जाति के आधार पर ही व्यक्ति की समाज में स्थिति निर्धारित होती है जिसे कोई भी परिस्थिति या व्यक्तिगत गुण दोष द्वारा बदला नहीं जा सकता।

मानसिक सुरक्षा प्रदान करना -

जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति के सदस्यों को अपने भविष्य की जैसे - विवाह

व्यवसाय आदि की चिन्ता नहीं रहती। यह सब पूर्व निर्धारित होने से व्यक्ति को मानसिक संतोष प्राप्त होता है।

(स) पेशे का निर्णय -

निर्धारित परम्परागत पेशा होने के कारण व्यक्ति के सामने व्यवसाय चुनने व व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा की स्थिति नहीं आती।

(द) सामाजिक सुरक्षा -

प्रत्येक जाति के अपने स्थायी संघ व जाति पंचायतें होती हैं जो विपत्ति आने पर, जातिय सदस्यों की सहायता करती हैं।

(य) व्यक्तिगत अनुशासन तथा सम्मान की रक्षा -

प्रत्येक जाति के अपने कुछ नियम व प्रतिबन्ध होते हैं। जो व्यक्ति को अनुशासित रखकर उसे अवांछनीय तथा अंसामाजिक कार्यों को करने से रोकते हैं।

व्यक्तिगत जीवन में जाति के महत्व का उल्लेख करते हुए मजुमदार व मदान का कथन है कि "जाति व्यवस्था सामाजिक सुरक्षा का वह आधार है जहां व्यक्ति को रोजगार, आवास, संरक्षण और विवाह की सुरक्षा प्राप्त होती है, जो व्यक्ति के परिवर्तनशील स्वभाव से सम्भव नहीं हो पाती।"

(2) जाति समुदाय से सम्बन्धित कार्य या लाभ -

जाति समुदाय से सम्बन्धित अनेक कार्यों को भी करती है।

(अ) सामाजिक स्थिति का निर्धारण -

जाति प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति की दूसरी जाति की तुलना में सामाजिक स्थिति का निर्धारण होता है। इसके फलस्वरूप विभिन्न जाति समूह एक दूसरे के विरोधी न् रहकर उनके कार्यों में सहायक होते है।

(ब) संस्कृति की रक्षा -

हट्टन कहते हैं कि प्रत्येक जाति की अपनी एक सामान्य संस्कृति रही है जिसके अन्तर्गत उस जाति विशेष का ज्ञान, कार्यकुशलता, व्यवहार आदि आते हैं। ये सब जाति में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होते रहते हैं इस प्रकार प्रत्येक जाति अपनी संस्कृति की स्थिरता को बनाए रखती है।

(स) रक्त की शुद्धता को बनाए रखना -

एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं जिससे रक्त की शुद्धता बनी रहती है।

(द) जातीय एकता को प्रोत्साहन -

जाति के सदस्य अपने सदस्यों की आवश्यकता के समय सहायता करते हैं । जाति के सदस्यों के लिए जाति विद्यालय , धर्मशालाओं, चिकित्सालय, छात्रावास आदि का निर्माण किया जाता है।

NMDC-102

(3) सम्पूर्ण समाज या राष्ट्र के लिए कार्य या लाभ

(अ) समाज में श्रम विभाजन की सरल व्यवस्था -

जाति व्यवस्था ने श्रम विभाजन की सुव्यवस्थित योजना के द्वारा विशेषीकरण को सबसे अधिक प्रोत्साहन दिया। हट्टन का कथन है कि "जाति व्यवस्था के इस कार्य ने हिन्दू समाज को एक ऐसी सावयवी व्यवस्था का रूप दिया है जिसमें सभी व्यक्ति महत्वपूर्ण कार्यों को करते रहने के बाद भी अपने पृथक अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते।

(ब) राजनीतिक व्यवस्था की एक शाखा के रूप में -

प्राचीन काल से ही जातियां राजनीतिक व्यवस्था की शाखाओं के रूप में कार्य करती आ रही हैं एवं जाति प्रथा के कारण ही समाज के सभी लोग अपने अपने कर्तव्यों का पालन करते थे और अनुशासित रहते थे।

(स) राजनीतिक स्थिरता को बनाए रखना -

विभिन्न आक्रमणकारियों के आक्रमण के समय जाति व्यवस्था ने ढाल के रूप में कार्य किया और राजनीतिक स्थिरता को कायम रखने के साथ साथ सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन को नष्ट भ्रष्ट होने से बचाया।

(द) धार्मिक जीवन का संगठन -

संसार के अनेक देशों के समान भारत में भी धार्मिक क्रान्तियां हुयी थी लेकिन जाति व्यवस्था ही वह दृढ़ आधार था जिसके कारण यह सभी सम्प्रदाय अंत में हिन्दू समाज के अंग बन गये।

(य) समाज के विकास और रक्षा में सहायक-

फर्नीवाल के अनुसार "जातिप्रथा के कारण भारत में एक बहु समाज स्थिर रह पाया है। जाति व्यवस्था ने समाज को ऐसी व्यवस्था प्रदान की है जिससे कोई भी समुदाय, चाहे वह प्रजातीय हो या सामुदायिक, सामाजिक हो, व्यावसायिक हो या धार्मिक अपनी विशिष्ट प्रकृति और पृथक सत्ता को बनाए रखते हुए अपने का समग्र समाज के एक सहयोगी अंग के रूप में उपयुक्त बना सकता है।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त जाति व्यवस्था ने दायित्व निर्वाह की प्रेरणा देने, समाज को समाजवादी आधार प्रदान करने और नैतिक शिक्षा देने के क्षेत्र में भी समाज की सेवाएं की है। इसी आधार पर हट्टन ने यह निष्कर्ष दिया है कि "जाति एक ऐसी व्यवस्था है, जिसका आधार दैवीय शक्ति से भी दृढ़ है।"

10.7 जाति व्यवस्था के दुष्कार्य (हानियाँ) (Disfunctions of Caste System)

जाति प्रथा द्वारा समाज को पहुँचाए गये लाभ के कारण इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की गयी थी लेकिन वर्तमान जीवन में जाति व्यवस्था के तथाकथित आदर्श हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन को तेजी से विघटित कर रहे हैं डा. राधाकृष्णन का मत है कि दुर्भाग्यवश वही जाति प्रथा जिसे सामाजिक संगठन को नष्ट होने रक्षा करने के साधन के रूप

में विकसित किया गया था आज उसी की उन्नति में बाधक बन रही है। जाति प्रथा के दोष निम्नांकित हैं:

(1) राष्ट्रीय एकता का ह्रास -

प्रत्येक व्यक्ति अपनी जाति, उपजाति और जातिग्रस्त प्रतिबन्धों में इस प्रकार उलझ गया है कि वह राष्ट्रीयता के बारे में विचार भी नहीं कर पाता।

(2) राजनीतिक एकता में बाधा -

जाति प्रथा के कारण सामाजिक विभाजन से लाभ उठाकर समय समय पर आक्रमणकारियो ने देश पर शासन किया। यहां तक कि वर्तमान चुनाव व्यवस्था पूर्णतया जाति पर आधारित है।

(3) प्रजातंत्र के लिए बाधक -

प्रजातंत्र, समानता स्वतंत्रता और न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित है जबकि वर्तमान परिस्थितियों मे जाति व्यवस्था ससमानता , रूढ़िवादिता और शोषण को प्रोत्साहन दे रही है।

(4) सांस्कृति उन्नति में बाधक -

जातीय प्रभाव के कारण प्रत्येक समूह एक दूसरे से दूर हो जाते हैं कभी कभी पारस्परिक द्वेष व घृणा के भाव इतने गहन हो जाते हैं कि वे एक दूसरे की संस्कृति को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं।

(5) निम्न जातियों का शोषण व अस्पृश्यता -

जाति प्रथा के अन्तर्गत निम्न जातियों को गंदे व घृणित कार्य सौंपे गये हैं इन्हें कई सामाजिक धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों से भी वंचित किया गया है।

(6) धर्म परिवर्तन -

आर्थिक व सामाजिक शोषण से मुक्ति पाने के लिए निम्न जातियों के कई लोग ईसाई एवं मुसलमान हो गये।

(7) स्त्रियों की गिरी हुई दशा -

जाति रक्षा के नाम पर ही स्त्रियों से उनकी स्वतंत्रता जैसे अधिकार छीने गये । अत: जातिप्रथा स्त्रियों की गिरी हुई दशा का एक प्रमुख कारण है।

(8) श्रमिक की गतिशीलता में बाधक -

प्रत्येक जाति का परम्परागत व्यवसाय होने के कारण, दूसरे व्यवसाय में दक्षता के बावजूद व्यक्ति अपने जातीय व्यवसाय को बदल नहीं सकता।

(9) आर्थिक विकास में बाधक -

जातीय आधार पर गुटों में विभाजित होना - अपनी जाति के लोगों को प्राथमिकता देना, समाज के एक बड़े भाग को अछूत कहकर आर्थिक क्रियाओं में भाग लेने से रोकना आदि वे कारक हैं जिन्होंने देश के आर्थिक विकास को हानि पहुंचायी है।

NMDC-102

(10) अनेक सामाजिक समस्याओं का कारण -

जाति प्रथा के कारण अन्तर्विवाह, कुलीन विवाह, बाल विवाह, दहेज प्रथा, बेमेल विवाह, विधवा विवाह पर रोक आदि समस्याओं का जन्म हुआ।

उपरोक्त समस्याओं के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टिकोण से एक अनुत्पादक वर्ग का निर्माण संघर्षपूर्ण समूहों का निर्माण व आर्थिक क्षेत्र में कुशलता का ह्रास भी होता है।

दोषों को देखते हुए डा. मजूमदार का कथन है कि "ब्राहमणों के लाख कहने के बाद भी जाति केवल एक विश्रंखलित सामाजिक संस्था हैं जो अपनी सेवाओं के पश्चात अब भारत के वातावरण को दुर्गन्ध से भर रही है।

10.8 जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक व आधुनिक परिवर्तन

पश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता, प्रजातंत्र की स्थापना, धार्मिक आन्दोलन, औद्योगीकरण और नगरीकरण धन व व्यक्ति का बढ़ता महत्व, स्वतंत्रता आंदोलन, संयुक्त परिवार का ह्रास, स्त्री शिक्षा का प्रसार, जाति पंचायतों के विघटन, संवैधानिक सुधार, आदि वे कारक हैं जिन्होंने सदियों से चली आ रही जातिप्रथा को चोट पहुँचाई है एवं वर्तमान में स्थिति में बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। प्रदत्त के स्थान पर अर्जित प्रस्थिति के महत्व में वृद्धि, ब्राह्मणों के स्थिति में गिरावट, जातिगत संस्तरण में परिवर्तन, पेशे निर्धारण में छूट, अष्पृश्य दलित वर्ग का उत्थान, खान पान व वैवाहिक मान्यताओं में परिवर्तन, जातीय संगठनों के प्रभाव में कमी आदि परिवर्तित स्थितियां जातिप्रथा के भावी पतन की सूचक है।

10.9 जाति प्रथा का भविष्य

जाति प्रथा में होने वाले परिवर्तन एवं नवीन शक्तियों के दबाव के कारण कई बार इस व्यवस्था के भविष्य को लेकर आशंकाएं व्यक्त की जाने लगी हैं। **डा. श्रीनिवास** का मानना है कि भारत में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो संख्या में थोड़े हैं किन्तु शक्तिशाली हैं, उनका मत है कि जाति प्रथा समाप्त हो जानी चाहिए। दूसरी ओर अधिकांश जनता विशेषत: हिन्दू लोग न केवल जातिप्रथा को समाप्त करने के विरोधी है वरन् वे जाति विहीन समाज की कल्पना भी नहीं कर सकते। डा. योगेन्द्र सिंह का मत है कि जाति मे होने वाले परिवर्तनों को समुत्थान एवं लचीलेपन की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। लम्बे समय तक जाति राजनीति अर्थ व्यवस्था, तथा संस्कृति के क्षेत्र में आधुनिकीकरण करने वाली सामाजिक संरचनाओं के संचालन के लिए संस्थात्मक आधार प्रदान करती रहेगी। यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि से तार्किक नहीं है कि जाति व्यवस्था समाप्त हो रही है।

फिर भी परिवर्तित परिस्थितियां, सामाजिक पर्यावरण नगरीय क्षेत्रों में जाति व्यवस्था के पक्ष में नहीं हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में परम्परागत विचारों की जड़ें काफी गहरी हैं अत: जाति प्रथा के भविष्य के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य है कि जैसे जैसे

शिक्षा का प्रसार व जागरूकता में वृद्धि होगी जाति व्यवस्था के सिद्धान्त अप्रभावी होते जाएंगे।

10.10 सारांश

सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख प्रकार जाति व्यवस्था भारतीय समाज की आधारभूत विशेषता है। अत: भारतीय समाज को समझने के लिए जाति व्यवस्था से अवगत होना अनिवार्य है। प्रस्तुत इकाई में सर्वप्रथम हमने जाति प्रथा के अर्थ व अवधारणा पर स्पष्ट दृष्टिकोण विकसित किया। तत्पश्चात विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा दी गयी जाति प्रथा की विशेषताओं से अवगत हुए। जाति प्रथा को गहरायी से जानने के लिए आवश्यक था कि इसकी पत्पत्ति के सिद्धान्तों से भी अवगत हुआ जाए। अत: इन्हें जानने के पश्चात जाति प्रथा के प्रकार्यो से अवगत हुए कि किस प्रकार यह प्रथा हमारे व्यक्तिगत जीवन, समुदाय व सम्पूर्ण समाज के लिए लाभदायक हैं इस प्रथा ने हमारे समाज को लाभ के साथ साथ हानियां भी पहुंचाई हैं अत: हम ने इसके दुष्कार्यों पर भी ध्यान दिया। जैसे कि हम जानते हैं कि जाति प्रथा बहुत तीव्रता से परिवर्तित हो रही है। अत: सर्वप्रथम हमने उन कारकों को जानने का प्रयास किया जिनके कारण इस प्रथा में परिवर्तन दिखायी दे रहे हैं। साथ ही वर्तमान परिवर्तनों से भी अवगत हुए। अन्त में जाति प्रथा के भविष्य के बारे में विभिन्न समाजशास्त्रियों के विचारों की सहायता से एवं स्वत: निष्पक्ष मूलयांकन किया।

10.11 सन्दर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. डा. घुरिये - कॉस्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, संदर्भित डा. श्रीनिवास इन सोशल इनइक्वलिटी पृ0 269 (1969)
2. डा. घुरिये - कास्ट, क्लास एण्ड अक्यूपेंशन पृ0 2-27, 52, 159-177 (1961)
3. जे. एच. हट्टन - कास्ट इन इण्डिया, पृ0 46-50, 111-132, 170, 176-177, 181 - 191
4. इ. ए. एच. व्लण्ट - द कॉस्ट सिस्टम इन नार्दन इण्डिया पृ0 5, 11-13, 28
5. नेसफील्ड - ब्रीफ व्यूज ऑफ द कॉस्ट सिस्टम
6. सेनार्ट - संदर्भित एन. एम. दत्त, ओरिजन एण्ड ग्रोथ ऑफ कॉस्ट इन इण्डिया पृ0 2
7. डा. इलावती कर्वे - व्हाट इज कॉस्ट, द इकोनामिक वीकली, जनवरी 1958
8. मजूमदार एण्ड मदान - एन इन्ट्रोडक्शन टू सोशल एन्थ्रोपोलोजी 1967 (पृ0 231-237)
9. डा. डी. एन. मजूमदार - रेसेज एण्ड कल्चर ऑफ इण्डिया (1961) पृ0 301
10. नर्मदेश्वर प्रसाद - जाति व्यवस्था पृ0 26, 52
11. डा. एम. एन. श्रीनिवास - कॉस्ट इन मार्डन इण्डिया, पृ0 70

2.12 प्रश्नोत्तर

लघुउत्तरीय प्रश्न –

प्र. 1 जाति की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिए?

प्र. 2 जाति की उत्पत्ति के व्यावसायिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए?

प्र. 3 जाति व्यवस्था से हमारे समाज को होने वाली हानियां पर प्रकाश डालें?

प्र. 4 जाति व्यवस्था के भविष्य पर टिप्पणी लिखें ।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न –

प्र. 1 जाति की परिभाषा दीजिए एवं इसकी प्रमुख विशेष्ताओं का विवेचन कीजिए।

प्र. 2 जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों की संक्षेप में समीक्षा कीजिए।

प्र. 3 जाति प्रथा के लाभ व हानियों का उल्लख करें?

प्र. 4 जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक व वर्तमान परिवर्तनों पर प्रकाश डालें।

बहु विकल्पीय प्रश्न –

प्र. 1 जातिप्रथा की निम्न में से कौन विशेषता नहीं है?

1. बहिर्विवाह 2. सामाजिक संस्तरण 3. जन्मजात सदस्यता 4. पेशे का परम्परागत स्वरूप ।

उ.1 (1)

प्र. 2 जातिप्रथा की उत्पत्ति में प्रजाति के महत्व पर किस समाजशास्त्री ने विचार व्यक्त किये?

1. नेसफील्ड 2. सेनार्ट 3. रिजले 4. हट्टन

उ. (3)

प्र. 3 जाति प्रथा की उत्पत्ति का व्यावसायिक सिद्धान्त किस समाजशास्त्री ने दिया?

1. पेसफील्ड 2. रिजले 3. मजूमदार 4. हट्टन

उ. (1)

प्र. 4 जाति एक बंद वर्ग है'' यह किस समाजशास्त्री द्वारा परिभाषित किया गया ?

1. इरावती कर्वे 2. मजूमदार व मदान 3. कूले 4. हट्टन

उ. (2)

इकाई 11 वर्ग, अर्थ, अवधारणा, भारत में उदय व विकास

इकाई की रूपरेखा

11.1 उद्देश्य

11.2 प्रस्तावना

11.3 वर्ग, अर्थ, परिभाषा

11.4 वर्ग की विशेषताएं

11.5 वर्ग के निर्धारक मापदण्ड

11.6 प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचार

11.6.1 मार्क्स

11.6.2 बेवर

11.6.3 वेबलन

11.7 वर्ग संरचना में घटित आधुनिक परिवर्तन

11.8 भारतीय वर्ग संरचना - उदय व विकास

11.8.1 कृषक वर्ग संरचना

11.8.2 नगरीय वर्ग संरचना

11.8.3 श्रमिक वर्ग

11.8.4 मध्यम वर्ग

11.8.5 उद्यमी वर्ग

11.9 सारांश

11.10 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

11.11 प्रश्नोत्तर

11.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

* 'वर्ग' का अर्थ व परिभाषा स्पष्ट कर सकेंगे।
* वर्ग की विशेषताएं और मापदण्ड पर टिप्पणी कर सकेंगे।
* प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचारों का उल्लेख कर सकेंगे।
* इनका भारत में उदय व विकास की विवेचना कर सकेंगे।

NMDC-102

11.2 प्रस्तावना

वर्ग व जाति के समान वर्ग भी सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख प्रकार है। यह एक सार्वदेशिक व सार्वभौमिक प्रक्रिया है, अर्थात वर्ण और जाति जैसे प्रकार भारतीय समाज में ही दिखायी देते हैं। जबकि वर्गीय आधार पर विभाजन प्रत्येक देश व समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इसका प्रमुख कारण है कि किसी भी समाज के सदस्यों की शारीरिक, आर्थिक, बौद्धिक और सामाजिक स्थिति एक समान नहीं होती है। व्यक्ति की प्रतिष्ठा के निर्धारण में व्यक्ति की योग्यता , शिक्षा, आर्थिक स्थिति महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार से प्रतिष्ठा आधारित विभाजित समूहों का यह सामाजिक अंतर ही सामाजिक वर्ग कहलाता है।

वर्ग संरचना सम्बन्धित प्रस्तुत इकाई वर्ग की अवधारणा के साथ साथ वर्ग से सम्बन्धित समस्त पक्षों को वर्णित करने का एक प्रयास है।

11.3 वर्ग- अर्थ व परिभाषा

सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया ऐतिहासिक, स्वाभाविक एवं सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो कि प्रत्येक समाज में न्यूनाधिक रूप में अवश्य विद्यमान नही है। वर्ण और जाति के समान ही वर्ग भी सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख आधार है। परन्तु यह जाति व्यवस्था के विपरीत अर्जित व्यवस्था है व्यक्ति अपनी शिक्षा, योग्यता के आधार पर अपने वर्ग में परिवर्तन कर सकता है। प्रत्येक मानव समाज में आयु, विवाह शिक्षा और ज्ञान, धन-सम्पत्ति एवं आय तथा व्यवसाय आदि के आधार पर व्यक्ति की प्रतिष्ठा का निर्धारण होता है। इस प्रकार से विभाजित समूहों का यह सामाजिक अंतर ही सामाजिक वर्ग कहलाता है। उदाहरणार्थ - पूंजीपति वर्ग, मजदूर वर्ग, शिक्षक वर्ग, महिला वर्ग, आदि समूहों का विभाजन वर्ग विभाजन ही है।

सामान्यतया वर्ग विभाजन का आधार आर्थिक माना जाता है परन्तु यह मात्र आर्थिक ही नहीं वरन् सामाजिक प्रस्थिति सम्बन्धित भी है। इसको दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं। कि जन्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी आधार पर निर्मित व्यक्तियों का समूह ही वस्तुत: सामाजिक वर्ग होता है। इस प्रकार एक समान सामाजिक प्रस्थिति रखने वाले व्यक्ति समानता के आधार पर परस्पर सम्बन्धित होते हैं एवं दूसरे वर्ग के सदस्यों के साथ सामाजिक दूरी अथवा पृथकता को अनुभव करते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि एक सामाजिक वर्ग एक समान स्थितियों वाले व्यक्तियों का ऐसा समूह या समुदाय होता है जिनमें वर्ग चेतनता होती है। और विचारों व व्यवहारों में समानता भी पायी जाती है।

वर्ग को निम्न परिभाषाओं द्वारा समझा जा सकता है:

(1) मौरिस जिन्सबर्ग के अनुसार

"वर्ग व्यक्तियों का समूह है जो कि वंशक्रम व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवन स्तर, विचारों, भावनाओं, मनोवृत्तियों तथा व्यवहारों में परस्पर समान होते हैं अथवा इनमें से कुछ आधारों पर एक दूसरे से समानता का बोध करते हुए एक समूह का सदस्य मानते हैं।

(2) जोसेफ गिटलर के अनुसार -

एक सामाजिक वर्ग को व्यक्तियों की एक ऐसी श्रेणी से परिभाषित किया जा सकता है जिसमें एक विशिष्ट संस्कृति के मान्य कुछ गुणों के सामान्य रूप से उपस्थित होने के कारण निश्चित विशेष सुविधाएं उत्तरदायित्व तथा शक्ति प्राप्त होती है।

(3) बी. जे. कोहेन के अनुसार -

एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों की एक श्रेणी है जो कि सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में समान पद रखते हैं। प्रत्येक सामाजिक वर्ग धन, शक्ति और प्रतिष्ठा की कुछ समानता के द्वारा पहचाना जाता है।

(4) ई. डब्ल्यू. स्टीवर्ट के अनुसार -

सामाजिक वर्ग में वे लोग सम्मिलित रहते हैं जो कि आय, शिक्षा, व्यावसायिक प्रतिष्ठा सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से लगभग समानता रखते हैं और जो कि इस रूप में स्वयं के द्वारा तथा अन्यों के द्वारा स्वीकार किए गये हैं।

(5) ई. ए. होबेल के अनुसार -

एक सामाजिक वर्ग एक समाज में वह समूह है जिसके सदस्यों की सामाजिक स्थितियां सामान्य होती हैं तथा जो इन स्थितियों से सम्बद्ध कार्यों को करते हुए अपने कतिपय ऐसे समान हितों के सम्बन्ध में इस जागरूकता का निकास कर लेते हैं। जो अन्य समूहों तथा लक्षणों के विरूद्ध होती है।

(6) मैकाइवर एवं पेज के अनुसार -

सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो कि सामाजिक स्थिति के आधार पर दूसरों से पृथक किया जा सके।

(7) रिचर्ड लैपियर के अनुसार -

सामाजिक वर्ग, एक सांस्कृतिक समूह है, जिसे सम्पूर्ण जनसंख्या में एक विशेष स्थिति अथवा पद प्रदान किया जाता है।

(8) आगबर्न एवं निमकॉक के अनुसार -

एक सामाजिक वर्ग किसी समाज में अनिवार्य सामाजिक स्थिति रखने वाले व्यक्तियों का योग होता है।

NAAC-102

11.4 वर्ग की विशेषताएं (Characteristics of class)

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर वर्ग की निम्न विशेषताएं सामने आती हैं-

(1) समानता (Similarity) -

सामान्यतया एक जैसी आर्थिक व सामाजिक स्थिति वाले व्यक्ति एक वर्ग का निर्माण करते हैं। एक वर्ग के सभी सदस्य, किसी न किसी क्षेत्र में जैसे - व्यवसाय, कार्य, धन, शिक्षा, जीवन स्तर, विचार का आचरण के क्षेत्र में समरूपता रखते हैं। उदाहरण स्वरूप व्यापारी, प्राध्यापक, विद्यार्थी, शिक्षित व अशिक्षित ये क्रमश: व्यापारी वर्ग, प्राध्यापक वर्ग, विद्यार्थी वर्ग, शिक्षित वर्ग और अशिक्षित वर्ग के सदस्य होते हैं।

(2) उच्च व निम्न में वर्गीकरण (Higher or lower position of the Classes)-

प्रत्येक समाज में अनिवार्य रूप से वर्गों की एक सुव्यवस्थित श्रेणी पायी जाती है, जिसके अनुसार सर्वोच्च ऊंचाई पर उच्चतम वर्ग तत्पश्चात क्रमश: निम्न वर्ग आते जाते हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न वर्गों के सदस्यों की ऊँची-नीची स्थितियों के परिणामस्वरूप उनमें ऊँच-नीच की भावना पनपती है। और उसे सभी व्यक्ति व सरानुकूल परिस्थितियों में प्रकट भी करते हैं।

(3) वर्ग के निर्धारण में जन्म का महत्व नहीं होता है- (Birth plays no role in class determination) -

वर्ग की सदस्यता जन्म के आधार पर नही होती है। व्यक्ति के द्वारा किए जाने वाले व्यवसाय अथवा उसके शैक्षणिक स्तर, आय, जीवन-स्तर आदि के आधार पर उसे वर्ग की सदस्यता प्राप्त होती है।

(4) सामाजिक दूरी (Social Distance) -

समाज के सभी वर्गों के मध्य सामाजिक सम्बन्ध एक ही प्रकार के नहीं होते हैं । वर्गों में ऊंच नीच का संस्तरण भी पाया जाता है। इसीलिए सभी वर्गों की पारस्परिक स्थिति एक समान न होकर कुछ वर्ग श्रेष्ठ माने जाते हैं तो कुछ की स्थिति तुलनात्मक रूप में हीन होती है। एक सामाजिक वर्ग के सदस्य ऊँच नीच की भावना धीन होकर अपने ही वर्ग में संकुचित हो जाते हैं। यह अपने वर्ग से घनिष्ठ प्रथा अन्य वर्गों से सामाजिक सम्बन्धों की पर्याप्त दूरी बनाए रखते हैं।

उदाहरणार्थ - एक मिल मालिक मिल मालिकों से मजदूर , मजदूरों से तथा शिक्षक शिक्षकों से ही अपेक्षाकृत अधिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

(5) अप्रतिबंधित (खुला) प्रवेश (Unrestricted (Open) membership) -

वर्ग की सदस्यता का निर्धारण जन्म आधारित नहीं होता है, इसलिए इसकी सदस्यता सभी

व्यक्तियों के लिए खुली होती है। विशिष्ट वर्ग की योग्यताएं गुण अर्जित करने के पश्चात व्यक्ति उस वर्ग विशेष की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। उदाहरणार्थ चिकित्सक की शिक्षा व योग्यता अर्जन के पश्चात एक व्यक्ति चिकित्सक वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है।

(6) सदस्यों को अवसरों की उपलब्धि (Privileges) -

किसी वर्ग विशिष्ट की सदस्यता ग्रहण करने के पश्चात व्यक्तियों को वर्ग से सम्बद्ध अधिकार व सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं । उदाहरणार्थ व्यापारी वर्ग के सदस्यों को अपनी व्यापारिक क्षेत्र से सम्बन्धित उन्नति व नियमों के अधीन अधिकाधिक लाभ अर्जित करने के अवसर उपलब्ध रहते हैं।

(7) वर्ग चेतना (Class - consciousness) -

एक वर्ग के सदस्यों में अपने वर्ग से सम्बद्ध लोगों के प्रति जागरूकता, चेतना की भावना पायी जाती है। श्रम यूनियनें, राज्य कर्मचारियों के संघ आदि वर्ग चेतना पर ही आधारित होते हैं?

(8) विभिन्न वर्गों में खान पान, विवाह की सहमति (Permission of Inter Class marriage and feeding) -

वर्ग की अवधारणा सामाजिक खुलेपन पर आधारित है। अत: एक वर्ग व्यक्ति के लिए यह सम्भव है कि वह किसी अन्य वर्ग के सदस्य के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है यही बात खान पान के साथ लागू होती है।

(9) अस्थिर गतिशीलता : (Instable Mobility) -

वर्ग व्यवस्था परिश्रम, योग्यता, शिक्षा, कार्यक्षमता आधारित होती है। एक वर्ग विशेष का सदस्य सदैव तथा अनिवार्यत: उसी वर्ग में रहने के लिए मजबूर नहीं होता है। धन सम्पत्ति, शिक्षा तथा व्यवसाय आदि कारणों से कोई भी व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन करने के लिए सर्वथा स्वतंत्र होता है।

(10) एक परिवार में भिन्न भिन्न सदस्यों के भिन्न भिन्न वर्ग होना (Different class membership to different members of the same family) -

एक ही परिवार के सदस्य यदि अलग अलग योग्यता व क्षमता रखते हैं अलग अलग व्यवसाय करते हैं तो वे भिन्न भिन्न वर्गों के सदस्य होते हैं। यदि एक परिवार का कोई सदस्य इंजीनियर है तो वह इंजीरियर वर्ग का होगा। यदि व्यापारी हैं तो व्यापारी वर्ग का सदस्य होगा इस प्रकार एक ही परिवार में विभिन्न वर्गों के सदस्य एक साथ रहते हैं।

(11) वर्ग की समाज के साथ सम्बद्धता (Class - an integral part of society) - समाज में व्यक्ति की अनन्त आवश्यकताएं होती हैं इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्तियों में अलग अलग योग्यता व क्षमता पायी जाती है। एवं ये व्यक्ति अलग अलग वर्गों के सदस्य बनते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि समाज और वर्ग परस्पर सम्बन्धित होते हैं।

NMDC-102

11.5 वर्ग के निर्धारक मापदण्ड (Main Criteria of Class in Modern Societies)

वर्ग व्यवस्था सभी समाजों में कम या अधिक रूप में अनिवार्य रूप से पायी जाती है। वर्गों का निर्धारण भी समाजों में पृथक पृथक आधारों पर होता रहा है। समाज शास्त्री लिप्सटे का दृढ़ मत है कि आधुनिक युग में पाए जाने वाले जटिल समाजों की वर्ग संरचना में निम्नलिखित दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित माने जाते हैं ।

(1) प्रथम दृष्टिकोण आर्थिक तथ्व को वर्ग निर्धारण का सर्व प्रमुख मापदण्ड मानता है।

(2) द्वितीय दृष्टिकोण प्रजातांत्रिक विकास व समानता के अवसरों को अधिक महत्व देता है, आर्थिक तत्व को नहीं।

वर्तमान समाजों में वर्ग निर्धारण के संदर्भ में निम्नलिखित मापदण्ड माने जाते हैं।

(1) **शक्ति (Power)** -शक्ति सामाजिक वर्ग के निर्धारक के रूप में स्वीकार करते हुए मैक्स बेवर ने माना है कि सामाजिक क्रियाओं तथा व्यवहार के संचालन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है। चूँकि किसी भी मानव समाज में शक्ति का वितरण असमान होता है इसलिए शक्ति की मात्रा व्यक्तियों के ऊँचे नीचे समूहों में विभक्त करती है। यह शक्ति आर्थिक हो अथवा सामाजिक अथवा राजनैतिक सम्बन्धी शक्ति हो, वह प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति की प्रस्थिति को ऊँचा करती ही है।

(2) **व्यवसाय (Occupation)** - वर्ग के निर्धारण में आर्थिक आधार का महत्व अधिक होने के कारण व्यवसाय को भी अत्यधिक सशक्त और महत्वपूर्ण कारक माना जाता है। नार्थ एण्ड हैट द्वारा किये गये व्यवसाय सम्बन्धित अध्ययन में यह निष्कर्ष सामने आया कि संयुक्त राज्य अमेरिका के व्यवसायों में सर्वाधिक प्रतिष्ठित व्यवसाय "चिकित्सा" और निम्नतर व्यवसाय "जूते की पालिश" का माना जाता है। किन्तु व्यवसाय आधारित वर्ग निर्धारण एक जटिल कार्य है उदाहरणार्थ पैतृकता के आधार पर प्राप्त धन सम्पत्ति व प्रतिष्ठादि को किस व्यवसाय के साथ संलग्न किया जाए, इसका निर्धारण जटिल है।

(3) **धन सम्पत्ति (Wealth-Property)** - आधुनिक युग में सर्वत्र धन सम्पत्ति ही व्यक्ति की स्थिति को उच्च बनाती है भले ही यह आय अथवा सम्पत्ति के स्वरूप में हो । पूंजीवादी देशों एवं भारत जैसे देश में भी धन के माध्यम से ही आर्थिक शक्ति को प्राप्त किया जाता है यहां तक कि सामाजिक व राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने का भी धन व सम्पत्ति सशक्त माध्यम है।

(4) **प्रतिष्ठा (Prestige)** - व्यक्ति के सामाजिक मान सम्मान एवं प्रतिष्ठा को भी वर्ग का एक प्रमुख निर्धारक मापदण्ड माना जाता है। यह प्रतिष्ठा व्यक्ति को शिक्षा, कार्यकुशलता, योग्यता, व्यवसाय आदि के द्वारा प्राप्त होती है। इस प्रकार कम या अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्तियों का अलग अलग समूह विभिन्न वर्गों का निर्माण करता है। अमेरिकन समाज शास्त्री लायडवार्नर ने **'Yankee City'** के अपने अध्ययन में स्पष्ट

किया कि किसी व्यक्ति की स्थिति का निर्धारण अन्य व्यक्तियों द्वारा किए गये मूल्यांकन से ही होता है। आपने इस बध्ययन में 6 वर्गों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

(1) सर्वोच्च उच्चवर्ग

(2) निम्न उच्च वर्ग

(3) उच्च मध्यम वर्ग

(4) निम्न मध्यम वर्ग

(5) उच्च निम्न वर्ग

(6) निम्नतर निम्न वर्ग

(5) **प्रजाति (Race)** - प्रजाति भी वर्ग संरचना का एक प्रमुख माप दण्ड माना जाता है । संयुक्त राज्य अमेरिका तथा दक्षिणी अफ्रीका जैसे कुछ देशों में नीग्रो लोगों को निम्न स्थिति प्राप्त है। शिक्षा, योग्यता के बावजूद भी इन्हें प्रजातीय स्तर पर निम्न माना जाता है। विभिन्न प्रकार की सामाजिक गतिविधियों तथा सामाजिक सम्पर्क आदि के क्षेत्र में इनको द्वितीय स्तर की नागरिकता प्राप्त है।

(6) **जाति (Caste)** - जाति के आधार पर सामाजिक स्थिति का निर्धारण भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परम्परागत रूप से होता आया है। यद्यपि वर्ण व्यवस्था में सामाजिक स्थिति का निर्धारण कर्म के आधार पर होता था परन्तु जाति व्यवस्था में जन्म के आधार पर होने लगा। जातियों में भी वर्ग की ही भांति जाति सम्बन्धी जागरूकता और चेतना उपस्थित होती है तथा विभिन्न जातियां ऊँच नीच की भावना के आधार पर ही सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करती है।

(7) **शिक्षा (Education)** - शिक्षा भी वर्ग निर्धारण का महत्वपूर्ण कारक है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को सामाजिक पद प्रतिष्ठा आर्थिक उन्नति के अवसर प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष (Conclusion) - इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शक्ति, प्रतिष्ठा, धन सम्पत्ति, शिक्षा, व्यवसाय जाति प्रजाति आदि वर्ग निर्धारण के प्रमुख कारक हैं।

11.6 वर्ग -प्रमुख समाजशास्त्रियों के विचार वर्ग सम्बन्धी विचार पर मार्क्स का दृष्टिकोण

मार्क्स वाद का ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त वर्ग की मूल धारणा पर ही आधारित है। आपके अनुसार वर्गों का निर्माण 'भौतिक विभाजन की प्रक्रिया' के परिणामस्वरूप होता है, शारीरिक लक्षणों, धर्म, जाति बौद्धिक विशेषताओं तथा सम्प्रदाय आदि तत्वों के आधार पर नहीं होता है। कार्लमार्क्स कृत वर्गों को हम आर्थिक वर्ग भी कह सकते हैं जो उत्पादन की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप विकसित होते हैं इस प्रकार मार्क्स के अनुसार जिन लोगों की उपार्जन विधि एक समान होती है वह एक वर्ग में आते हैं।

34.6.1 कार्ल मार्क्स — मार्क्स के अनुसार अति प्रारम्भ से ही मानव समाज स्पष्टतया 2 वर्गों में विभाजित रहा है। प्रथम वर्ग जो उत्पादन के सम्पूर्ण साधनों का स्वामी होता है तथा

द्वितीय वर्ग जो अपने शारीरिक मानसिक श्रम द्वारा उत्पादन कार्य करता है। पहला वर्ग राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक दृष्टि से शासक व दूसरा वर्ग शोषित होता है। आपका मानना है कि इन दोनों वर्गों का अस्तित्व क्रमशः दासयुग में स्वामी और सेवक के रूप में, सामन्तवादी युग में जमीदार या सामन्त तथा कृषक के रूप में तथा आधुनिक युग में पूंजीपति तथा श्रमिक के रूप में देखा जा सकता है।

मात्र आर्थिक आधार को वर्ग की उत्पत्ति सम्बन्धी एक मात्र कारक स्वीकार किए जाने के कारण मार्क्स के सिद्धान्त की आलोचना की गयी। जैसा कि मैकाइवर और पेज का मानना है कि वर्गों को मात्र आर्थिक भेद पर आधारित नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सामाज़िक स्थिति पर भी तो आधारित होते हैं। राबर्ट बीरस्टीर वर्ग निर्धारण प्रक्रिया में निम्नलिखित 7 तत्वों का प्रमुख योगदान मानते हैं।

(1) सम्पत्ति, धन, पूंजी अथवा आय

(2) परिवार अथवा रक्त सम्बन्धी समूह

(3) निवास का स्थान

(4) निवास की अवधि

(5) आजीविका साधन

(6) शिक्षा

(7) धर्म

34.6.2 मैक्स बेवर — जर्मन समाजशास्त्री मैक्सबेवर ने प्रतिष्ठा के वितरण के आधार पर अपनी सामाजिक वर्ग की अवधारणा का प्रतिपादन किया है तथा सामाजिक व्यवस्था के सामाजिक, आर्थिक तथा वैधानिक नामक 3 प्रमुख अंगों में सर्वाधिक महत्व आर्थिक कारक को दिया है आपके अनुसार सम्पत्तिवान होना अथवा सम्पत्ति हीन होना ही वर्ग निर्माण का मुख्य कारण होता है। इसी प्रकार सम्पत्ति और सेवाओं के प्रकार से सम्पत्ति तथा सम्पत्ति हीन वर्गों का उपविभाजन होता है। जिनके पास न तो कोई सम्पत्ति होती है और न ही उनको किसी प्रकार की सेवाओं ओर वस्तुओं के उपभोग का अवसर ही प्राप्त होता है। मैक्सबेवर ने उनको किसी भी वर्ग में सम्मिलित नहीं माना है। वेबर इनको प्रस्थिति समूह (Status Camp) मानते हैं वेबर के अनुसार गुलाम अथवा दास इस समूह के उदाहरण हैं।

34.6.3 थार्सरीन वेबलन - अमेरिकन विचारक थार्सटीन वेबलन के अनुसार सम्पूर्ण मानवीय क्रियाओं सम्बन्धित वर्ग के दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) उत्पादक कार्य सम्बन्धित उत्पादक या श्रमिक वर्ग

(2) अनुत्पादक कार्य सम्बन्धित अनुत्पादक या विलासी वर्ग

प्रथम प्रकार के उत्पादक कार्य समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति व संतुष्टि हेतु रचनात्मक होते हैं इन्हें करने वाला वर्ग उत्पादक अथवा श्रमिक होता है। यह वर्ग मात्र

जीवित रहने भर की वस्तुओं का उपभोग कर पाता है।

जबकि द्वितीय प्रकार के अनुत्पादक कार्य वह है जो समाज की आवश्यकताओं सम्बन्धित उपयोगी व रचनात्मक नहीं होते हैं। इस वर्ग से सम्बन्धित उपयोगी व रचनात्मक नहीं होते हैं। इस वर्ग से सम्बन्धित लोग विलासी जीवन व्यतीत करते हैं। यह वर्ग उपभोग और उत्पादन के सम्पूर्ण साधनों का स्वामी होता है और आर्थिक व्यवस्था पर हावी होता है।

आपके अनुसार प्रारम्भिक स्तर में 'पुरूष वर्ग' तथा 'स्त्रीवर्ग' यही दोनों वर्ग थे। सामन्तयुगीन समाज में उत्पादक कार्य करने वाले व्यक्ति को 'खेतिहर मजदूर तथा कृषकों द्वारा उत्पन्न वस्तुओं के आधार पर विज्ञासी जीवन व्यतीत करने वाले वर्ग को 'सामन्त' कहा जाता था। आधुनिक युग में इनको पूंजीपति और श्रमिक शब्दों से पहचाना जाता है।

इस प्रकार वेबलन की विलासी वर्ग की अवधारणा पूर्णतया आर्थिक है, जिसमें उत्पादन के स्थान पर उपभोग पर अधिक जोर दिया गया है। वेबलन शोषण के निवारणार्थ वर्ग संघर्ष का भी उल्लेख करते हैं।

11.7 वर्ग संरचना में घटित आधुनिक परिवर्तन

वर्तमान युग के जटिल औद्योगिक तथा पूंजीवादी समाजों में वर्ग संरचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन सामने आये हैं - जैसा कि समाजशास्त्री रॉल्क डेहसडार्फ का मत है कि वर्तमान औद्योगिक समाज कारपोरेट व्यवस्था (संयुक्त स्वामित्व व्यवस्था) पर आधारित है। अब निजी स्वामित्व का स्थान अंशधारियों एवं संयुक्त समूह के हाथ में है। अत: अब समाज में पूंजीपति वर्ग की अवधारणा जटिल हो गयी है।

पूंजीपति वर्ग के ही समान आधुनिक युग का श्रमिक वर्ग भी विभिन्न प्रकार की असमानताओं तथा विभिन्नताओं के कारण विभाजित है, जिसके कारण श्रमिक वर्ग की सजातीयता आधारित चेतना लुप्त हो चुकी है।

वर्तमान औद्योगिक जटिल समाज में मध्यमवर्ग एक सशक्त वर्ग के रूप में उभर कर सामने आया है। यह वेतनभोगी वर्ग अपनी शिक्षा, योग्यता के आधार पर अधिकारी तंत्र मे भी सम्मिलित होता है। साथ ही कम आय वर्ग के आधार पर श्रमिक वर्ग के समीप भी माना जाता है।

11.8 भारतीय वर्ग संरचना - उदय व विकास

भारतीय वर्ग संरचना से अवगत होने के लिए हम इसका कृषक वर्ग व नगरीय वर्ग के रूप में अलग अलग अध्ययन करेंगे।

कृषक वर्ग संरचना -

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासनकाल से पूर्व की अवधि : भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर थी। उत्पादन की व्यवस्था विभिन्न जातियों के बीच प्रकार्यात्मक निर्भरता पर आधारित थी। थार्नर के अनुसार ग्रामीण अपने पारम्परिक उद्योग धन्धों को विरासत में पाते

थे। शिल्पकार और दस्तकार भी कृषि पर निर्भर थे। ग्रामीण अपने द्वारा उत्पादित भालों का स्वयं उपभोग करते थे। ग्राम समुदायों पर राज्य का नियंत्रण रहता था राज्य भू स्वामी के सोपान क्रम में शीर्ष पर था । इनके ठीक नीचे जागीरदार थे, राजा ने इन्हें भूमि आवंटित की थी। इने पश्चात जमींदार तथा सोपान क्रम में सबसे नीचे कृषक थे। उन दिनों न तो भूमि का क्रय विक्रय होता था और न ही मासिक मजदूर (सम्बन्ध थे)।

ब्रिटिश शासन काल में कृषक वर्ग संरचना - औपनिवेशिक भूमि नीति लागू करने के साथ-साथ ब्रिटिश शासनकाल में कृषक समाज स्तरीकृत हो गया था। ब्रिटिश शासन ने भारत में मुख्य तीन प्रकार की भूमि पट्टेदारी व्यवस्थाएं लागू की थी (1) जमीदारी (2) रैयतवाड़ी (3) महलवारी । इन व्यवस्थाओं का उद्देश्य था - अधिकाधिक लगान वसूल करना व कृषि में मुक्त व्यापार आरम्भ करके इसे औपनिवेशिक बाजार का हिस्सा बनाना।

ब्रिटिश शासनकाल में भारत में निम्न कृषक वर्ग उभर कर आए -

(1) **जमींदार** - इस वर्ग में कई उपवर्ग भी सम्मिलित थे जैसे - बिचौलिए, भूस्वामी व धनी किसान आदि। ये पट्टेदारों बटाई द्वारों व कृषि श्रमिकों का उपयोग कृषि कार्य हेतु अपनी भूमि पर करते थे।

(2) **पट्टेदार** - ये छोटे भूस्वामियों से भूमि पट्टे पर लेते थे। एवं अपनी भूमि के कुछ हिस्सों पर खेती करवाने हेतु उप पट्टेदारों का उपयोग करते थे।

(3) **कृषक भू-स्वामी** - ये छोटे भूखण्डों के जोतदार थे और जीवन निर्वाह हेतु ही खेती कर पाते थे।

(4) **कृषि श्रमिक वर्ग** - ये अपने जीवन यापन हेतु खेतिहर मजदूर के रूप में दूसरों के खेतों पर कार्य करते थे।

इस औपनिवेशिक शासन काल में एक नए भूस्वामी वर्ग का उदय हुआ जिसने सूदखोरी का धंधा अपनाया।

रामकृष्ण मुखर्जी बंगाल का गहन अध्ययन करते हुये लिखते हैं कि इस समय की आर्थिक प्रणाली ने वर्ग - 1 (जमींदारों और पर्यवेक्षी किसानों का वर्ग) के उदय को आधार दिया और वर्ग ॥। (बटाइदारों और कृषक श्रमिकों का वर्ग), वर्ग - ॥ (आत्मनिर्भर कृषक, शिल्पकार और व्यापारियों का वर्ग) के बिखरने से बना।

34.8.1 कृषक वर्ग संरचना :-

कृषि की दशा को सुधारने हेतु स्वतंत्रता पश्चात राष्ट्रीय और राज्य सरकारों ने भूमि सुधार व ग्रामीण विकास कार्यक्रमों को अपनाया। लेकिन ग्रामीण विकास की रणनीतियों ने कृषक समाजों में क्षेत्रीय विषमताओं और घोर असमताओं को भी उत्पन्न किया। बड़े भूस्वामियों ने भूमिसुधार व आधुनिकीकरण का अधिकतम लाभ उठाया।

कोतोवस्की के अनुसार भारतीय ग्रामीण सामाजिक संरचना में बुर्जुआ, भूस्वामी, बटाईदार और कृषि श्रमिक ही मुख्य वर्ग है। **अशोक रूद्र** भारत के कृषक समाज में मोटे तौर पर दो मुख्य वर्गों - बड़े भू स्वामियों और कृषि श्रमिकों के वर्गो को सम्मिलित करते है।

NMDC-102

इस प्रकार भारत में कृषक वर्ग संरचना को निम्न रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं-

(1) धनी कृषक (2) मध्यम कृषक (3) निर्धन कृषक (4) भूमिहीन श्रमिक। यह वर्गीकरण भूमि की मात्रा पर आधारित है भूमिहीन श्रमिक इस क्रम में सर्वाधिक निचले स्तर पर होते हैं। जो पारिश्रमिक भुगतान के आधार पर अपना श्रम बेचते हैं।

ए.आर. देसाई के अनुसार विकास की इस प्रक्रिया द्वारा विभिन्न निर्धन वर्गों का एक बड़ा हिस्सा ओर भी अधिक निर्धन हो गया है। उच्च और निम्न वर्ग के बीच तनाव और संघर्ष भी और गहरे हो गये हैं। औद्योगीकरण के पश्चात उदारीकरण औरवैश्वीकरण की प्रक्रिया से कृषि के लाभकारी व्यवसाय न रह पाने के कारण कृषकों की स्थिति और दयनीय व असुरक्षित होती जा रही है।

11.8.2 नगरीय वर्ग संरचना -

सामान्यतया नगरीय वर्ग संरचना का उदय भारत में औपनिवेशिक शासन के प्रभाव स्वरूप सामने आया। औपनिवेशिक औद्योगिक नीति ने भारतीय परम्परागत ग्रामीण व कुटीर उद्योगों को अलाभदायक कर दिया। शनै: शनै: इनके समाप्त होने से ग्रामीण दस्तकारों व शिल्पियों का एक बड़ा हिस्सा रोजगार की तलाश में नगरों की ओर आने लगा। भारत में उद्योगों की शुरूआत 1850 से मानी जाती है। 1890 तक लगभग 3,00,000 श्रमिक कपास व जूटमिलों ने तथा लगभग 2,00,000 श्रमिक खदानों में काम करते थे।

भारत में पारम्परिक नगर तो थे ही, ब्रिटिश उपनिवेशीय शासनकाल में नए नगरीय केन्द्र उभर कर सामने आए। इन नगरीय केन्द्रों में नए नए सामाजिक समूह भी उभर कर सामने आए जैसे - प्रशासक और व्यापारी अभियान वर्ग, व्यावसायिक समूह, शिक्षित लिपिक वर्ग और श्रमिक वर्ग। श्रमिक वर्गों में मुख्यत: कारखाने के श्रमिक और असंगठित क्षेत्रों में लगे अकुशल मजदूर थे।

11.8.3 श्रमिक वर्ग संरचना -

स्वतंत्रता के पश्चात भी श्रमिकों का नगरीय क्षेत्रों में रूझान बढ़ा ही है। 1951 में पूरे श्रमिकों में मात्र 14% नगरीय थे। मगर 1981 में इनका प्रतिशत बढ़कर 20 हो गया। संगठित क्षेत्रों में श्रमिकों की जनसंख्या बढ़ रही है। साथ ही असंगठित क्षेत्र जैसे - सब्जी, फल, अखबार बेचने वाला, निर्माण क्षेत्र में लगे श्रमिक , दैनिक मजदूर दुकानों व घरेलू नौकरों के रूपये भी इनकी जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुयी है। संगठित क्षेत्रों के श्रमिक वर्ग श्रम संघों के माध्यम से अपनी कार्य दशाओं वेतन आदि में सुधार हेतु सौदेबाजी करने में सक्षम रहे हैं। इसके विपरीत असंगठित क्षेत्र के श्रमिक मूल भूत सुविधाओं को भी नहीं प्राप्त कर सके।

11.8.4 मध्यम वर्ग संरचना -

औद्योगिक औपनिवेशिक शासन की देन मध्यम वर्ग के रूप में भी सामने आयी। यह मध्यम वर्ग एक सशक्त वर्ग के रूप में उभरा।

बी. बी. मिश्रा के अनुसार भारतीय मध्यम वर्ग में मुख्य रूप से निम्न समूह है:

1) व्यापारी, व्यापारिक फर्मों के मालिक व एजेन्ट ।

NMDC-102

2) प्रबन्धक, पर्यवेक्षक, तकनीकी स्टाफ आदि।

3) उच्चवेतन भोगी अधिकारी, राजनीतिक समाजसेवी, सांस्कृतिक, शैक्षिक निकाय।

4) सार्वजनिक क्षेत्रों के कर्मचारी।

5) वकील, डाक्टर, प्राध्यापन, पत्रकार, कलाकार, प्रोफेसर, धर्माचार्य आदि।

6) संयुक्त और कृषि सम्पत्ति, किराया जीवी वर्ग, राजस्व कृषक आदि।

7) स्थापित दुकानदार, संयुक्त पूजी कम्पनियों के नियुक्त प्रबंधन, लेखाकार, होटलों के संचालक आदि।

8) ग्रामीण उद्यमी, भू-सम्पदा के वेतन भोगी प्रबंधक।

9) विश्वविद्यालय अथवा समान स्तर पर पढ़ने वाले पूर्णकालिक विद्यार्थी।

10) लिपिकीय कार्य करने वाले कर्मचारी।

11) उच्च माध्यमिक स्कूलों के अध्यापक, स्थानीय निकायों के अधिकारी और राजनीतिक कार्यकर्ता।

मध्यम वर्ग का एक और वर्गीकरण वर्ग संघर्ष सम्बन्धी मार्क्सवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत किया जाता है। इनको दो श्रेणियों पुराना मध्यम वर्ग ओर नया मध्यम वर्ग में विभाजित किया जा सकता है।

पुराना मध्यम वर्ग -

इस वर्ग के लोग उत्पादन के साधनों के मासिक के साथ साथ इन पर कार्य करने वाले श्रमिक भी होते हैं। इनमें व्यापारी, देनदार, स्वतंत्र व्यवसायी दुकानदार, छोटे विनिर्माता आदि सम्मिलित होते हैं।

नया मध्यम वर्ग -

नये मध्यम वर्ग में प्रौद्योगिकीय वैज्ञानिक और प्रबंधकीय विकास से सम्बद्ध कार्मिकों की एक नयी सामाजिक श्रेणी आती है। इस वर्ग का उदय उत्पादन पद्धति में वैज्ञानिक और तकनीकी क्रान्ति से हुआ है।

इस वर्ग की वृद्धि से औद्योगिक समाजों की वर्ग संरचना में परिवर्तन आया है। पहले पूंजीवादी समाज की वर्ग संरचना पिरामिड के आकार की थी, जो अब हीरक आकार की हो गयी है

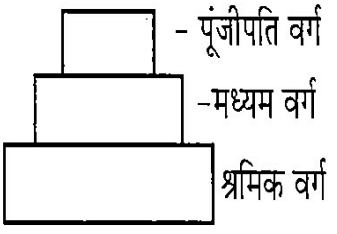

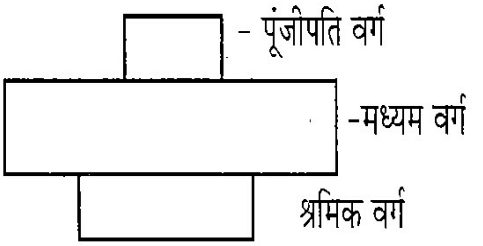

11.8.5 उद्यमी वर्ग संरचना -

भारतीय पूंजीपति वर्ग या उद्यम वर्ग का प्रारम्भ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सूती वस्त्र उद्योग की स्थापना से हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारतीय जनता की मांग पूर्ति के लिए भारतीयों द्वारा उद्योगों का तीव्र गति से विकास किया गया प्रारम्भ में पारसी , गुजराती और मारवाड़ी मूलत: उद्यमी थे इन उद्यमियों द्वारा किया गया निवेश कम पूंजी लागत वाले उद्योगों में किया गया अत: स्वतंत्रता पश्चात योजना बद्ध आर्थिक विकास की प्रक्रिया में आधारभूत उद्योगों में सरकारी निवेश पर ध्यान दिया गया।

बाद के वर्षों में भारत के उद्यमी वर्ग के सामाजिक आर्थिक संगठन में परिवर्तन देखने को मिला। ग्रामीण और लघु उद्योगों के विकास के लिए सरकारी प्रोत्साहन दिया जाता रहा। साथ ही नया उद्यमी वर्ग उभरकर सामने आया है जो उन्नत प्रौद्योगिकी का प्रयोग कर रहा है। इनमें परम्परागत जातियों से हटकर विभिन्न जातियों के प्रौद्योगिकीविद शिक्षित युवक, उद्यमी महिलाएं आदि हैं।

11.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई वर्ग संरचना आधारित इकाई थी, जिसका हम लोगों ने अध्ययन किया। इस इकाई में हम सर्वप्रथम वग्र के अर्थ, परिभाषा और विशेषताओं से अवगत हुए, तत्पश्चात वर्ग के निर्धारण में किन कारकों का महत्व है उन्हें भी जाना। साथ ही विभिन्न समाज शास्त्रियों ने अपने अध्ययनों में वर्ग को किस रूप में परिभाषित किया उनसे भी अवगत हुए। वर्ग की संरचना में समाज में परिवर्तन के साथ साथ न्यूनाधिक परिवर्तन आते हैं अत: इसमें घटित आधुनिक परिवर्तनों का भी अध्ययन किया। अंत में हम भारतीय परिप्रेक्ष्य में ग्रामीण व नगरीय दोनों ही क्षेत्रों में वर्गों के उदभव और विकास से भी हम अवग्न हुए।

11.10 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. आर. एम. मैकाइवर व पेज - सोसायटी - पृ 348
2. कार्ल मार्क्स - जर्मन आइडियालॉजी
3. मैक्सवेबर - द थ्योरी आफ सोशल एण्ड एकोनॉमिक आर्गनाइजेशन
4. थार्सटीन वेबलन - द थ्योरी ऑफ लेबर क्लास
5. के. एम. पणिक्कर - भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण
6. बेते ए. 1976 ''स्टडीज इन एग्रेनियन सोशल स्ट्रक्चर न्यू देहली, आक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस
7. सेन, एस 1979, वर्किंग क्लास ऑफ इण्डिया हिस्ट्री ऑफ एमरजेंस एण्ड मूवमेंट, के. पी. बागची एण्ड कं0 कलकत्ता।
8. डा. बी. बी. मिश्रा, 1978 द इण्डियन मिडिल क्लासेज, देयर ग्रोथ इन माडर्न टाइम्स, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली

9. सिंघर एम. 1973 - इण्टरप्रीन्योरशिप एण्ड मार्डनाइजेशन आफ आक्यूपेशनल कल्चर इन साउथ एशिया, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

11.11 प्रश्नोत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न -

प्र. 1 वर्ग की अवधारणा स्पष्ट करें ।

प्र. 2 वर्ग के क्या निर्धारक मापदण्ड हैं?

प्र. 3 वेबलन द्वारा दी गयी वर्ग की अवधारणा स्पष्ट करें?

प्र. 4 कृषक वर्ग संरचना के उद्भव को संक्षेप में बताएं ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न -

प्र. 1 वर्ग किसे कहते हैं? इसकी विशेषताओं का उल्लेख करें ?

प्र. 2 वर्ग सम्बन्धी प्रसिद्ध समाजशात्रियों के विचारों की आलोचनात्मक विवेचना करें?

प्र. 3 वर्ग के निर्धारक मापदण्ड का विस्तृत उल्लेख करें?

प्र. 4 ग्रामीण (कृषक) वर्ग संरचना व नगरीय वर्ग संरचना के उद्भव का विकास पर प्रकाश डालो?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

प्र. 1 "एक सामाजिक वर्ग किसी समाज में अनिवार्य सामाजिक स्थिति रखने वाले व्यक्तियों का योग होता है।" यह परिभाषिक समाजशास्त्री ने दी है।

1. आगबर्न व निमकोफ 2. इ. ए. होबेल 3. जिन्सबर्ग 4. मैकाइवर व पेज

उ. (1)

प्र0 2 निम्न में कौन वर्ग का निर्धारण मापदण्ड नहीं है।

1. व्यवसाय 2. शक्ति 3. प्रतिष्ठा 4. रंग रूप

उ. (4)

प्र. 3 राबर्ट बीरस्टीड ने वर्ग निर्धारण के कितने तत्वों का योगदान माना है?

1. 4 2. 5 3. 6 4. 7

उ. (4)

प्र. 4 ब्रिटिश शासन काल में निम्न में से कौन सी भूमि पट्टेदारी व्यवस्था लागू नही थी?

1. जमीदारी 2. रैय्यतवादी 3. महलवादी 4. पट्टेदारी

उ. (4)

इकाई 12 वर्ण, जाति एवं वर्ग में अन्तर व जाति व वर्ग के मध्य अन्तक्रियात्मक सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रस्तावना

12.3 जाति व वर्ण में अन्तर

12.4 जाति व उपजाति

12.5 जाति व वर्ग में अन्तर

12.6 जाति और वर्ग का अर्न्तक्रियात्मक स्वरूप

12.7 सारांश

12.8 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

12.9 प्रश्न उत्तर

12.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

* वर्ण और जाति के सह-सम्बन्ध के साथ-साथ अंतर की विवेचना कर सकेंगे।
* जाति के उप विभाजन, उपजाति की भी विवेचना कर सकेंगे।
* जाति और वर्ग के मध्य अंतरक्रियात्मक रूप की व्याख्या कर सकेंगे।

12.2 प्रस्तावना

विश्व के समस्त समाजों में स्तरीकरण पाया जाता है, परन्तु इनके स्वरूप में भिन्नता हो सकती है। पश्चिमी समाजों में स्तरीकरण का आधार आर्थिक है जो कि वर्ग आधारित है जबकि भारत में यह आधार सामाजिक है जो वर्ण, जाति, उपजाति आधारित है। पूर्व इकाइयों द्वारा हम वर्ण, जाति व वर्ग से अलग अलग अवगत हो चुके हैं । इनकी उत्पत्ति व विशेषताओं का भी अध्ययन कर चुके हैं। नि:सन्देह कोई भी व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति अकेले नहीं कर सकता है। इसके लिए श्रम विभाजन आधारित स्तरीकरण अपरिहार्य है। इस स्तरीकरण का सर्व स्वीकार आधार क्या हो, यह विवाद का विषय है। भारत जैसे देश में जहां सामाजिक व्यवस्था को अधिक महत्व दिया गया है वही पश्चिमी समाजों में आर्थिक व्यवस्था को । अत: स्तरीकरण के आधार में भी भिन्नता दिखाई देती है।

वर्तमान में उदारीकरण वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने सम्पूर्ण विश्व को संकुचित कर दिया है। विश्व के एक कोने में घटित किसी भी घटना का प्रभाव अन्य दूसरे क्षेत्रों में भी दिखायी देने

NMDC-102

लगा है। किसी भी देश की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था देश विशेष की न होकर विश्वव्यापी हो गयी है। अर्थ तंत्र के बढ़ते महत्व ने वर्ग व्यवस्था को अधिक प्रभावशाली बना दिया है। अत: विद्वानों के अनुसार जाति उपजाति में भी वर्ग रूपान्तरण की प्रक्रिया दिखायी देने लगी है।

12.3 जाति और वर्ण (Caste and Varna)

जाति एवं वर्ण भारतीय सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत विशेषताएं हैं। भारतीय जाति व्यवस्था को वर्ण व्यवस्था से पृथक करके नहीं समझा जा सकता। यद्यपि जाति प्रथा की उत्पत्ति के वास्तविक आधार को समझना आसान कार्य नहीं है। जैसा कि ब्लण्ट लिखते हैं कि "जाति के उद्‌गम के कुछ सिद्धान्त तो बिल्कुल हास्यास्पद है लेकिन जिन सिद्धान्तों को बहुत चालाकी एवं वैज्ञानिक आधारों के साथ रखा गया है, वे भी जाति के उद्‌गम के यथार्थ आधार को स्पष्ट करने में असफल रहे।" फिर भी जाति की उत्पत्ति में वर्ण की भूमिका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण रही है। हिन्दुओं के कुछ प्रमुख धर्मग्रन्थों में जैसे गीता महाभारत स्मृतियों में जाति की उत्पत्ति को किसी न किसी रूप में वर्ण व्यवस्था से जोड़ा गया है। महाभारत व गीता में जातियों की उत्पत्ति की व्याख्या 'वर्ण संकरता' के आधार पर की गयी है।

मनुस्मृति में मनु उल्लेख करते हैं कि जातियों की उत्पत्ति प्रतिलोभ विवाह एवं वर्ण संकरता के आधार पर हुयी है। वर्ण संकर श्रेणियां एक नयी जाति व उपजाति का रूप लेती गयी। इस तरह वर्ण व्यवस्था, के सैद्धान्तिक आधार पर ही हजारों जातियों का निर्माण हुआ। जाति व्यवस्था के अन्तर्गत खान-पान, विवाह, सामाजिक सम्पर्क और पवित्रता सम्बन्धी विभिन्न नियम वर्ण व्यवस्था के नियमों पर आधारित है इसीलिए कुछ विचारकों के अनुसार वर्ण और जाति में केवल नाम का ही अंतर है। कार्य का नहीं। किन्तु हट्‌टन का मत है कि ये दोनों भिन्न भिन्न होने के कारण इसके विभिन्न खण्डों जैसे - ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्रों का दोनो में ही उपस्थित होना है।

1. व्यक्ति के गुण और कर्म वर्ण निर्धारण के आधार माने गये हैं। जबकि जाति व्यवस्था का एक मात्र आधार व्यक्ति का जन्म अथवा आनुवांशिकता है।

2. वर्ण व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन की प्राचीन व्यवस्था जबकि जाति व्यवस्था का इतिहास अधिक पुराना नहीं है इसकी उत्पत्ति बौद्ध और जैन धर्मो के ह्रास के बाद से ही मानी जाती है।

3. वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का विभाजन केवल 4 प्रमुख वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में देखने को मिलता है जबकि जाति व्यवस्था लगभग 3000 जातियों और उपजातियों में विभाजित है। इस प्रकार जाति व्यवस्था की विचारधारा वर्ण व्यवस्था की अपेक्षा संकुचित है।

4. गुण और कर्म पर आधारित होने के कारण व्यक्ति अपने वर्ण की सदस्यता परिवर्तित कर सकता था इस प्रकार इस व्यवस्था में खुलापन ओर उदारता है जबकि जाति व्यवस्था एक बंद व्यवस्था है व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है वह जीवन पर्यन्त

उसी जाति का सदस्य रहता है। इसी संदर्भ में डा0 राधाकृष्णन का मत है कि "जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है बाद में अपने कर्मों के अनुसार ही वह एक विशेष वर्ण की सदस्यता प्राप्त करता है।

5. वर्ण व्यवस्था में ऊंच-नीच का संस्तरण नहीं पाया जाता है, सभी वर्णों का समान महत्व माना गया है। दूसरी ओर जातियों में ऊँच नीच की भावना होती है। महात्मा गांधी के अनुसार "वर्ण व्यवस्था एक वैज्ञानिक तथ्य है जिसका कार्य सभी के कर्तव्यों को स्पष्ट करके व्यक्ति को अवांछनीय प्रतिस्पर्धा से बचाना था। इसके पूर्णतया विपरीत जाति व्यवस्था कुछ निहित स्वार्थों पर आधारित असमानता का एक ज्वलन्त उदाहरण है जिसमें उच्च जातियों को सभी प्रकार से विशेषाधिकार दिए गये हैं और शूद्रों को सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया है सभी जातियां इतनी संकीर्ण सामुदायिक भावना को प्रदर्शित करती हैं कि उनकी वर्णव्यवस्था जैसी उदार नीति से तुलना भी नहीं की जा सकती।

6. वर्ण व्यवस्था कर्तव्यों की व्याख्या करती है जबकि जाति खान पान विवाह, सामाजिक सहवास एवं पेशे सम्बन्धी निषेधों की।

7. वर्ण व्यवस्था की प्रकृति लोचशील है विभिन्न वर्णों के धर्म अथवा कर्तव्य पृथक पृथक होने पर भी इस व्यवस्था में अनुलोम विवाद (अर्थात पुरूष के वर्ण से निम्न वर्ण की स्त्री के बीच वैवाहिक सम्बन्ध की स्वीकृति दी गयी है। इसके विपरीत जाति व्यवस्था में सभी जातियां पूर्णतया अन्तर्विवाही हैं और किसी स्थिति में भी एक जाति को दूसरी जाति के अंदर विाह करने की अनुमति नहीं दी गयी है।

12.4 जाति और उपजाति (Caste and Sub-Caste)

भारतीय जाति व्यवस्था में जाति और उपजाति का विकास समय अन्तराल के साथ हुआ है। यह सही है कि जाति और उपजाति में व्यवसाय और सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी कुछ सामान्य विशेषताएं होती हैं किन्तु समाज में दोनों का पृथक अस्तित्व है दोनों में अन्तर है यद्यपि ये अन्तर बहुत स्पष्ट नहीं है क्योंकि दोनों के समान लक्षण है एक उपजाति जाति का ही उपविभाजन है। 'ब्राह्मण वर्ण' और जाति दोनों ही हैं। कान्यकुब्ज सरयूपारीय और गौड़ ब्राह्मण जाति के उदाहरण है और श्रीमाली पुरोहित आदि उप जातियों के उदाहरण है।

उपजातियों की उपत्पत्ति के विषय में दो दृष्टिकोण है प्रथम कि उनका एक ही समूह के विखण्डन से उदय हुआ, और दूसरा कि उनका उदय स्वतंत्र समूहों के रूप में हुए घुरिये के अनुसार उपजातियों का जातियों से अन्तर निम्न कारकों के आधार पर किया जा सकता है क्षेत्रीय पृथकता मिश्रित उत्पत्ति, व्यावसायिक श्रेष्ठता, व्यावसायिक तकनीकि में अन्तर रीति रिवाजों में असमानता और उपनाम को अपनाना। रिजले हट्टन और मजूमदार ने उपजाति को मुख्य जाति से अपनी प्रस्थिति को उठाने के लिए टूटने का परिणाम माना। इसी तरह बी. आर. चौहान विखण्डन के कारण उपजाति का जन्म मानते हैं। विखण्डन के अतिरिक्त अन्य कारकों जैसे प्रव्रजन, रिवाजों में परिवर्तन, राजनैतिक निर्णयों आदि कारकों को भी उपजाति के निर्माण में सहायक मानते हैं। क्रिकपैट्रिक का मानना है कि उपजातियां, जो

NMDC-102

जातियों से विखण्डित समूह है प्रारम्भ में प्रव्रजन तथा सामाजिक व राजनैतिक कारकों के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आई, लेकिन आज वे किसी घृणित जाति में समृद्ध व्यक्तियों द्वारा अपने निम्न जातीय भाइयों से अलग हो कर नए नाम से सामाजिक पैमाने में अपने को उठाने और अपने को किसी उच्च जाति से सम्बद्ध करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप अस्तित्व में आ रही है ।

सामान्यतया जातियों व उप जातियों में कोई भेद नहीं किया जाता है किन्तु कुछ विद्वान व्यावहारिक दृष्टि से इनमें भेद करना उचित मानते हैं । एक जाति की सभी उपजातियों में जाति की कुछ सामान्य विशेषताएं पायी जाती हैं, जैसे सामान्य व्यवसाय तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध के नियम आदि । जाति व उपजाति में मूल अन्तर यह है कि जाति नहीं वरन् उपजाति ही एक अन्तर्विवाही समूह है।

गेत का मत है कि प्रत्येक उपजाति ही जाति है क्योंकि अन्तर्विवाह का नियम उपजातियों पर ही दृढ़ता से लागू होता है। फिर भी गेत के मत को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उपजातियों में जाति के सभी संरचनात्मक और सांस्कृतिक पक्ष नहीं होते और ऐसा करने से जातियों की संख्या में वृद्धि हो जाएगी।

उप जातियों और जातियों के मध्य कार्यों के आधार पर निम्न प्रकार भेद किया जा सकता है उप जातियों द्वारा किए जाने वाले तीन कार्य है अन्तर्विवाह सहभोज सम्बन्धों का प्रतिबन्ध और एक वृहंत समाज के भीतर ही सामुदायिक जीवन का संचालन जातियों के तीन कार्य है। प्रस्थिति प्रदान करना, नागरिक और धार्मिक अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाना और पेशों का निर्धारण करना।

उपरोक्त कार्यों के अन्तर के संदर्भ में डा0 घुरिये का मानना है कि उपजातियों को ही जातिंभावना चाहिए क्योंकि उपजातियों के पाये जाने वाले कार्य जातियों की ही विशेषताएं हैं। इसी लिए हमें उपजातियों को ही वास्तविक जातियों की मान्यता देनी चाहिए। श्रीनिवास का मानना है कि 'उपजाति' ही जाति व्यवस्था की वास्तविक इकाई है परन्तु अपने अध्ययन में (कर्नाटक राज्य के मैसूर प्रदेश में रामपुरा गांव में) उन्होंने जाति को केन्द्र बिन्दु माना था। मेयर के अनुसार क्षेत्रीय स्तर पर उपजाति अन्तर्जातीय तथा अन्त: जातीय सम्बन्धों की इकाई हो सकती है लेकिन गांव के भीतर अन्तर्जातीय सम्बन्ध उपजाति के बजाए जातियों के सन्दर्भ मे देखे जाते हैं। इरावती कर्वे उपजातियों को विश्लेषण की अन्तिम इकाइयां मानती हैं।

हट्टन जाति और उपजाति में कोई भेद नहीं मानते हैं। उनके अनुसार जब एक जाति का एक समूह पेशे भाषा या स्थान परिवर्तन के आधार पर मुख्य समूह से अलग हो जाता है तो ऐसे समूह को स्वतंत्र जातिया उपजाति कहा जाता है।

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि जाति व उपजाति में भेद को लेकर विद्वानों में मतभेद है। इन दोनों में पर्याप्त समानता होने पर भी इन्हें एक ही नहीं माना जा सकता है सही अर्थों में जाति बड़ा समूह है। उपजाति छोटा। एक व्यक्ति यदि अपनी जाति की विभिन्न उपजातियों में विवाह करता है तो उतना बड़ा अपराध नहीं माना जाता जितना कि दूसरी जातियों से

विवाह करने पर माना जाता है । यही बात भोजन और सामाजिक सहवास के नियमों पर भी लागू होती है।

12.5 जाति और वर्ग का अन्तर या भेद (Distinctions Between Caste and Class)

जाति और वर्ग से सम्बन्धित अध्ययन हम खण्ड 2 व 3 में कर चुके हैं। ये दोनों ही एक दूसरे से भिन्न अवधारणाएं हैं यद्यपि दोनों ही सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख रूप हैं लेकिन जाति व्यवस्था में विभिन्न जातियों के निर्माण का एक आधार व्यक्ति का जन्म है जबकि सामाजिक वर्गों का निर्माण व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवन स्तर, विचारों, मनोभावों और इसी प्रकार के अनेक दूसरे आधारों पर होता है।

सामाजिक संस्तरण के इन दोनों प्रमुख स्वरूपों अर्थात जाति और वर्ग में अनेकानेक आधारभूत अन्तर पाए जाते हैं। राधा कमल मुखर्जी का इस सदंर्भ में मानना है कि "न तो कोई जाति पूर्णतया बंद है और न ही कोई वर्ग पूर्णतया विमुक्त । दोनों का ही व्यक्तियों तथा समूहों की प्रस्थिति व भूमिका को स्पष्ट करने में योगदान है।"

निम्न बिन्दुओं के आधार पर हम जाति व वर्ग के मध्य अन्तर स्पष्ट कर सकते हैं। -

1. जाति की सदस्यता व्यक्ति के जन्म पर ही आधारित होती है अर्थात एक व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है वह जीवन पर्यन्त उसी जाति का अनिवार्य सदस्य बना रहता है।

इसके विपरीत वर्ग की सदस्यता व्यक्ति के जन्म पर आधारित नहीं होती है। कोई भी व्यक्ति शिक्षा, व्यवसाय तथा सम्पत्ति के आधार पर अत्यधिक सुगमता पूर्वक अपना वर्ग परिवर्तित कर सकता है।

2. जाति प्रथा एक प्रतिबन्धित या बंद व्यवस्था है अर्थात् इसमें कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा से जाति में परिवर्तन नहीं कर सकता है। जातिगत कठोर नियमों की अवहेलना व्यक्ति विशेष को जाति से बहिस्कृत तो कर सकती है किन्तु जातिच्युत नहीं कर सकती।

इसके विपरीत वर्ग की सदस्यता में किसी भी समय परिवर्तन किया जा सकता है क्योंकि यह एक खुली व सर्वथा विमुक्त व्यवस्था है। कोई भी व्यक्ति शिक्षा, व्यवसाय और जीवन सम्बन्धी सफलताओं और विफलताओं के आधार पर किसी भी भी समय में किसी भी वर्ग में स्वतंत्रता पूर्वक आ जा सकता है।

3. जाति की सदस्यता प्रदत्त होती है। व्यक्ति इसे प्राप्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता है। बल्कि यह जन्म के द्वारा उसे अपने आप प्राप्त हो जाती है। इसकी सदस्यता पर व्यक्ति की योग्यता अयोग्यता अज्ञानता, निर्धनता या सम्पन्नता किसी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

इसके विपरीत वर्ग की सदस्यता अर्जित होती है,अर्थात कोई भी व्यक्ति अपने ज्ञान, गुण, कुशलता और अनुभव के आधार पर किसी भी वर्ग सदस्य बन सकता है।

4. जाति एक अन्तर्विवाही समूह है । एक जाति या उपजाति का सदस्य अपनी ही

जाति या उपजाति में विवाह कर सकता है किसी भी अन्य अर्थात अन्तर्जातीय विवाह कदापि नहीं कर सकता।

इसके विपरीत वर्ग व्यवस्था में वैवाहिक सम्बन्धों सम्बन्धित प्रतिबन्ध नहीं होते। उच्चवर्ग या निम्न वर्ग काव्यक्ति अपने ही वर्ग में या विपरीत वर्ग में भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित क़र सकता है।

5. जातिं व्यवस्था के अन्तर्गत परम्परागत रूप से प्रत्येक जाति का व्यवसाय निश्चित रहता है। इसी के अनुसार जीविका उपार्जिक करना सदस्यों का नैतिक दायित्व माना जाता है।

इसके विपरीत वर्ग का आधार ही एक विशेष सामाजिक आर्थिक स्थिति है। जिसको किसी भी व्यवसाय के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार वर्ग व्यवस्था में व्यवसायपूर्व निर्धारित न होकर व्यक्ति के गुण और योग्यता आधारित होते हैं।

6. जाति में सामाजिक सम्पर्क व खान पान सम्बन्धी कठोर प्रतिबन्ध होते हैं। यह पूर्व निर्धारित रहता है कि कोई जाति किस किस जाति के हाथों का बना हुआ अन्न जल ग्रहण कर सकती है और किन किन का नहीं कर सकती है।

वर्ग व्यवस्था में इस प्रकार के कोई निश्चित और स्पष्ट नियम नहीं है। एक वर्ग के सदस्यों को किसी भी वर्ग के सदस्यों के साथ खान पान सम्बन्धी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त रहती है इसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा होता है।

7. जाति की प्रकृति न्यूनाधिक स्थिर होती है। अर्थात जन्म के परिणामस्वरूप व्यक्ति की जाति में किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन घटित नहीं होता है। इसकी विशेषताओं में हजारों वर्षों के बाद भी अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है।

वर्ग की सदस्यता व्यक्ति की सामाजिक और आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित होने के कारण इसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है। समाज की राजनीतिक और आर्थिक दशाओं में परिवर्तन होने के साथ वर्गीय संरचना में भी परिवर्तन होते देखे गये हैं।

8. जाति की प्रकृति समष्टिवादी होती है जिसमें व्यक्ति का महत्व गौण होता है चूँकि जाति की इकाई परिवार है, व्यक्ति नहीं इसलिए व्यक्ति के प्रत्येक कार्य में जाति समूह का निर्देशन और नियंत्रण रहता है।

इसके विपरीत वर्ग व्यवस्था व्यष्टि प्रधान होती है जिसमें समूह गौण होता है। व्यक्ति मात्र वर्ग हितों के संदर्भ में ही समूह का नियंत्रण स्वीकार करता है। व्यक्ति अपने क्रिया कलापों के लिए स्वतंत्र होता है। इस प्रकार जाति व्यवस्था के विपरीत वर्ग में वैयक्तिक मनोवृत्तियों का उदय और विकास होता है।

9. जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति की स्थिति दूसरी जाति की अपेक्षा स्पष्ट रूप से ऊँची अथवा नीची होती है। यह संस्तरण निश्चित प्रकृति का होता है कोई व्यक्ति इसकी अवहेलना करने का साहस नहीं करता ।

इसके विपरीत विभिन्न वर्गों में किसी को भी महत्व और कार्य के दृष्टिकोण से दूसरे की अपेक्षा निम्न अथवा उच्च नहीं कहा जा सकता। यद्यपि मार्क्स ने पूंजीपति, मध्यम और श्रमिक वर्ग के एक निश्चित संस्तरण का उल्लेख किया है। लेकिन सामाजिक आधार पर इनमें भिन्नता की बात नहीं स्वीकार की ।

10. जाति व्यवस्था में पूर्व निर्धारित पेशे होने के कारण व्यक्ति स्वयं को आर्थिक रूप से सुरक्षित महसूस करता है उसे प्रतियोगिता के आधार पर व्यवसाय चयन की समस्या का सामना नहीं करना पड़ता है।

इसके विपरीत वर्ग व्यवस्था में आर्थिक सुरक्षा कम होती है, क्योंकि इसकी प्रकृति अस्थिर होती है वर्ग व्यवस्था में आर्थिक उतार चढ़ाव की समस्या सदैव उत्पन्न रहती है।

11. जाति व्यवस्था में निम्न जातियों के पास कुछ निश्चित कार्यों का एकमात्र आधिपत्य होता है, इसीलिए उच्च जातियों में इनकी सेवाओं को प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता भी होती है।

इसके विपरीत वर्ग व्यवस्था में उच्च वर्गीय व्यक्तियों की उच्च स्थिति के परिणाम स्वरूप उनको कुछ विशेष महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं इसीलिए निम्नवर्गीय लोग इन अधिकारों का साथ उठाने के लिए प्रयत्न व योग्यता से प्रतियोगिता का सामना करते हैं।

उपर्युक्त वर्णित अन्तरों के आधार पर निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि जाति तथा वर्ग दोनों ही सामाजिक स्तरीकरण के दो पृथक पृथक प्रकार हैं। एक स्वरूप में अर्थात जाति में व्यक्ति की सामाजिक, पेशेगत, वैवाहिक आदि स्थिति का निर्धारण जन्म से हो जाता है तो दूसरा स्वरूप पूर्णतया योग्यता, व्यवसाय तथा शिक्षा पर निर्भर करता है । मैकाइवर व पेज के अनुसार "जब स्थिति पूर्णतया इस रूप में निश्चित हो कि बिना किसी परिवर्तन की आशा किए मनुष्य जन्म के साथ ही अपना जीवन भाग्य लाए, तभी वर्ग जाति का रूप लेता है।

12.6 जाति और वर्ग का अन्त: क्रियात्मक स्वरूप

जाति और वर्ग दोनों ही स्तरीकरण के प्रकार हैं परन्तु जाति जन्म आधारित प्रदत्त व्यवस्था है जबकि वर्ग गुण, योग्यता आधारित अर्जित व्यवस्था। आधुनिक भारत में औद्योगीकरण, पश्चिमीकरण, शिक्षा के प्रभाव आदि विभिन्न कारकों ने वर्गों का स्थान महत्व पूर्ण बना दिया है **डा. राधा कमल मुखर्जी** के अनुसार आज छुआछूत और खान पान के प्रतिबन्ध ही ढीले नहीं पड़े हैं बल्कि जातियों की परम्परागत स्थिति भी परिवर्तित हो रही है। विभिन्न जाति गत संघ अपनी जाति के सभी सदस्यों के लिए समान अभिवृत्ति न अपनाकर एक विशेष आर्थिक स्थित वाले व्यक्तियों के लिए सेवाएं प्रदान करने की प्रवृत्ति अपना रहे हैं। विशेष व्यवसाय से सम्बद्ध लोगों की संख्या बढ़ रही है इनकी भावनाएं भी जाति आधारित न होकर वर्ग आधारित होने लगी हैं। यह प्रवृत्ति व्यवहारिक रूप में वर्ग व्यवस्था की स्वीकृति को शनैः शनैः सहमति दे रही है।

जातियों के अन्दर वर्ग बनने की प्रवृत्ति सामने आयी है। जातियों ने अपने जातीय संगठन बनाकर वर्ग की विशेषताएं ग्रहण की है। उदाहरण के लिए शहरों में हरिजनों की अपनी ट्रेड

NMDC-102

यूनियन हैं जो अपने हितों के लिए उसी प्रकार से संघर्ष करती हैं जैसे - मजदूर वर्ग पूंजीपति वर्ग से। इसी प्रकार से विभिन्न उद्योगों में पाए जाने वाले श्रमिक संगठनों में सभी जातियों के सदस्य होते हैं। एक व्यवसाय में लगे विभिन्न जातियों के लोगों में वर्ग चेतना दिखायी देती है। इनके द्वारा निर्मित संगठन का आधार जाति नहीं वरन् समान व्यवसाय होता है। **रजनी कोठारी** ने गुजरात में क्षत्रिय जाति के संगठन का उल्लेख करते हुए कहा है कि इस संगठन में एकाधिक जातियों के सदस्य हैं इस प्रकार जाति जो कि पहले एक बंद व्यवस्था थी, उनमें वर्ग की भांति खुला पन आता जा रहा है। विशेष रूप से निम्न जातियों द्वारा बनाए जाने वाले संगठनों में एकाधिक निम्न जातियां सम्मिलित हुयी हैं।

ए0 आर0 देसाई नम्बूदरीपाद, गेलोम्बेर का मानना है कि औद्योगीकरण के कारण ग्रामीण व्यवसायों के नष्ट हो जाने से ग्रामीण क्षेत्रों की दलित जातियां उद्योगों के मजदूर वर्ग के रूप में परिणित हुयी है इसी तरह ग्रामीण व्यवसायों के नष्ट होने के कारण ग्रामीण दस्तकारी जातियां अपने व्यवसाय को छोड़कर कृषि कार्य करने लगी हैं और वे भूमिहीन कृषक के रूप में सर्वहारा वर्ग में बदल रही हैं निम्न जातियो को वर्ग के रूप में बदलने में प्रजातंत्रीय व्यवस्था एवं उन्हें दिए गये आर्थिक राजनीतिक अधिकारों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सरकारी नौकरियों, विधान मण्डलों एवं संसद आदि में निम्न जातियों को प्रदत्त सुविधा ने उनमें राजनीतिक सत्ता के द्वारा अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए एक जुटता की प्रवृत्ति ने वर्ग की विशेषता को दर्शाया है ।

वर्ग संरचना के आवश्यक तत्व राजनैतिक आर्थिक वर्चस्व पर ध्यानाकर्षित करते हुए एम. एन. श्रीनिवास का मानना है कि जब आर्थिक और राजनीतिक स्थितियां सहसम्बन्धित हो जाती है। विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र में प्रभुत्व वर्ग जैसे समूह उदीयमान हो जाते हैं यद्यपि एम. एन. श्रीनिवास वर्ग को ज्यादा महत्व नहीं देतें हैं लेकिन उन्होंने भी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में प्रभुत्वशील जातियों के रूप में राजनैतिक आर्थिक वर्ग की बात स्वीकार की है।

ब्राइस रेन का मानना है कि जाति व्यवस्था का आधार विभिन्न जातियों के बीच सांस्कृतिक भिन्नता का पाया जाना रहा है, किसी प्रकार के संघर्ष का पाया जाना नहीं। आज एक ओर विभिन्न जातियों के बीच सांस्कृतिक अंतर कम हुआ है। अर्थात विवाह खान पान एवं सामाजिक सहवास के नियमों में शिथिलता आयी है। किन्तु दूसरी ओर उनके बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष में दिन प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। इसका अर्थ है कि जाति में वर्ग संघर्ष की विशेषताएं आती जा रही हैं और जाति वर्ग का रूप ले रही हैं।

के.एल. शर्मा योगेन्द्र सिंह के अनुसार ज्यों ज्यों भारतीय समाज के औद्योगीकरण के कारण व्यावसायिक संरचना का फैलाव होता जा रहा है यह अर्जन आधारित होता जा रहा है। अत: स्वभावगत रूप से अपने प्रदत्त स्वरूप के स्थान पर जातियां वर्गीय रूप लेने लगी हैं। किंग्सले डेविस भी औद्योगीकरण के प्रभाव से जाति के वर्ग में परिवर्तन की सम्भावना व्यक्त करते हैं परन्तु मार्क्सवादी विचारधारा का प्रयोग नहीं करते।

उपरोक्त विचारधाराएं यह स्पष्ट करती हैं कि जाति प्रथा क्रमशः वर्ग के रूप में परिवर्तित हो रही हैं इसके उपरान्त भी यह मान लेना कि जाति व्यवस्था किसी स्तर पर पूर्णतया वर्ग व्यवस्था के समान हो जाएगी, बिलकुल सम्पूर्ण है। वास्तव में वर्ग व्यवस्था का आधार आर्थिक है जबकि जाति व्यवस्था का सामाजिक। जैसा कि डा. योगेन्द्र सिंह का मानना है कि किसी समान राजनीतिक या आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कई बार कुछ जातियां संगठित हो जाती हैं ओर इस दृष्टि से उनमें वर्ग की विशेषताएं दिखायी देने लगती हैं लेकिन ये परिवर्तन क्षणिक है। ऐसे लौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति के बाद जातियां पुनः अपने मौलिक प्रकार्यों जैसे वैवाहिक , सहभोजी तथा धार्मिक अनुष्ठान पर लौट आती है।" इसी सन्दर्भ में डा. नर्मदेश्वर प्रसाद का भी मानना है कि "भारतीय जाति व्यवस्था धार्मिक पौराणिक किस्म की है जबकि यूरोपीय जाति व्यवस्था आर्थिक राजनैतिक किस्म की आधुनिक समय में भारतीय जाति व्यवस्था में आर्थिक राजनैतिक विशेषताओं को भी ग्रहण कर लिया है। अर्थात इसमें दोनों किस्मों का सम्मिश्रण है लेकिन फिर भी भारत में जाति ने कभी भी अपने को पूर्णतः वर्ग के रूप में परिवर्तित नहीं किया है।

डा. के. एल. शर्मा का मानना है कि 'जाति की प्रकृति संस्कारात्मक प्रक्रिया से हटकर चुनावों, व्यवसायों एवं नौकरियों में अपने सदस्यों को सुविधाएं प्रदान कर रही है, लेकिन जातियां न तो मार्क्सवादी और न ही वेबर द्वारा बतलाए गये वर्गों के रूप में बदलती हैं।

उपरोक्त विचार यह स्पष्ट करते हैं कि यह कहना भ्रमपूर्ण ही है कि भारत में जाति व्यवस्था वर्ग व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है। यह अवश्य है कि जाति की विशेषताएं अपनी मौलिक प्रकृति से कुछ विचलित हैं लेकिन कभी भी पूर्णतया वर्ग व्यवस्था के समान नहीं हो सकती।

12.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई पूर्व अध्ययनित इकाईयों का विस्तार है इस इकाई के अध्ययन से पूर्व हम वर्ण जाति वर्ग के अर्थ, उत्पत्ति व विशेषताओं से अवगत हुए थे। प्रस्तुत इकाई में हमने इनसमस्त स्तरीकरण के प्रकारों के अन्तर का अध्ययन किया है। वर्ण जाति से किस प्रकार भिन्न है । जाति व उपजाति में क्या सह सम्बन्ध व क्या अन्तर है? जाति व वर्ग में क्या अन्तर है? इन अन्तरों से अवगत होने के पश्चात हमने यह भी जानने का प्रयास किया कि क्या जाति वर्ग में परिवर्तित हो रही है? वे क्या लक्षण है जो इसे परिवर्तनशील स्वरूप को दर्शाते हैं एवं इस सम्बन्ध में विभिन्न समाजशास्त्रियों के विचारों से भी हम अवगत हुए।

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1. Dr. Radhe Kamal Mukherjee - Inter Caste Tension, Cate Tension Study P. 14.
2. Bryce Ryan - Quoted by Dr. N. Saxena p. 95.
3. Sharma, K.L. - 'New Introduction' in Review of Caste in India by J.

Mundock p. xxv.

4. Kothari Rajini (ed.) . Caste in Indian Politics, Orient Longman Delhi (1970) reprinted 1973.

5. Atal Yogesh, The Changing Frontiers of Caste, National Publishing House, Delhi 1968.

6. Narmadeshwar Prasad, The Mythe of the Caste System Patna, 1956.

7. Singh Yogendra - Modernisation of Indian Tradition, Thomson Press, New Delhi, 1973.

8. Srinivas, M.N. – Caste in Modern India, Asia Publishing House, Bombay, 1962, p. 70.

12.9 प्रश्नोत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न –

प्र. 1 वर्ण और जाति के मध्य अंतर स्पष्ट करें?

प्र. 2 जाति और उपजाति का सह सम्बन्ध स्पष्ट करें?

प्र. 3 जाति और वर्ग के मध्य अन्तर को संक्षेप में लिखें?

प्र. 4 क्या जाति वर्ग में रूपान्तरित हो रही है? संक्षेप में उल्लेख करें?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न –

प्र. 1 वर्ण और जाति को अलग अलग परिभाषित कर जाति और वर्ण में अंतर स्पष्ट करें?

प्र. 2 जाति व उपजाति के सहसम्बन्ध व अंतर को स्पष्ट करें?

प्र. 3 जाति में होने वाले अभिनव परिवर्तनों की विवेचना कीजिए? क्या यह वर्ग व्यवस्था में रूपान्तरित हो रही है?

प्र. 4 जाति और वर्ग के मध्य अर्न्तक्रियात्मक स्वरूप की विवेचना करें?

बहु विकल्पीय प्रश्न –

प्र. 1 "जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र होता है, बाद में अपने कर्मों केअनुसार ही वह एक विशेष वर्ण की सदस्यता प्राप्त करता है"। यह कथन किसका है?

अ. महात्मा गांधी ब. डा. घुरिये स. डा. राधाकृष्णन

द. डा. योगेन्द्र सिंह ।

उ. 1 (स)

प्र. 2 जाति जन्म आधारित है जबकि वर्ण -

अ. गुण ब. कर्म स. उपरोक्त दोनो ही द. दोनों में से कोई नही

उ. 2 (स)

प्र. 3 उपजाति को मुख्य जाति से अपनी प्रस्थिति को उठाने के लिए टूटने का परिणाम किस समाजशास्त्री ने माना?

अ. रिजले ब. हट्टन स. मजूमदार द. उपरोक्त चारों

उ. (द)

प्र. 4 ब्राइस रेन के अनुसार जाति व्यवस्था का क्या आधार रहा है?

अ. सांस्कृतिक भिन्नता ब. व्यावसायिक भिन्नता

स. पारम्परिक भिन्नता द. राजनीतिक भिन्नता

उ. (अ)

NOTES

खण्ड

4

इस्लाम एवं ईसाईयत तथा सुधार सम्बन्धी आन्दोलन

इकाई 13

इस्लाम का प्रभाव तथा पारस्परिकता

इकाई 14

ईसाईयत का प्रभाव तथा पारस्परिकता

इकाई 15

सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

इकाई 16

सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

संदर्भ ग्रन्थ सूची

NMDC-102

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो के.पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.एन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ल, कुलसचिव	सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो० सी.एस. एस. ठाकुर आचार्य एवं अध्यक्ष, समाज शास्त्र विभाग रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर	विषय विशेषज्ञ
प्रो. जयकान्त तिवारी आचार्य समाजशास्त्र विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	विषय विशेषज्ञ
डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव रीडर, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
प्रो. वी. के. पंत सेवा निवृत्त आचार्य एवं अध्यक्ष , समाज शास्त्र विभाग (कुमायुँ विश्वविद्यालय, नैनीताल) लखनऊ	सम्पादक

MASY-104 : – *भारतीय समाज : निरन्तरता एवं परिवर्तन*

लेखक मण्डल :

खण्ड एक :	**डॉ. जे. पी. मिश्र,** जे. एन. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
	डॉ. ए. एस. तिवारी, सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
खण्ड दो :	**डॉ. रश्मि त्रिवेदी,** रीडर, आर.बी.डी. स्नातकोत्तर महिला विद्यालय, बिजनौर	1 इकाई
	डॉ. ए. एस. तिवारी, सेवानिवृत्त रीडर, लखनऊ	2 इकाई
	डॉ. ए. के. सिंह, डी.ए.वी.पी.जी.कालेज, कानपुर	1 इकाई
खण्ड तीन :	**डॉ. अंशु केडिया,** ए.पी.सेन मेमो.पी.जी.कालेज, लखनऊ	4 इकाई
खण्ड चार :	**डॉ. अमरेश चन्द्र शुक्ला,** सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. रश्मि त्रिवेदी, रीडर, आर.बी.डी.स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिजनौर	3 इकाई
खण्ड पाँच :	**डॉ. ए. एस.तिवारी,** सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. डी.पी.बाजपेयी, सेवानिवृत आचार्य, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. जे.पी.मिश्र, जे.एन. स्नातकोत्तर महा. विद्यालय, लखनऊ	2 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

खण्ड - 4 : खण्ड परिचय - इस्लाम एवं ईसाइयत तथा सुधार सम्बन्धी आन्दोलन

इस खण्ड में इस्लाम एवं ईसाई धर्म के सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों का परिचय दिया गया है। पहली इकाई का शीर्षक है ''इस्लाम का प्रभाव तथा पारस्परिकता''। इसमें इस्लाम पंथ के प्रमुख तत्वों को स्पष्ट किया गया है। भारतीय जनजीवन पर इस्लाम के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है। इकाई दो का शीर्षक है ''ईसाइयत का प्रभाव तथा पारस्परिकता''। इस ईकाई में ईसाई धर्म की अवधारणाओं को स्पष्ट किया गया है। भारतीय समाज पर ईसाइयत के प्रभाव की विवेचना की गई है। ईकाई तीन का शीर्षक है ''सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव''। इसमें समाज सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलनों के अवधारणात्मक स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। भारत के प्रमुख सुधारवादी आन्दोलनों एवं समाज पर पड़ने वाले प्रभावों का उल्लेख किया गया है। ईकाई चार का शीर्षक है ''सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव''। इसमें सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए भारत के प्रमुख समाज सुधार आन्दोलनों के प्रभाव की विवेचना की गई है।

NMDC-102

इकाई 13 इस्लाम का प्रभाव तथा पारस्परिकता

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 विषय परिचय

13.2 इस्लाम ग्रन्थ

13.3 धार्मिक जीवन पर प्रभाव

13.4 जाति व्यवस्था पर प्रभाव

13.5 सामाजिक संरचना पर प्रभाव

13.6 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

13.7 संस्कृति पर प्रभाव

13.8 भाषा, संगीत और कला पर प्रभाव

13.9 भारतीय मुसलमानों पर पारस्परिक प्रभाव

13.10 सार संक्षेप

13.11 उपयोगी पुस्तकें तथा सन्दर्भ

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

* इस्लाम पंथ के प्रमुख तत्वों के विषय में जान सकेंगे।
* भारत में धार्मिक जीवन पर प्रभाव, जाति व्यवस्था पर प्रभाव, सामाजिक संरचना पर प्रभाव, आर्थिक जीवन पर प्रभाव, संस्कृति पर प्रभाव, और भाषा, संगीत और कला पर प्रभाव का वर्णन कर सकेंगे।
* भारतीय मुसलमानों पर पारस्परिक प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।

13.1 विषय परिचय

समाजशास्त्रीय दृष्टि से विभिन्न संस्कृतियों का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण होता है। इसके द्वारा उस समाज की व्यवस्था और जनजीवन के विषय में रोचक जानकारी प्राप्त होती है। जिसकी कि वह संस्कृति है। दूसरे देशों को जीतने और अपना पंथ और अपनी संस्कृति के प्रसार के उद्देश्य से अनेक योद्धा विभिन्न क्षेत्रों पर आक्रमण किया करते थे। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि योद्धा की नीतियाँ और व्यवहार उसके अपने पंथ के सिद्धान्तों से मेल खाते हों यह आवश्यक नहीं है।

NMDC-102

शहाबुद्दीन गोरी ने बारहवीं शताब्दी में भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना किया। इस्लाम पंथ का जन्म 7वीं शताब्दी में हुआ था। इसके पैगम्बर मुहम्मद साहब हुये। एक पंथ के रूप में यह धीरे-धीरे फैल रहा था। किन्तु मुस्लिम योद्धाओं ने नये-नये क्षेत्रों पर आक्रमण और विजय प्राप्ति के द्वारा पराजित देशों पर इस्लाम पंथ आरोपित करने का कार्य किया जिसमें कभी-कभी बल प्रयोग और प्रोत्साहनों का प्रयोग भी किया गया। इसका आधार शासक के अपने विचार ज्यादा होते थे। जिन्हें पंथ के प्रसार के बहाने लागू किया जाता था।

भारतीय समाज पर मुस्लिम शासकों की नीतियों, इस्लाम पंथ के सिद्धान्तों तथा धर्म प्रचारकों एवं सूफी संतों का जो प्रभाव पड़ा उसका अध्ययन हमारे वर्तमान समाज और संस्कृति के विकास की पृष्ठभूमि को समझने और विश्लेषण करने के लिये महत्वपूर्ण हैं। अत: यह इकाई उक्त जानकारियों को प्रस्तुत करने की दृष्टि से लिखी गयी है।

13.2 इस्लाम पंथ

इस्लाम एक एकेश्वरवादी पंथ है जिसे 7वीं शताब्दी में पैगम्बर मुहम्मद साहब ने अरबिया में प्रारम्भ किया था। उन्होंने सबसे पहले मक्का और मदीना व्यापारिक नगरों में इसका प्रचार किया तदुपरान्त पड़ोस की अन्य जनजातीय जनों को इसमें शामिल किया गया। इस्लाम का प्रमुख सिद्धान्त अल्लाह के प्रति समर्पण है। इसका प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ कुरान है। इस्लाम की धार्मिक संहिताओं में कुरान का फातिहा, जिसमें मुहम्मद साहब के कलमा संकलित हैं; सुन्नाह जिसमें मुहम्मद साहब की जीवन और परम्परायें हैं, हदीस, जिसमें मुहम्मद साहब द्वारा मुस्लिमों के लिये बताए गए नियम और सिद्धान्त हैं तथा इज्मा, जो मुस्लिमों के धार्मिक नेताओं द्वारा बताये गये नियम हैं।

इस्लाम पंथ के अनुयायियों के लिये 5 मुख्य नियमों का पालन बताया गया है जो निम्नांकित है :—

1. कलमा पढ़ना—ईश्वर एक है और मुहम्मद साहब उसके पैगम्बर हैं। एक ईश्वर की पूजा की जानी चाहिये।
2. नमाज़—दिन भर में पांच बार ईश्वर से प्रार्थना करना।
3. रोज़ा—रमजान का माह जब कुरान का अवतरण हुआ था, तें रोजा (उपवास) रखना।
4. ज़कात—वार्षिक आय का 1/40 भाग दान में देना।
5. हज—जीवन में कम से कम एक बार मक्का तीर्थ की यात्रा करना।

कुछ लोग जिहाद (धर्मयुद्ध) को भी धार्मिक नियम का दर्जा देते हैं जिसका संदर्भ आत्मोन्नति की प्रक्रिया के रूप में आता है। न कि युद्ध के रूप में। इस्लाम पंथ में ब्याज पर धन बांटना, चार से अधिक पत्नियाँ रखना तथा मद्यपान करना आदि का निषेध किया गया है।

इस्लाम पंथ की विशेषताओं में एकेश्वरवाद, मानवों की सामाजिक आर्थिक, लैंगिक समानता, मानव का सम्मान, न्याय, विश्व भ्रातृत्व आदि प्रसिद्ध है।

13.3 धार्मिक जीवन पर प्रभाव

इस्लाम का प्रभाव भारत में सन् 1193 में प्रारम्भ हुआ जब शहाबुद्दीन गोरी ने भारत में सर्वप्रथम मुस्लिम राज्य स्थापित किया। 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अलाउद्दीन खिलजी ने हिन्दू संस्कृति के प्रति आक्रामक रवैया अपनाया। फीरोज शाह तुगलक तथा सिकन्दर लोदी भी धर्मान्ध शासक बने रहे। इन्होंने हिन्दू उपासना, मन्दिर निर्माण/जीर्णोद्धार आदि का विरोध किया। मंदिरों को गिराना और उसके स्थान पर मस्जिद बनवाने का कार्य राज्य की ओर से होने लगा। हिन्दुओं को इस्लाम पंथ स्वीकार करवाने के लिये दण्ड और प्रोत्साहन के तरीके अपनाये गये। हिन्दुओं पर जजिया नामक धार्मिक टैक्स लगाया गया। उन हिन्दुओं को जो कलमा पढ़ते थे और इस्लाम स्वीकार करते थे उन्हें इस कर से मुक्त कर दिया जाता था। बलात धर्मान्तरण की प्रतिक्रिया स्वरूप धार्मिक संघर्ष और हिन्दू कट्टरता को बल मिला।

हिन्दुओं में आडम्बर, कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास, देवी देवताओं की पूजा प्रचलित थी। जिन पर प्रश्नचिन्ह लगने लगे। सूफी सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्त हिन्दुओं में काफी लोकप्रिय हुये। सूफियों के ये सिद्धान्त कि केवल ईश्वर का ही एक अस्तित्व है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसकी अभिव्यक्ति है (बहदत-अल-वजूद) तथा सभी शान्ति से रहे (सुलह-ए-कुल), मानव-मानव के बीच की सब प्रकार के भेद और दूरी समाप्त कर देते हैं। इनसे आकर्षित होकर हिन्दुओं की निम्न जातियों के लोग इस्लाम पंथ अपनाने लगे। हिन्दू पंथ में सुधारवादी चिन्तन का उद्भव हुआ। वेदान्त का अद्वैतवादी दर्शन तथा निर्गुण और सगुण भक्ति आन्दोलन इसी के परिणाम माने जाते हैं। रामानुजाचार्य, निम्बकाचार्य, माधवाचार्य, रामानन्द, कबीर, वल्लभाचार्य, गुरुनानक, सूरदास, मीराबाई, चैतन्यमहाप्रभु, तुलसीदास, दादू दयाल, रविदास, आदि सन्त भक्ति का प्रचार-प्रसार करने लगे। शूद्रो और अछूतों के प्रति उच्च जातियों का दृष्टिकोण बदला। स्वामी रामानन्द ने निम्न जातियों में से शिष्य बनाए जो कि प्राचीन परम्परा से भिन्न परम्परा का प्रारम्भ कहा जायेगा। इनमें धना (जाट), सेना (नाई), रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने पद्मावती तथा सुरसीर नामक महिलाओं को भी शिष्य बनाया था।

13.4 जाति व्यवस्था पर प्रभाव

सल्तनत शासनकाल में भारत में वर्ण व्यवस्था का स्थान जाति व्यवस्था ने ले लिया। जातियाँ पुनः उपजातियों में विभाजित होने लगी। शूद्रों में एक नाई उपजाति अस्पृश्यों की बन गयी। अनेक वर्ण संकर जातियाँ बन गयीं जिन्हें जाति व्यवस्था में समायोजित किया गया था।

इस्लाम पंथ की श्रेणीविहीन सामाजिक व्यवस्था के सिद्धान्त ने हिन्दू जाति व्यवस्था को गहराई से प्रभावित किया। मुसलमान समाज सुधारकों ने जन्म आधारित जाति की अवधारणा का विरोध किया। हिन्दुओं में उन जातियों के लोग जो जाति व्यवस्था में निम्न श्रेणी क्रम में आते थे, उक्त व्यवस्था से असंतुष्ट रहते थे। उन्होंने अपनी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति को सुधारने के लिये मुस्लिम संस्कार और उत्सवों को अपना लिया यद्यपि यह प्रभाव

प्राय: नगरीय क्षेत्रों में सीमित रहा। कायस्थ, खत्री और क्षत्रिय जातियों ने इस्लाम से निकटता रखने का रूख अपनाया किन्तु ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता सुरक्षित रखने की दृष्टि से उनसे दूर बने रहे। वैश्यों ने भी दूरी बनाये रखा।

धीरे-धीरे ब्राह्मणों का महत्व घटने लगा। बदलती हुई स्थिति में समायोजन करने के उद्देश्य से शूद्रों के प्रति अपने दृष्टिकोण और व्यवहार को उन्होंने नरम किया। शूद्रों ने व्यापार का कार्य भी शुरु कर दिया। स्वच्छ और प्रतिष्ठित शूद्रों का भोजन उच्च जातियों के लोग स्वीकार करने लगे।

13.5 सामाजिक संरचना पर प्रभाव

स्त्रियों की असुरक्षित स्थिति को देखते हुये उनकी घरों में बाहर आने-जाने की आजादी समाप्त कर दी गयी। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने पर पाबंदी लगा दी गयी। केवल कुछ प्रतिष्ठित परिवारों में घर पर ही उन्हें शिक्षा दी जाती थी।

इस स्थिति में संयुक्त परिवार के मुखिया की जिम्मेदारियाँ बढ़ गयी और उनमें विविधता भी आई। परिवार के समस्त सदस्यों के जीवन को खुशहाल बनाने के लिये मुखिया को कठिन अनुशासन और नियंत्रण की नीति अपनानी पड़ी। उन्हें अपनी पुत्रियों की आबरु और पवित्रत बचाना आवश्यक हो गया। इस कारण कम उम्र में विवाह को एक सरल उपाय के रूप में अपनाया गया और इसे शास्त्र सम्मत सिद्ध करने के उद्देश्य से पुराणों आदि से उद्धरण भी प्रयोग किये जाने लगे।

विधवा स्त्रियों की इज्जत की रक्षा करना भी एक सामाजिक समस्या बन गई थी। इसे हल करने के लिये सती प्रथा प्रचलित हुई। विधवा को अपने पति की चिता पर साथ ही जल जाना धर्मसम्मत माना जाने लगा। परिवार और गांव के लोग गाते-बजाते समारोह पूर्वक इस कार्य को सम्पादित करवाते थे। यहां तक कि स्त्री की इच्छा न होने अथवा विरोध में होने पर उसे बलात पति की चिता पर चढ़ा दिया जाता था। सती को महिमा मंडित करके उसे एक धार्मिक कर्मकाण्ड बना दिया गया था।

युद्ध के दौरान राजाओं और सामन्तों की स्त्रियों को अपनी इज्जत बचाना आवश्यक हो गया था, क्योंकि आक्रांता की गिद्धदृष्टि उन पर रहती थी। ऐसी स्त्रियों ने जौहर करके कुल के मर्यादा की रक्षा की। अनेक बार आक्रमण करने का कारण भी स्त्रियाँ ही होती थीं। स्त्रियों को विजेता लूट के माल की तरह साथ ले जाते थे और उनसे संतान उत्पन्न करके मुस्लिम जनसंख्या का विस्तार करते थे।

इस प्रसारवादी नीति का मुकाबला करने की दृष्टि से जो उपाय हिन्दूओं ने किये उनमें कुलीन विवाह और अन्तर्विवाह को गिनाया जा सकता है। इनके द्वारा रक्त की शुद्धता को बनाये रखने का कार्य किया गया। धीरे-धीरे इस नियम का दुरुपयोग भी होने लगा और कुलीन पुरुषों से विवाह करने के लिये अनेक अभिभावक अपनी पुत्रियाँ समर्पित कर देते थे। इस

पकार ऐसे पुरुषों की पत्नियों की संख्या असीमित हो जाती थी जबकि पत्नी की दशा दयनीय हो जाती थी।

प्रत्यक्ष न्याय प्रणाली लागू की गयी इस कारण ग्राम पंचायत कमजोर होती गयी।

परिणामस्वरूप ग्रामवासियों के जीवन और व्यवहार पर पंचायत का प्रभाव ढीला हो गया और सामाजिक नियंत्रण की यह व्यवस्था निष्क्रिय सी हो गयी। गांव की आत्मनिर्भरता में इसके द्वारा कमी आयी।

जनता को सार्वजनिक शिक्षा मुल्ला और काजी द्वारा अपने घरों पर दी जाती थी।

13.6 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

व्यक्ति का भूमि पर स्वतंत्र अधिकार समाप्त कर दिया गया और अस्थायी भूमि व्यवस्था लागू की गयी। जमींदार का नया वर्ग अस्तित्व में आ गया तो जमीन का टैक्स वसूल कर शासक को देने का कार्य करता था। वह मनमाने तरीके से तथा कभी-कभी बल का प्रयोग करके इस कार्य को करता था। जमींदारों के अत्याचार गरीब किसानों को सहन करना पड़ता था। भूमि का उपयोग और फसल उगाने का लाभ किसान को न मिलकर जमींदार को मिलता था। प्राय: जमींदार किसानों से बेगार में कार्य करवाते थे अर्थात् काम की मजदूरी नहीं देते थे। इसे एक प्रकार से दास प्रथा का परिवर्तित स्वरूप कहा जा सकता है।

इस शासनकाल में कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन मिला। हथकरघे द्वारा वस्त्रों का निर्माण और उनकी छपाई के कार्य का विकास हुआ। कागज बनाने का कार्य और उसके उपयोग में वृद्धि हुयी। बर्तन निर्माण की नयी कला का विकास हुआ। हाथों की कुशलता से तैयार होने वाले उत्पाद अधिक होते थे। शिल्पकला में कुशलता का विकास हुआ। अनेक प्रकार की कारीगरी की विधाओं का आविष्कार और विकास हुआ। भवनों और इमारतों में पच्चीकारी द्वारा बेलबूटों का निर्माण करने की कुशलता में वृद्धि हुयी।

13.7 संस्कृति पर प्रभाव

इस्लामी शासकों के सम्पर्क में प्राय: नगरीय क्षेत्र ही आये अतएव उसका प्रभाव भी नगरीय संस्कृति पर हुआ। मुसलमानों में प्रचलित पर्दा प्रथा को हिन्दू स्त्रियों में भी प्रचलित कर दिया गया ताकि उनके सम्मान की रक्षा हो सके। दोनों संस्कृतियों के बीच निकटता प्रदर्शित करने का यह एक तरीका भी था।

वस्त्र और वेशभूषा में व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। सामान्य जन की वेशभूषा में साफा, अंगरखा, जैकेट, कमीज, पैजामा, अचकन और लुंगी का प्रचलन हुआ। महिलाओं में जम्पर, घाघरा और दुपट्टा अपनाया जाने लगा। इसी प्रकार प्रतिष्ठित परिवारों में शेरवानी चूड़ीदार पैजामा, मलमल का कुर्ता, कूला टोपी, सोने-चांदी के काम वाली पोशाकें, चूड़ीदार पैजामा, शलवार आदि प्रयोग में शामिल हुये। दूल्हे की वेशभूषा में कामदार अचकन, चूड़ीदार पैजामा,

साफा, लम्बा कुर्ता, तंग पैजामा, कमीज, टोपी तथा फूलों का सेहरा आदि अपनाये जाने लगे।

खानपान और पकवान की आदतों में मांसाहारी भोजन तथा पकवान का प्रचलन बढ़ा। भोजन में स्वाद को महत्व दिया जाने लगा और अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन तैयार किये जाने लगे।

आचरण और शिष्टाचार के क्षेत्र में विशेष प्रभाव के रूप में सम्मान देना तथा मुहावरे दार बातचीत की शैली को गिनाया जा सकता है। यद्यपि इस्लाम पंथ में चित्रकारी को अच्छा नहीं माना गया है किन्तु इस क्षेत्र में भी विकास कम नहीं हुआ। तुर्की तथा ईरानी तूराचड शैली के चित्रों को प्रोत्साहन मिला। इस शैली में राम और कृष्ण की लीलाओं का चित्रण अत्यन्त आकर्षक माना गया।

मनोरंजन के साधनों में संगीत, नृत्य, कला प्रदर्शनियों, नाटक, शतरंज, ताश, चौपड़ तथा पचीसी आदि का प्रचलन इस्लामी संस्कृति का प्रभाव कहा जा सकता है।

13.8 भाषा, संगीत और कला पर प्रभाव

संस्कृति और उर्दू के मिश्रण से खड़ी बोली का निर्माण हुआ जो कालान्तर में हिन्दी भाषा के रूप में विकसित हुयी। भाषा में अरबी, और फारसी शब्दों का प्रयोग होने लगा जो इस्लाम का प्रभाव कहा जायेगा। उर्दू गद्य लेखन भी इस का उदाहरण है।

संगीत के क्षेत्र में सितार वाद्य का निर्माण अमीर खुसरो की देन है। सूफी भक्ति में संगीत का विशेष महत्व देखा गया। इसी के प्रभाव से हिन्दुओं में भजन तथा कीर्तन पूजा शैलियों का विकास हुआ। शास्त्रीय तथा अर्द्धशास्त्रीय संगीत शैलियों में ठुमरी, दादरा, कव्वाली, गजल तथा खयाल गायकी का प्रचलन इसी का प्रभाव है जो आज भी पसन्द किया जाता है।

कला शैलियों की छाप स्थापत्य के क्षेत्र में विशेष दिखाई देता है। जसमें पतली मीनारें बनाना, तिपतिया महराब, डांटदार छत, अठपहली पृष्ठभूमि वाली इमारतें बनाने का प्रचलन हुआ। तुर्की शैली के गुम्बदों का प्रयोग अधिकतर इमारतों में किया जाने लगा।

13.9 भारतीय मुसलमानों पर पारस्परिक प्रभाव

इस्लाम पंथ में सभी मनुष्यों को एक समान माना गया है और इसीलिये उसमें जाति या वर्ग की संकल्पना नहीं पायी जाती। भारत के मुसलमानों में अधिक संख्या उनकी है जो पहले हिन्दू थे और धर्मान्तरण द्वारा इस्लाम पंथ में आ गये हैं। उन्होंने इस्लाम पंथ तो अपना लिया किन्तु वे जातीय श्रेष्ठता, रक्त की शुद्धता, अन्तर्विवाह आदि मान्यताओं को छोड़ नहीं पाये। अत: मुसलमानों में जातीय वर्णक्रम और ऊंच-नीच की मान्यतायें व्याप्त हो गयी।

पैगम्बर मोहम्मद के वंश से स्वयं को जोड़कर देखने के कारण अरब मूल के मुसलमान कुरैशी और सैयद सर्वोच्च स्थान पर माने गये। दूसरे क्रम पर ईरानी मुसलमान शिया और ईरानी का महत्व पाया जाता है। तुर्क, मंगोल, पठान तथा भारतीय मुसलमान क्रमश: तीसरे,

चौथे, पांचवें तथा छठें क्रम पर महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

भारतीय मुसलमानों में सैयद, मुगल (अशरफ/शरीफ), शेख और पठान को उच्च स्तर, मुस्लिम, राजपूत,त्यागी जाट आदि को मध्यम स्तर, तथा जुलाहा, दर्जी, कसाई, नाई, कबाड़िया, कुम्हार, मनिहार, धुनियां, फकीर, तेली, धोबी, घोसी, और लाल बेगी आदि को निम्न स्तर की जातियों के रूप में देखा जाता है। शादी तथा अन्य सम्बन्धों के निर्माण के लिये ये आधार बनाये जाते हैं। व्यवसायगत आधार भी श्रेष्ठता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये उपयोग में पाया जाता है। सर्वोच्च व्यवसाय योद्धाओं का माना जाता है। इनमें उच्चतम स्थान खान को और तत्पचात् क्रमश: मलिक, अमीर, सिपहसलार तथा सरे-खैल आते हैं। समाज में मध्यम प्रतिष्ठा लेखकों और विद्वानों को दी गयी जिसमें मौलवी, उलेमा (अध्यापक/काजी) आते हैं। निम्न स्तर के व्यवसायों में कारीगर, दूकानदार, मुंशी, छोटे व्यापारी, कलन्दर, फकीर, सूफी संत आदि को शामिल किया जाता है।

यद्यपि पशु पक्षियों के चित्र बनाना इस्लाम पंथ में निषिद्ध है तथापि मुगल शासकों ने चित्रकारों को संरक्षण दिया और विद्या को प्रोत्साहन प्रदान किया।

हिन्दुओं के प्रमुख त्योहार रामलीला, होली आदि भारतीय मुसलमानों में लोकप्रिय हैं और वे इनमें भाग लेते हैं। मुसलमान स्त्रियों की खुशहाली के लिये तथा शिक्षा और नौकरी के क्षेत्रों में प्रोत्साहन के लिये हिन्दू संस्कृति के साथ होने वाले सम्पर्क को एक प्रभावशाली कारक माना जाता है।

13.10 सार संक्षेप

जब कभी दो संस्कृतियों का मिलन होता है तब उनके बीच सांस्कृतिक तत्वों का आदान-प्रदान होता है। यह प्रक्रिया और गहरी छाप छोड़ती है जब सम्पर्क एक लम्बी अवधि तक बना रहे और इसमें शासकों का संरक्षण भी शामिल हो।

इस इकाई में हमने इस्लाम पंथ और मुस्लिम संस्कृति का भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन किया। इसमें इस्लाम पंथ के शुद्ध स्वरूप का वर्णन किया गया और इसके प्रचार-प्रसार के लिये मुस्लिम शासकों द्वारा अपनाये गये उपायों की चर्चा की गयी। धार्मिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा के दौरान हमने सूफी संतों की वाणी और मत का प्रभाव भी देखा। सदियों से भारत में प्रचलित जाति व्यवस्था के मूल आधार जन्म आधारित ऊंच-नीच की भावना में आने वाले अंतर की पहचानकी गयी। शासकीय तथा धर्म प्रचारकों की नीतियों से सामाजिक संरचना पर पड़ने वाले प्रभावों का हमें ज्ञान हुआ। आर्थिक जीवन तथा संस्कृति पर पड़ने वाले प्रभावों से हमारा परिचय हुआ। भाषा, संगीत और कला के क्षेत्र में पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन किया गया। पारस्परिक प्रभाव के रूप में इस्लाम पंथ के अनुयायियों भारतीय मुसलमानों पर भारतीय संस्कृति का क्या प्रभाव पड़ा इसे भी वर्णन किया गया।

NMI 102

13.11 उपयोगी पुस्तकें तथा सन्दर्भ

असगर अली इंजीनियर	:	इस्लाम एण्ड माडर्न एज
केनेथ डब्लू. मार्गन	:	दि स्ट्रेट पाथ : इस्लाम इन्टरप्रेटेड बाई मुस्लिम्स
अमीर अली	:	दि स्पिरिट ऑफ इस्लाम
रिबेन लेवी	:	दि सोशल स्ट्रक्चर ऑफ इस्लाम
डॉ० आई० एच० कुरेशी	:	ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दि सलतनत-ए-दिल्ली
अवध बिहारी पाण्डेय	:	पूर्व मध्यकालीन भारत
एम० डब्लू. मिर्जा	:	हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल
डॉ० ताराचन्द	:	इन्फ्लूएन्स ऑफ इस्लाम आन इंडियन कल्चर
लईक अहमद	:	भारतीय मध्यकालीन संस्कृति
रामकृष्ण भण्डारकर	:	धर्मों का इतिहास
विन्सेन्ट स्मिथ	:	अकबर दि ग्रेट मुगल
डॉ० पी० एन० चोपड़ा	:	सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ सोसायटी एण्ड कल्चर इन मुगल एज

13.12 सम्बन्धित प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इस्लाम पंथ का प्रतिपादन किस शताब्दी में हुआ?
   (अ) छठवीं शताब्दी
   (ब) सातवीं शताब्दी ( )
   (स) आठवीं शताब्दी
   (द) नौवीं शताब्दी
2. इस्लाम पंथ के पैगम्बर का क्या नाम है?
   (अ) फीरोज शाह तुगलक
   (ब) अलाउद्दीन खिलजी
   (स) मोहम्मद साहब ( )
   (द) सिकंदर लोदी
3. जजिया क्या है?
   (अ) एक संस्कार

(ब) एक शासक

(स) एक राज्य

(द) एक टैक्स ( )

4. इस्लाम पंथ का प्रमुख ग्रंथ जो अवतरित हुआ उसका क्या नाम है?

(अ) सुन्नाह

(ब) कुरान( )

(स) हदीस

(द) इज्मा

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. इस्लाम पंथ के पांच मुख्य नियम क्या हैं?
2. इस्लाम के प्रमुख सिद्धान्त क्या है?
3. उन इस्लामी शासकों के नाम बताइए जिन्होंने भारतीय समाज को प्रभावित किया?
4. सूफी इस्लाम और वेदान्त दर्शन में क्या संबंध है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. इस्लाम का भारतीयों के धार्मिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है? वर्णन करें।
2. भारतीय जाति व्यवस्था पर इस्लाम के प्रभावों की विवेचना कीजिए।
3. इस्लाम का भारतीय स्त्रियों की स्थिति पर क्या-क्या प्रभाव पड़ा? संक्षेप मे बताइये।
4. भारतीयों के संपर्क में आने के कारण मुस्लिम समाज और संस्कृति पर पड़ने वाले पारस्परिक प्रभावों का वर्णन कीजिए।

इकाई 14 ईसाइयत का प्रभाव तथा पारस्परिकता

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 ईसाइयत अर्थात् ईसाई सामाजिक व्यवस्था : अवधारणात्मक स्वरूप

14.3 ईसाईयों की भारत में रुचि एवं सांस्कृतिक प्रसार

14.4 ईसाइयत का भारतीय समाज पर प्रभाव

14.4.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव

14.4.2 सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव

14.4.3 धार्मिक जीवन पर प्रभाव

14.5 ईसाइयत पर भारतीय प्रभाव अर्थात् पारस्परिकता

14.6 सारांश

14.7 सन्दर्भ ब्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

14.8 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- ईसाइयत के अवधारणात्मक स्वरूप से परिचित हो सकेंगे,
- ईसाइयत के भारतीय समाज पर प्रभाव का उल्लेख कर सकेंगे।
- पारस्परिकता अर्थात् ईसाइयत पर भारतीय प्रभाव की विवेचना भी कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई ईसाई धर्म के भारतीय समाज पर प्रभाव तथा ईसाइयत पर भारतीय प्रभाव से सम्बन्धित हैं। इस इकाई के अन्तर्गत सर्वप्रथम ईसाई सामाजिक व्यवस्था के अवधारणात्मक स्वरूप से परिचित कराया गया है ताकि आप सम्पूर्ण विवेचना को सरलता के साथ समझ सकें। जैसा कि सर्वविदित ही है, एक ओर जहां ईसाइयत का भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों में गहरा प्रभाव पड़ा है, वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज ने भी ईसाइयत को काफी हद तक प्रभावित किया है। इस दृष्टि से इस इकाई में पारस्परिक प्रभाव सम्बन्धी सभी पक्षों की चर्चा की गयी है।

इस इकाई में हम आपको ईसाइयत के भारतीय समाज पर प्रभाव एवं पारस्परिकता से अवगत करा रहे हैं। इसको स्पष्ट करने के लिये हमने इस इकाई में अधिक से अधिक उदाहरण भी दिये हैं और आपके लिये यथा स्थान प्रश्न भी दिये हैं।

14.2 ईसाइयत अर्थात् ईसाई सामाजिक व्यवस्था : अवधारणात्मक स्वरूप

भारत विभिन्न धर्मों की रंग स्थली रहा है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में यद्यपि 'हिन्दू सामाजिक व्यवस्था' एवं 'इस्लाम सामाजिक व्यवस्था' का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, लेकिन इससे अन्य धर्मों और उनकी सामाजिक व्यवस्था का महत्व कम नहीं हो जाता। जनसंख्या के आंकड़ों के अनुसार यद्यपि भारत में ईसाइयों का प्रतिशत बहुत कम है, परन्तु फिर भी आधुनिकता, जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण एवं प्रगतिशील तथा आधुनिक विचारों के कारण ईसाई सामाजिक व्यवस्था का स्थान भारतीय समाज में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इतना ही नहीं ईसाई सामाजिक व्यवस्था के परिणामसवरूप भारतीय सामाजिक व्यवस्था में भी अनेक संरचनात्मक एवं संस्थात्मक परिवर्तन हुये हैं, जिनका विस्तृत उल्लेख प्रस्तुत इकाई में आगे किया गया है।

ईसाई सामाजिक व्यवस्था मूलत: ईसाई धर्म की देन है। ईसाई धर्म का प्रारम्भ 'पैलेस्टाइन' नामक स्थान से माना जाता है एवं इस धर्म के प्रवर्तक ईसा मसीह (Jesus Christ) माने जाते हैं। ईसाई धर्म मूलत: ईसा मसीह के प्रवचनों, उपदेशों, आदेशों और उनकी शिक्षाओं की देन है। जीसस ने ईश्वर की एकता और उसकी सर्व वत्सलता एवं निष्पक्षता को लोगों के सामने रखने और प्रेम, करुणा, मानव सेवा, अहिंसा, त्याग और परोपकार का सन्देश दिया। उन्होंने अपने धर्म के माध्यम से समस्त संसार, दु:खी और असहाय जनता के लिये नवीन आशा और जीवन का सन्देश दिया। उन्होंने घोषणा की "तुम गरीब धन्य हो, क्योंकि ईश्वर का राज्य तुम्हारा ही है। इस समय जो लाग भूखे हैं सो धन्य हैं क्योंकि भविंष्य में तुम्हीं को सन्तुष्टि मिलेगी। तुम रोने वाले धन्य हो, क्योंकि तुम्हीं तो हंसोगे। ईसा मसीह ने दु:खी और असहाय जनता को समझाया कि "सम्पदा में विश्वास करने वाले लोगों का ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाना बहुत कठिन है। सुई के छेद में ऊंट का प्रवेश पाना ईश्वर के राज्य में धनियों के प्रवेश पाने से कहीं अधिक सुगम है।" उन्होंने उपदेश दिया "अपने दुश्मनों को प्यार करो। जो तुमसे घृणा करते हैं उनसे तुम नम्रता का बर्ताव करो। जो तुम्हें अभिशाप देते हैं उन्हें तुम वरदान दो, और जो तुम्हें गाली देते हैं उनके लिये दुआएं करो। ... अपने को पहचानो और अपने शत्रुओं को भी प्यार करो, उन्हें सहायता दो। कभी निराश मत हो, तुम्हें इसका पुरस्कार अवश्य ही प्राप्त होगा।" ईसा मसीह के अनुसार "ईश्वर गरीब का है और वह उसी को प्यार करता है। ईश्वर धन और वेद देखकर पक्षपात नहीं करता। वह तो प्रेम का भूखा है। अत: सबसे प्रेम करो ..... सबके प्रति यह प्रेमभाव ही ईश्वर प्रेम में बदल जायेगा और तुम ईश्वर के राज्य में प्रवेश पाने

NMDG-102

के अधिकारी बन जाओंगे।'' (रवीन्द्रनाथ मुकर्जी : भारतीय समाज व संस्कृति, 1984, प० 440)

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसाई धर्म तार्किक ज्ञान,वैयक्तिक, स्वतन्त्रता, एकतावादी और बंधुत्व की भावना, प्रेम, त्याग, करुणा, मानवतावादी विचारधारा और ईश्वर में आस्थ आदि विशेषताओं से युक्त है। यद्यपि आधुनिक समाज में हमें ईसाई धर्म में दो प्रमुख सम्प्रदाय, कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेन्ट दिखाई देते हैं, परन्तु मूलत: यह विभाजन अनेक वैचारिक, संघर्षों एवं धर्म युद्धों के कारण हैं। वस्तुत: मूल में दोनों सम्प्रदायों को मानने वाले एक ही अलौकिक, रहस्यवादी और दिव्यशक्ति (ईसा मसीह) में विश्वास करते हैं। और दोनों सम्प्रदायों के सदस्यों की जीवन विधि एवं व्यवहार प्रतिमानों में भी इतनी अधिक समानता है कि उनमें कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती।

मूलत: ईसाई समाज भी हिन्दू समाज की भांति एक धर्म प्रधान समाज है। ईसाई लोग एक ईश्वर की अवधारणा में विश्वास करते हैं। यहां ईश्वर को एक सर्वशक्तिमान तथा ऐसे पुरुष के रूप में स्थापित किया जाता है जो पूरे विश्व के कष्टों का निवारण करता है। ईसाईयों का मानना है कि ईश्वर ने विश्व को सन्मार्ग पर ले जाने के लिये एक दूत ''ईसा मसीह को भेजा।'' ईसा मसीह को स्वयं ईश्वर न मानकर उन्हें ईश्वर का ''दूत'' या सन्देशवाहक माना गया। ईसाई लोग ईश्वर को निराकार मानते हैं।

ईश्वर में आस्था के साथ-साथ ईसाई लोग आत्मा के अस्तित्व एवं उसकी पवित्रता में विश्वास करते हैं। ईसाई धर्म में ''त्रियकवाद'' की विवेचना की गयी है जो ईश्वर, पवित्र आत्मा एवं ईसा मसीह से मिलकर बना है। ये तीनों परस्पर विपरीत न होकर एक ही शक्ति के विभिन्न प्रतिरूप हैं ईसाई लोग अपने जीवन में अनेक धार्मिक अनुष्ठानों को भी पूरा करते हैं। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म में मानवता, समानता एवं भ्रातृत्व का महत्वपूर्ण स्थान है। यह धर्म एवं इसके अनुयायी किसी प्रकार के वर्ग विभेद में विश्वास नहीं करते। ईसाई धर्म में सम्पूर्ण मानव जाति एवं सृष्टि के कल्याण की आकांक्षा की गयी है। ईसाई धर्मावलम्बी केवल अपने समाज के हित में कार्य नहीं करते बल्कि वे सम्पूर्ण सृष्टि के समस्त लोगों से प्यार करते हैं। ईसाई सामाजिक व्यवस्था में किसी प्रकार के वर्ग भेद का स्थान नहीं है। ईसाई सामाजिक व्यवस्था में विवाह को पवित्र माना गया है। उत्तर भारत संयुक्त चर्च के संविधान में कहा गया है कि ''विवाह एक पवित्र व्यवस्था है, जो ईश्वर द्वारा स्थापित है और इसीलिए यह अपने प्राकृतिक क्रम में विद्यमान है .... विवाह सम्बन्ध इस प्रकार ईसा और गिरिजाघर के अलौकिक सम्बन्धों का प्रतीक है।'' (डॉ० शर्मा, भारतीय समाज एवं संस्कृति, पृ० 468)

परिवार को भी ईसाई सामाजिक व्यवस्था में काफी महत्व दिया गया है। स्त्रियों की स्थिति काफी उच्च एवं सम्मानपूर्ण है ईसाई सामाजिक व्यवस्था अखण्ड एवं परिवर्तनशील नहीं रहती। भौतिक मूल्यों एवं स्वतन्त्रता की बढ़ती प्रवृत्ति के कारण परम्परागत ईसाई सामाजिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुये हैं। वर्तमान समय में ईसाई सामाजिक व्यवस्था में चर्च का स्थान कम हुआ है। ईसाई भी अन्य लोगों की तरह ही धर्म से हटते जा रहे हैं। विवाह

NMDC-102

विच्छेद का प्रारम्भ भी ईसाई सामाजिक व्यवस्था में हो गया है कानून ने भी विवाह विच्छेद को मान्यता प्रदान की है।

साथ ही अब यहां विधवा विवाह को भी मान्यता दी गयी है। जो परम्परागत ईसाई सामाजिक व्यवस्था में नहीं थी। स्वतन्त्रता के मूल्यों के कारण ईसाई सामाजिक व्यवस्था में रोमांस के प्रभावों में भी वृद्धि हुई है। इसी प्रकार वैवाहिक निषेधों में भी अब शिथिलता आ गयी है। अन्तर्जातीय एवं अन्तर्धार्मिक विवाह भी अब ईसाई समाज में होने लगे हैं। वैवाहिक निषेधों में भी अब शिथिलता आ गयी है इन सब कारणों से परम्परागत ईसाई सामाजिक व्यवस्था में अब अनेक परिवर्तन हो गये हैं। अत: ईसाई समाज भी अखण्ड एवं अपरिवर्तनशील न होकर गतिशील एवं परिवर्तनशील हैं तथा उसने अनेक नवीन मूल्यों को ग्रहण किया है एवं परम्परागत मूल्यों को छोड़ा है।

14.3 ईसाइयों की भारत में रुचि एवं सांस्कृतिक प्रसार

एशिया में यूरोपीय विस्तार के लिये मुस्लिम विरोधी पक्ष का स्थान यूरोप में कैथोलिक और प्रोटेस्टैण्ट शक्तियों की प्रतिस्पर्धा ने ले लिया। 1517 में जर्मनी में आरम्भ हुये "सुधारों से प्रेरित होकर हालैण्ड ने स्पने के अत्याचारों के विरुद्ध बगावत कर दी और 1579 में वह स्वतन्त्र हो गया। जल्दी ही इंग्लैण्ड भी उसमें शामिल हो गया और प्रोटेस्टेन्ट राष्ट्रों ने पोप के विरुद्ध अभियोजन शुरू कर दिया, जिन्होंने आधी दुनिया पर स्पेन और पुर्तगाल का अधिकार बना रखा था। पूर्व में व्यापारिक वरिष्ठता के लिये संघर्ष भी उनके धार्मिक विद्रोह का एक अंग था। एलिजाबेथ प्रथम के समय में अंग्रेजों का दुनिवावी दृष्टिकोण विस्तृत हो गया और स्पेनी आरमैडा पर विजय से व्यापारिक गतिविधियां बढ़ाने के लिये उनका आत्मविश्वास और भी बढ़ गया। अत: पूर्वी भारत में अत्यन्त लाभप्रद पुर्तगाली व्यापार को तोड़ने के लिये 1600 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुयी। पुर्तगालियों को जल्दी ही अपदस्थ कर दिया गया और लाभ एवं शक्ति की लालसा ने यूरोपीय धार्मिक प्रतिस्पर्द्धा को गौण बना दिया, वस्तुत: अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य एक धार्मिक प्रतिस्पर्धा ने राजनीतिक एवं आर्थिक संघर्ष का रूप ले लिया था।

मुगल सत्ता की समाप्ति के बाद राजनीतिक उथल-पुथल का लम्बा सिलसिला चला। बौद्धिक जड़ता ही तत्कालीन भारतीय समाज का मुख्य लक्षण बन गयी और यह देश गड़बड़ी, अराजकता और किंकर्तव्यविमूढ़ता का शिकार हो गया। पुनर्जागृत यूरोप की तुलना में अट्ठारहवीं शताब्दी का भारत इतना कमजोर हो गया था कि यह अपनी स्थिति पर नियन्त्रण न रख सका। इतना भी न हो पाया कि भारतीय क्षेत्र में शक्ति के लिये संघर्ष करते हुये यूरोपीय देशों में से किसी एक का पक्ष लेकर यह स्थिति को अपने पक्ष में करता। इस संघर्ष में अन्ततोगत्वा अंग्रेजों को सफलता मिली, यद्यपि फ्रांसीसियों ने सबसे पहले भारतीय शासकों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक कई अन्य धर्म प्रचारकों ने भी व्यक्तिगत रूप से

भारतीय साहित्य, भाषा और तत्कालीन जीवन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर लिया था परन्तु भारतीय सभ्यता को समझने की दशा में कम ही लोगों ने प्रयास किया और उन्होंने भी भारतीय संस्कृति का ऊपरी ज्ञान ही प्राप्त किया, इसके मूल का अनुसंधान अथवा इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन नहीं किया।

उस समय भारत आने वाले यूरोपियनों का दल एक रंग बिरंगे झुण्ड के समान था जिसमें, व्यापारी, वैद्य, सन्देशवाहक, पुजारी, सिपाही, नाविक और अन्य भाग्य की तलाश में निकले सभी तरह के लोग थे। वे विभिन्न देशों से, विभिन्न मार्गों से, विविध उद्देश्यों से प्रेरित होकर आये थे, उनमें से कुछ लोग सरकी भी थे, जैसे टाम कोरियट अलेप्पो से पैदल चलकर अजमेर आया था। धन लाभ अथवा उत्साह से प्रेरित ये आरम्भिक यूरोपियन प्राय: अशिक्षित और भावों का आदान-प्रदान करने में अक्षम होते थे। अंग्रेज भी अपवाद नहीं थे। केवल व्यापार ही उनका उद्देश्य था और उसे प्राप्त करने के लिये वे यह आवश्यक नहीं समझते थे कि अपने ग्राहकों के विश्वासों में हिस्सा बटावें या उनकी संस्कृति को समझें परन्तु वे अपने को उनक अनुरूप बनाना जरूरी मानते थे। इसलिये उन्होंने भारतीयों की सी आदतें अपनाना शुरू किया, भारतीय भोजन कर लेते, यहां की लड़कियों से विवाह कर लेते और यहां के रीति-रिवाजों और विश्वासों तथा अधिकारियों के प्रति आदर प्रदर्शित करते। व्यापारी के रूप में उन्हें केवल पैसे से मतलब था, इसके लिये वे विवेक और नैतिकता को भी तिलांजलि दे देते थे और अध्यवसायी युवकों के लिये भारत सोने की चिड़िया था।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि प्राचीन यूरोपीय ईसाइयों में इस्लाम के विरुद्ध भावनायें भरी रहती थीं, परन्तु ये हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों जैसा दृष्टिकोण ही रखते थे सम्भवत: ऐसा इसलिये हुआ कि यहूदी परम्परा के कारण वे इस्लाम के बारे में बहुत कुछ जानते थे और कुछ इसलिये कि वे मुगल दरबारों की चकाचौंध से प्रभावित थे। वे हिन्दुओं को गिरा हुआ और अन्धविश्वासी समझते थे। उनकी इन धारणाओं को एबे ट्यूबोआ जैसे पादरियों की बातों से और भी अधिक बल मिलता था जो सदा हिन्दू धर्म में बुराइयां ही देखता था और उनको अपने धर्म में परिवर्तित करने के प्रयत्न करता रहता था।

कुछ दूसरे प्रबुद्ध फ्रांसीसी लेखकों को भी भारत के बारे में थोड़ी बहुत ही जानकारी थी। दिदेरो ने भारतीय धर्म और दर्शन पर विश्वकोश (1751) में कुछ लेख लिखे। 1770 में दिदेरो द होलबक एवं नाइगो की सहायता से एबे रायल ने फिलॉसॉफिकल एण्ड पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ द यूरोपियन्स इन द टु इण्डियाज प्रकाशित की।

सुप्रसिद्ध सर विलियम जोन्स (1746-1794) संस्कृत अध्ययन में अग्रणी था। यह सितम्बर, 1783 में कलकत्ता उच्च न्यायालय का उत्तरवर्ती न्यायाधीश बनकर भारत आया था। इससे पूर्व ही उसने एशियाई सिद्या में योग्यता प्राप्त कर ली थी, मुख्यत: अरबी और फारसी में भारतीय संस्कृति के विषय में तो वह आदर भावना लेकर ही आया था। उसने बड़े उत्साह से भारतीय सेवा में नियुक्ति करायी और बेचैनी तथा अनिश्चितता में पहले पांच वर्ष यहां बिताये। इसका एक कारण तो यह था कि वह बिना आर्थिक कठिनाई के शोध-कार्य जारी

NMDC-102

रखने के लिये पर्याप्त धन इकट्ठा करके समय से पूर्व सेना निवृत्त होना चाहता था, दूसरे वह अपने प्राच्य ज्ञान को विशिष्टता के शिखर पर पहुंचाने का इच्छुक था। यद्यपि उसकी मृत्यु असमय में ही हो गयी थी परन्तु मृत्यु पर्यन्त वह रहा भारत में ही। अपनी प्रकृति से वह एक खुशमिजाज व्यक्ति था परन्तु सन्तोष की जो प्रतीति उसके अपने दस वर्षीय भारत प्रवास में हुयी वह इंग्लैण्ड में कभी न हो सकी।

वह भारतीय विचारधारा और संस्कृति की प्रशंसा करता हुआ कभी नहीं थकता था वह कहता है, अपने आपको ऐसे उदात्त वातावरण में पाकर मुझे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति हुयी है जो दूर-दूर तक एशियाई क्षेत्रों से घिरा हुआ है जिसको विज्ञान की धात्री होने का सम्मान प्राप्त है, जिसने गौरवपूर्ण कार्यों के दृश्य उपस्थित किये हैं, जो मानवीय प्रतिभा का उर्वर उत्पत्ति स्थान है, जो आश्चर्यजनक प्राकृतिक विचित्रताओं से भरा पड़ा है और जो धर्म, प्रशासन, शास्त्रीय नियमों, शिष्टाचार, रीति-रिवाजों, विविध भाषाओं तथा मनुष्यों के विविध वर्णों का अटूट भण्डार है। ऐसे समय में भी जब हिन्दुत्व उतार पर था और लोगो में इसको अवमानित करना एक फैशन ही बन गया था, वह इस धर्म को बहुत महत्व देता था। जोन्स यद्यपि ईसा और ईसाई मत पर श्रद्धा रखता था परन्तु शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित, हिन्दू सिद्धान्तों, ब्रह्म के अद्वैत और आत्मा के पुनर्जन्म के प्रति आकृष्ट था। उसकी दृष्टि में यह सिद्धान्त ईसाई मत के दुःख और अन्तिम दण्ड विधान की अपेक्षा अधिक युक्ति संगत था। जब उसको भारत में रहते तीन वर्ष हो गये, तो 1787 में उसने अपने भूतपूर्व शिष्य और निकटतम मित्र अर्ल स्पेन्सर को लिखा—''मैं हिन्दू नहीं हूँ, परन्तु हिन्दुओं के इस सिद्धान्त को मानता हूँ कि भविष्य में अब से अच्छे एक अतुलनीय विवेकपूर्ण, पवित्र और मनुष्यों को पापमुक्त करने वाले युग का समारम्भ होगा, जो अवश्य ही अन्तहीन दण्ड व्यवस्था की भयावह आशंकाओं से श्रेष्ठ है। (ए० जे० आरबेरी, ओरिएण्टल एसेज, 63 में उद्धृत)।

1792 में जोन्स ने जयदेव के 'गीत गोविन्द' का अनुवाद करके कलकत्ता में प्रकाशित किया, और कालिदास के 'ऋतुसंहार' के मूलपाठ को भी प्रकाशित किया जो प्रथम मुद्रित पुस्तक है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण था 'मनुस्मृति' का अनुवाद जो उसकी मृत्यु के बाद 'इंस्टीट्यूट ऑफ हिन्दू लॉ' या 'आर्डिनेन्स ऑफ मनु' नाम से 1794 में प्रकाशित हुआ। प्रायः इसी समय एनक्वेति द्यु पेरों (1731-1805) भारत आया और 1786 में मुगल शाहजाद दाराशिकोह के लिये फारसी में अनुदित उपनिषदों के आधार पर उसने उनका प्रथम यूरोपीय अनुवाद लैटिन भाषा में किया।

उपनिषदों के इस अनुवाद का यूरोप वालों पर जो बहुत गहरा प्रभाव पड़ा वह एक संयोग मात्र था। विल्किन्स द्वारा भगवद्गीता और द्यु पेरों के द्वारा उपनिषदों के अनुवाद ऑपनिखेत से पाश्चात्य विचारकों को भारतीय दर्शन के मूल ग्रन्थों के पाठ उपलब्ध हो गये। द्यु पेरों संस्कृत नहीं जानता था, परन्तु उसका अशुद्ध अनुवाद भी यूरोपीय साहित्य के लिये एक महत्वपूर्ण देन सिद्ध हुआ। दूसरी ओर जर्मन दार्शनिक शेलिंग का और फिर शॉपेनहॉवर का भी ध्यान आकर्षित हुआ, जिसने 1813 में इसकी प्रशंसा में कहा, यह मानव की उच्चतम बुद्धि का

NMDC-102

प्राकट्य है' और उसने इस औपनिषदिक आदर्श वाक्य को ग्रहण किया—'ब्रह्मविद् ब्रह्मवै भवति' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही बन जाता है। (दामोदर सिंहल, आधुनिक भारतीय और संस्कृति पृष्ठ 47-64)।

14.4 ईसाइयत का भारतीय समाज पर प्रभाव

भारतीय समाज की कहानी अविच्छिन्नता, संश्लेषण और समृद्धि की कहानी है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर ईसाई सामाजिक व्यवस्था का अत्यन्त गहन प्रभाव पड़ा है। यद्यपिं यह प्रभाव दोहरा है—अर्थात् भारतीय समाज ने भी ईसाई समाज को काफी प्रभावित किया है लेकिन फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर ईसाई सामाजिक व्यवस्था के प्रभाव बहुत अधिक हैं। ईसाई सामाजिक व्यवस्था ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के संरचनात्मक एवं संस्थापक दोनों ही पक्षों को अत्यन्त प्रभावित किया है। ईसाई सामाजिक व्यवस्था मूलत: शिक्षा, ज्ञान, आदेशों आदि में पश्चिमी संस्कृति का अनुकरण करती है। व्यक्तिवादिता, समानता, मातृत्व, बंधुत्व, प्रेम, करुणा, स्वतन्त्रता, मानवीय मूल्यों आदि विशेषताओं से युक्त ईसाई समाज ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था के परम्परागत स्वरूपों को परिवर्तित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेजी शासन के दौरान राजनीतिक संघर्ष के कारण भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर ईसाई सामाजिक व्यवस्था का उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना कि हमारे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद पड़ा। ईसाइयत ने भारतीय समाज को निम्न प्रकार से प्रभावित किया—

14.4.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव—ईसाई धर्म ने भारतीय सामाजिक जीवन एवं संस्थाओं को बहुत अधिक प्रभावित किया है। प्राथमिकता के तौर पर यदि देखा जाये तो ईसाइयत ने सबसे करारा प्रहार भारत की जाति व्यवस्था पर किया, परिणामस्वरूप जातीय बन्धन काफी शिथिल हुये, अस्पृश्यता की भावना में कमी आयी, सामाजिक एवं धार्मिक निर्योग्यताओं में परिवर्तन हुआ, जातीय आधार पर पेशों के निर्धारण में परिवर्तन हुआ, उच्चता अद्यमता की भावना में परिवर्तन हुआ खान-पान सम्बन्धी निषेध शिथिल हुये, जातीय संस्तरण में परिवर्तन दिखाई देने लगा तथा वैवाहिक नियमों एवं प्रतिबन्धों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। जाति व्यवस्था के संरचनात्मक एवं प्रकार्यात्मक पहलू में होने वाले इन समस्त परिवर्तनों का श्रेय ईसाइयत को ही है।

ईसाइयत के प्रभाव के कारण ही भारत की संयुक्त परिवार प्रथा भी एक बहुत बड़ी त्रासदी से होकर गुजरी है वैयक्तिक स्वतन्त्र तथा वैयक्तिक सम्पत्ति के प्रभाव से संयुक्त परिवारों में विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी। ईसाई सामाजिक व्यवस्था में परिवारों का स्वरूप संयुक्त न होकर एकाकी है। संयुक्त सम्पत्ति एवं घरेलू झगड़ों की वजह से युवा लोग एकाकी परिवारों की ओर आकर्षित होने लगे और इस प्रकार संयुक्त परिवार विघटित होने लगे।

भारतीय व्यवस्था में परम्परागत रूप से बाल विवाह, अन्तर्विवाह, कुलीन विवाह, आदि की

जो प्रथा थी, ईसाइयत के प्रभाव से इसमें काफी परिवर्तन आये हैं। आज भारतीय सामाजिक व्यवस्था में परम्परागत विवाह की आयु में काफी वृद्धि हुयी है। विवाह संस्था के उद्देश्यों, कर्मकाण्डों, रीति रिवाजों एवं प्रथाओं में भी अनेक परिवर्तन ईसाइयत के कारण ही उत्पन्न हुये हैं। सह शिक्षा, स्त्री पुरुषों की समानता, स्वतन्त्रता, साथ-साथ कार्य करना एवं रोमांस आदि के कारण परम्परागत विवाहों के स्वरूपों में काफी परिवर्तन आया है।

परम्परागत भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। इसके विपरीत ईसाई धर्म स्त्रियों को पुरुषों के समान स्वतन्त्रता एवं अधिकार देता है। इस प्रकार एक ओर जहां स्वतन्त्रता व सभ्यता ने भारतीय समाज की स्त्रियों को आकर्षित किया, वहीं दूसरी ओर शिक्षा के प्रचार-प्रसार से स्त्रियां स्वयं भी जागरूक होने लगी। इस प्रकार ईसाई समाज के सम्पर्क से भारतीय स्त्रियों की परम्परागत स्थिति में अनेक परिवर्तन आने लगे। स्त्री शिक्षा, उनके रहन-सहन, वेश-भूषा तथा उनके अधिकारों में विशेषत: जो परिवर्तन दिखाई देते हैं वे मूलत: ईसाई समाज द्वारा ही लाये गये हैं। लूनिया ने लिखा है कि "भारतीय स्त्रियों को धार्मिक और सामाजिक बेड़ियों से मुक्त करने और उनके उत्थान के प्रयत्न करने में ईसाइयत के प्रभाव ने अत्यधिक योग दिया। अखिल भारतीय महिला परिषद् की स्थापना हुयी। महिलाओं के उत्थान व प्रगति के लिये इसने देशव्यापी सफल आन्दोलन किया है। (बी० एन० लूनिया, उद्धृत एम० एस० जैन, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ० 298-99)

ईसाइयत ने अस्पृश्यता निवारण हेतु आवश्यक पृष्ठभूमि को तैयार किया जिसके परिणामस्वरूप आज देश से अस्पृश्यता का काफी सीमा तक निवारण हो गया हैं। ईसाइयत के स्वतन्त्रता एवं समानतवादी मूल्यों से प्रभावित होकर देश में एक तो सुधारवादी आन्दोलन की शुभारम्भ हुआ जिसने अस्पृश्यता निवारण हेतु प्रयास किये। दूसरे ईसाइयों की शिक्षा तथा मूल्यों ने देश में अस्पृश्यता विरोधी परिवेश तैयार किया। तीसरे, औद्योगीकरण, नगरीकरण, यातायात के साधनों तथा पश्चिमी संस्कृति आदि ने ऐसी स्थितियां उत्पन्न कर दीं जहां छुआ-छूत एवं ऊंच-नीच पर आधारित सम्बन्धों को बनाये रखना असम्भव हो गया। चौथे स्वतन्त्रता एवं समानता पर आधारित ईसाइयत (पाश्चात्य मूल्यों) से प्रेरित होकर ही स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अस्पृश्यता को अवैधानिक एवं दण्डनीय घोषित किया गया। इस प्रकार अस्पृश्यता निवारण में ईसाइयत का बहुत बड़ा योगदान रहा है।

इसी प्रकार वेशभूषा, खान पान, रीति रिवाज आदि को भी ईसाइयत ने काफी गहरे तक प्रभावित किया है।

14.1.2 सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव—ईसाइयत ने भारतीय सांस्कृतिक जीवन को भी विविध प्रकार से प्रभावित किया है। जैसा कि निम्न विवेचना से स्पष्ट है।

हमारे देश की शिक्षा पद्धति मूलत: वही है जो ब्रिटिश शासनकाल में लार्ड मैकाले द्वारा स्थापित की गयी थी। थोड़े बहुत परिवर्तनों एवं संशोधनों के साथ वही शिक्षा प्रणाली आज भी देश में लागू है। भारत में अंग्रेजों के शासन से पहले केवल उच्च जातियों के ही कुछ व्यक्ति सामान्य शिक्षा प्राप्त कर पाते थे। अंग्रेजों ने भारत में पहली बार एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था आरम्भ की,

NIOC-18

जो धर्म और जाति के भेद-भाव के बिना सभी लोगों के लिये सुलभ हो गयी। अब तक अध्ययन की सुविधा केवल ब्राह्मणों, शासकों अथवा अभिजात्य वर्गों तक ही सीमित थी परन्तु अब वह उन सभी को सुलभ हो गयी थी जो इसके लिये इच्छुक थे, छापाखानों की संख्या बढ़ने से पुस्तकों का खूब प्रचार हुआ और फलस्वरूप शिक्षा का भी। पाश्चात्य शिक्षा ने प्राचीन मान्यताओं और अन्धविश्वासों को भस्मीभूत कर दिया। भारतीय अपने विश्वासों और संस्थाओं के मूल पर पुनर्विचार करने तथा यूरोपीय स्तर से उनकी तुलना करने को बाध्य हुये। जहां यह नव-चिन्तन भारत के आधुनिकीकरण में सहायक हुआ वहाँ इसने मेकॉले जैसे विचारक भी उत्पन्न किये जो प्राच्य विद्या का अध्ययन किये बिना ही इसका विरोध करते थे। भारतीयों ने पाश्चात्य शिक्षा को इतनी लगन के साथ आँख मींचकर अपनाया कि उनमें से कितने ही नव शिक्षित तो उपहासास्पद रूप में नकलची बन गये। न वे पाश्चात्य विद्या का समीक्षात्मक अध्ययन करते थे, न अपनी विद्या को जानने का प्रयत्न करते थे। अंग्रेजी शिक्षा के कुछ परिणाम तो बहुत ही भद्दे निकले क्योंकि अपने स्पष्ट लक्षणों और अभिरुचियों से इसने एक प्रकार का भिन्न सांस्कृतिक दल पैदा कर दिया। यद्यपि अंग्रेजी पढ़े लोग देश में बहुत कम (1 प्रतिशत)ही थे परन्तु वे अपना एक वर्ग बना लेने के लिये पर्याप्त थे। ब्रिटिश सरकार से संरक्षित होने के कारण ऐसे लोग भारतीय जीवन की ऊपरी सतह पर छाने लगे। मालिकों और जनता के बीच मध्यम वर्ग बन गया। यह वर्ग प्राय: मालिकों के लिये जनता के विरुद्ध ढाल का काम करता था। किसान, मजदूर और छोटे व्यापारी अंग्रेजी नहीं बोलते थे परन्तु उनसे ऊपर के लोग क्लर्क से कॉंसिलर तब सब अंग्रेजी बोलते थे। वर्ग रक्षा की भावना से प्रेरित होकर पश्चिमी रंग में रंगा हुआ भारतीय आँख मींचकर पाश्चात्य भाषा, वेश और रहन-सहन को अपना लेता था और अपने ही लोगों में से 'अनपढ़ों' और 'असभ्यों' से दूर-दूर रहता था। उसमें अच्छी बात यह थी कि वह मेहनत करके एक सभ्य अंग्रेज सा बन गया था। दूसरा पक्ष यह था कि वह उपहास योग्य नहीं तो अस्पष्ट व्यक्ति अवश्य बन जाता था जो अंग्रेजी भोजन, संगीत और चित्रकला में रस लेने के बहाने करता और कभी-कभी अपनी मातृ-भाषा को भी अंग्रेजी लहजे में बोलता था। अंग्रेजी उपाधियों का दम्भपूर्ण प्रदर्शन इतना बढ़ गया कि जिनके पास कोई उपाधि होती वे उसका बड़े रौब से प्रदर्शन करते थे और जो परीक्षा में सफल न हो पाते वे यह जताने का प्रयत्न करते कि वे मंजिल तक पहुंच चुके थे। नतीजा यह हुआ कि केवल ऐसे ही लोग नहीं थे जो बी० ए० की उपाधि अर्जित करके अपने आपको बी० ए० पास कहते परन्तु ऐसे लोगों की भी कोई कमी नहीं थी जो बी० ए० परीक्षा पास न कर पाने पर अपने को बी० ए० फेल या इण्टरमीडिएट पास लिखने से न चूकते थे। अंग्रेजी पढ़े लोगों की अपनी ही एक परम्परा थी, इनमें ब्राह्मणों का वह वर्ग भी था जो शिक्षा अर्जन के लिये इंग्लण्ड जाता और आमतौर से कोई न कोई उपाधि अर्जित करके स्वदेश लौटता। इस पाश्चात्य शिक्षा से यह लोग केवल आत्मदम्भी ही नहीं होते थे, अपितु जी हुजूरी करते उन्हें कोई शर्म महसूस न होती थी। इस शिक्षा में किसी तरह के धार्मिक विश्वासों अथवा प्रथाओं की सीख का कोई महत्व नहीं था। यह तर्क और वैज्ञानिक खोजों पर आधारित शिक्षा थी। इसके फलस्वरूप भारतीय समाज में सामाजिक समानता, सामाजिक

NMDC-102

न्याय और स्वतन्त्रता के विचारों को प्रोत्साहन मिलने लगा। अंग्रेजी शासनकाल के दौरान मिलने वाली शिक्षा के फलस्वरूप ही भारत में पहली बार मनुस्मृति के विधानो का व्यापक विरोध होना आरम्भ हुआ। इस समय शिक्षित व्यक्तियों को अधिक सम्मान ही दृष्टि से देखा जाने लगा। स्पष्ट है कि पश्चिमी संस्कृति पर आधारित शिक्षा ने हमारी सम्पूर्ण सामाजिक संरचना तथा व्यक्तियों की मनोवृत्तियों में व्यापक परिवर्तन उत्पन्न किये। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईसाई धर्म ने शिक्षा क्षेत्र में व्यापक प्रभाव डाले हैं।

जहां तक साहित्य और भारतीय कलाओं पर पड़ने वाले प्रभावों का प्रश्न है तो इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि अंग्रेजी शिक्षा, ईसाई धर्म प्रचारकों के कार्यों प्रेस के प्रयोग, पत्र पत्रिकाओं के प्रकाश तथा अंग्रेजी ाहित्य के पढ़ने एवं समझने ने देश की विभिन्न भाषाओं की साहित्यिक परम्पराओं को नवीनता में ढाल दिया। फलस्वरूप परवर्ती साहित्य में कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, जीवनी आदि में नई प्रवृत्तियों के दर्शन हुये। भारतीय भाषाओं के साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। भारत में कविता को ऋग्वेद के समय से होती आयी है परन्तु गद्य-लेखन कोई एक हजार वर्ष से अधिक भी समय के अन्तराल के बाद आरम्भ हुआ। धार्मिक और सामाजिक सुधारों के पक्ष और विपक्ष में विवादस्वरूप लिखे जाने वाले गद्य ने शीघ्र ही परिपक्वता प्राप्त कर ली। उपन्यास, लघु कथायें, निबन्ध और आधुनिक नाटक, विशेषकर लघु कथाओं का बीसवीं शताब्दी में भारतीय लेखन का विकास हुआ। शेक्सपीयर भारतीय अध्ययन का मुख्य विषय बन गया और यहां के साहित्य और नाटक पर उसका बहुत असर हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी तक भारतीय शेक्सपीयर से परिचित नहीं थे, यद्यपि उसने अपने दु:खान्त नाटक 1600 के आस-पास लिखे थे जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुयी थी। परन्तु जब एक बार अंग्रेजी शिक्षा आरम्भ हो गयी और पश्चात्य साहित्य एवं दर्शन का ज्ञान व्यावसायिक तथा आर्थिक लाभ के लिये आवश्यक हो गया तो शेक्सपीयर का साहित्य भारतीय साहित्यिक एवं नाटक मण्डलों के लिये सुपरिचित हो गया। शेक्सपीयर के अनेक अच्छे नाटकों के अनुवाद भारतीय भाषाओं में हुये। इसी प्रकार ईसाइयत के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय स्थापत्य कला, चित्रकला, नृत्यकला, नाट्यकला एवं संगीत कला के क्षेत्र में अत्यधिक परिवर्तन हुये हैं। मानवता और बुद्धिवादी की नयी शक्ति से भारतीय चिन्तन और साहित्य को बहुत बल मिला। भारतीय लेखन अब अध्यात्मवाद और रूढ़िवाद से ही चिपका हुआ नहीं रह गया था। अब साहित्य में देवी देवता स्वर्ग से अवतरित होकर मानव जीवन में भूमिका नहीं निभाते थे। मनुष्य ने अब अग्रतम स्थान प्राप्त करके दैवी सहायता की अपेक्षा न रखते हुये जीवन नौका पार कर लेना सीख लिया था। जगत के विषय में जो धारणा प्राचीन काल से चली आ रही थी उसकी एक हल्की सी झलक अभी बनी हुयी थी। पुराने ढांचों में नये विचार भर गये और भारतीय लेखक व विचारक मानवतावाद की नयी शक्ति से ही प्रेरित नहीं हुये, अपितु फ्रांस की स्वतन्त्रता एवं समानता की क्रान्तिकारी भावनाओं से भी प्रभावित हुये।

ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्म प्रसार के उद्देश्य से भारतीयों के निकट आकर उनकी समस्याओं में रुचि लेनी प्रारम्भ की और लोगों को धर्म परिवर्तन हेतु प्रेरित किया। मिशनरियों के इन प्रयासों

NMDC-102

से भारतीय में चेतना आयी और उन्होंने समाज सुधार के महत्व को समझा। भारत में जो भी समाज सुधार आंदोलन चलाये गये उन सभी को प्रारम्भ कराने का श्रेय ईसाई धर्म एवं पाश्चात्य संस्कृति को है, जिन्होंने इन आंदोलनो को प्रारम्भ करने के लिये परिस्थितियां उत्पन्न की। इन आंदोलनों में 'रामकृष्ण मिशन', 'भारतीय दलित वर्ग मिशन समाज' आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार आज के भारत मे जितना पंजीकरण औद्योगीकरण आदि जो भी विज्ञान सम्बन्धी प्रचार-प्रसार हो रहा है, उसमें पाश्चात्य संस्कृति अथवा ईसाइयत का बहुत बड़ा योगदान है।

14.1.3 धार्मिक जीवन पर प्रभाव—भारतीय सामाजिक व्यवस्था में धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था, लेकिन शनैः शनैः हमारे यहां धार्मिक क्रियाकलापों का स्थान अनेक रूढ़ियों एवं कर्मकाण्डों ने ले लिया। फलस्वरूप असंख्य देवी देवताओं, भूत प्रेतों, शकुन-अपशकुन भाग्य, स्वर्ग-नरक आदि की अवधारणाओं को असाधारण महत्व दिया जाने लगा। ईसाई सामाजिक व्यवस्था ने भारत में एक ईश्वरवादी धारणा को बल दिया।

भारत में जहां धर्मपरायण व्यक्ति सामाजिक छुआछूत को अपनाते थे। वहां ईसाई मिशनरी निम्न जातियों मे घुल मिलकर समानता एवं भ्रातृत्व का पाठ पढ़ाते थे। ईसाईयों ने धर्म को प्रेम, करूणा, स्नेह एवं मानवता का सन्देश माना एवं इस प्रकार धर्म के मानवतावादी पक्ष का समर्थन एवं प्रचार-प्रसार किया। अतः धर्त एवं धार्मिक प्रतिमानों में अनेक परिवर्तन ईसाइयत के परिणामस्वरूप आये।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था के लगभग सम्पूर्ण पक्षों पर ईसाइयत की गहन छाप दिखाई देती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ईसाई समाज ने परम्परागत भारतीय समाज का स्वरूप बदलने में बहुत बड़ी भूमिका अदा की है। फिर भी भारतीय समाज का मूल स्वरूप सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया हो ऐसा नहीं माना जा सकता। भारतीय समाज अनेक परिवर्तनों एवं प्रभावों के बाद भी अपनी मौलिक विशेषताओं को अब तक बचाये रखने में सफल हुआ है।

14.5 ईसाइयत पर भारतीय प्रभाव तथा पारस्परिकता

समूचे ईसाई समुदाय के चिन्तन और जीवन को प्रभावित करने वाले अनेक तत्वों में से भारत भी एक था। वस्तुतः भारतीय विचारों के प्रति ईसाइयों की प्रतिक्रिया प्रत्येक शताब्दी में विचारकों के साथ बदलती रही। कुछ लोगों ने तो भारतीय विचारधारा को तुरन्त अपना लिया, कुछ ने स्वभाववश इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त की।

ईसाइयत पर पड़ने वाले प्रभाव का आरम्भ हुआ भारतीय दर्शन और साहित्य से जिसकी शुरूआत हुयी जर्मनी से। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक जर्मनी भारतीय दर्शन एवं साहित्य से काफी परिचित एवं प्रभावित हुआ। यूरोप के ईसाई समुदाय ने भारत के 'शाकुन्तलम' नाटक को प्रेम से अपनाया। जयदेव रचित 'गीत गोविन्द' और 'कालिदास'

और कालिदास रचित 'मेघदूत' को भी यूरोप में काफी प्रशंसा मिली। एक ओर शेक्सपीयर और दूसरी ओर भारतीय साहित्य ने जर्मन रोमांटिक आंदोलन को प्रेरित किया। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन रोमांटिक भारतीय धर्मों के प्रति भी आकृष्ट होते रहे। पाश्चात्य धार्मिक आलोचना को भारतीय बहुदेववाद से प्रेरणा मिली।

19वीं शताब्दी के मध्य तक तो भारत सम्पूर्ण रूप से आकर्षण का विषय बना रहा। बाद में ईसाई विद्वानों का ध्यान बौद्ध दर्शन और साहित्य की ओर भी गया। महान अंग्रेजी कवि विलियम वड्र्सवर्थ और उसका सहयोगी व आत्म बंधु सैमुअल टेलर कॉलरिज दोनों हिन्दू विचारधारा से प्रभावित थे। वर्ड्सवर्थ की कविताओं और कॉलरिज के ईसाई प्रेमगीम 'ल्यूटी' में इस बात के प्रभाव स्पष्ट दिखाई देते हैं। कॉलरिज ने नव प्लेटोवादी परम्पराओं पर बल दिया और इंग्लैण्ड में जर्मन आदर्शवाद का सूत्रपात किया जो भारतीय विचारधारा से प्रभावित था। कॉलरिज भारतीय साहित्य से प्रभावित था। उसने एक स्थान पर लिखा है कि ''मैं भारतीय विष्णु के समान शयन करना या मरना चाहता हूँ। जो अगाध समुद्र में कमलासन पर तैरता रहता है और कभी दस लाख वर्षों में उसकी निद्रा भंग होती है''। (बोरिस फोर्ड (स०), फ्राम ब्लेक टू बायरन, 193 उद्धृत जी० एल० सौलिगर)।

भारतीय चिंतन की प्रतिध्वनियां ऐसे देशों में भी सुनी गयी, जिनका भारत से केवल दूर- दराज का ही सम्बन्ध था।

अमेरिका में ईसाइयों ने जो विज्ञान आन्दोलन चलाया उसमें भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। स्वामी विवेकानन्द, रविन्द्र नाथ टैगोर ने जब जब अमेरिका की यात्रायें की तब जब उन्होंने वहाँ के विद्वानों को गहरे तक प्रभावित किया।

आधुनिक भारतीय विचारकों में गांधी जी का वाह्य जगत पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। गांधीजी को प्राय: ईसा के बाद पैदा होने वाला सबसे बड़ा आदमी माना जाता है। और भारत में तो बुद्ध के बाद सबसे महान वही हुए हैं वे अहिंसावादी थे—अहिंसावादी का वास्तविक अर्थ है—विरोधी से भी प्रेम करना और आक्रमण के लिये प्रार्थन करना। नि:सन्देह बहुत से ईसाई गांधीवाद में ईसाई विचारों का दर्शन करते हैं। इसके अतिरिक्त स्वामी विवेकानन्द, आनन्द कुमार स्वामी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन जैसे महापुरुषों के विचारों ने भी ईसाई समाज को प्रभावित किया।

भारतीय चिन्तन ने ब्रह्मविद्या द्वारा पश्चिम को कितनी गहराइयों तक प्रभावित किया है इसका अनुमान जे० कृष्णामूर्ति के ग्रन्थों की सर्वप्रियता से लगाया जा सकता है जो अपने यौवनकाल में ही 'मसीहा' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। उनके उपदेशों का सार यह था कि मनुष्य आत्म ज्ञान द्वारा ही परम सत्य को प्राप्त कर सकता है। 'थियॉसॉफी' शब्द संस्कृति के 'ब्रह्मविद्या' पद का अनुवाद है। सबसे पहले इसका प्रयोग तीसरी शताब्दी में यूनानी दार्शनिक इयामब्लिकस ने 'ईश्वरीय वस्तुओं के आन्तरिक ज्ञान' के अर्थ में किया था। आधुनिक अर्थों में थियॉसॉफी' उस आन्दोलन का नाम है जो श्रीमती एम० पी० ब्लावत्स्की ने न्यूयार्क में 1875 में आरम्भ किया था थियॉसॉफिकल सोसायटी वर्तमान में एक ऐसा असाम्प्रदायिक समाज है जो हम इस मत में

NMDC-102

विश्वास करता है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। इसका लक्ष्य जाति, धर्म, लिंग और वर्णभेद से रहित मानव समाज में विश्व बन्धुत्व की स्थापना, सभी धर्मों दर्शनों और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहित करना और प्रकृति के गूढ़ नियमों की व्याख्या करना तथा मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों को प्रकट करना है।

नाजी जर्मनी मे जो आन्दोलन देश में ही बढ़कर विकसित हुआ था, वह भी गांधीवादी शान्ति और सत्याग्रह पर आधारित था। इस आन्दोलन के नेता डिएट्रिक बॉनहॉफर ने इन विचारों को ईसाई मत पर प्रयुक्त करने की सम्भावना देखी और हिटलर के अत्याचारों के विरुद्ध गांधीवादी सिद्धान्तों के प्रयोग से इतना प्रभावित हुआ कि उसने गांधी जी से मिलने के लिये भारत की यात्रा करने का कार्यक्रम भी बनाया परन्तु राजनीतिक कारणों से यह सम्भव नहीं हुआ।

यद्यपि यह सत्य है कि ईसाई समाज पर भारतीय दर्शन का प्रभाव तो पड़ा, किन्तु भारत के विषय में अपने ज्ञान का कोई उन्होंने कोई महत्वपूर्ण उपयोग नहीं किया। यदि किया जाता तो केवल तकनीकी और औद्योगिक क्रान्ति की अपेक्षा एक सर्वतोन्मुखी सभ्यता अथवा व्यापक ईसाई समाज के पुनर्जागरण का अभ्युदय होता।

14.6 सारांश

* इस इकाई के अन्तर्गत आपने ईसाइयत अर्थात् ईसाई सामाजिक व्यवस्था के अवधारणात्मक स्वरूप एवं ईसाइयत एवं भारतीयता दोनों के पारस्परिक प्रभाव की विस्तृत जानकारी प्राप्त की। अब आप ईसाइयत के प्रभाव एवं पारस्परिकता से अवगत हो गये हैं।

* ईसाई सामाजिक व्यवस्था मूलत: ईसाई धर्म की देन है, जिसके प्रवर्तक ईसा मसीह माने जाते हैं। उन्होंने मानव समाज को प्रेम, करुणा, मानव सेवा, अहिंसा, त्याग और परोपकार का सन्देश दिया। समाजशास्त्र विषय के अन्तर्गत ईसा मसीह की शिक्षाओं का उल्लेख रवीन्द्र नाथ मुकर्जी की पुस्तक भारतीय समाज व संस्कृति में किया गया है।

* ईसाइयत ने भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित किया, जिसमें सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षेत्र प्रमुख हैं।

  जहाँ तक ईसाइयत पर भारतीयता के प्रभावों का प्रश्न है तो भारतीय दर्शन और साहित्य ने ईसाइयत को सर्वाधिक प्रभावित किया।

14.7 सन्दर्भ/सहायक ग्रन्थ

1. डॉ० शर्मा : भारतीय समाज एवं संस्कृति
2. एबे रायल : फिलॉसाफिकल एण्ड पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ य यूरोपियन्स इन द

टू इण्डियन

3. ए जे० अरबेरी : ओरियण्टल एसेज

4. दामोदर सिंहल : आधुनिक भारतीय समाज और संस्कृति

14.8 प्रश्नोत्तर

बोध प्रश्न—

1. ईसाई धर्म के प्रवर्तन कौन है? (सही उत्तर के सामने का निशान लगायें)।

   (अ) ईसा मसीह ( )

   (ब) मोहम्मद साहब ( )

   (स) जान अब्राहम ( )

   (अ) सैंट जॉन पाल ( )

2. ईसाई लोग ईश्वर के स्वरूप को कैस मानते हैं? (सही उत्तर के सामने का निशान लगायें)।

   (अ) निराकार ( )

   (ब) साकार ( )

   (स) अनेक प्रकार ( )

   (अ) निर्विकार ( )

3. ईसार्म धर्म में निम्न में से किसकी विवेचना की गयी है? (सही उत्तर के सामने का निशान लगायें)।

   (अ) अनेकवाद ( )

   (ब) त्रियकवाद ( )

   (स) बहुलतावाद ( )

   (अ) साम्राज्यवाद ( )

4. ईसाइयत ने भारत के सामाजिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया? (उत्तर दस पंक्तियों में दें)

   .....

   .....

   .....

5. ईसाइयत पर भारतीय प्रभाव का प्रारम्भ कैसे हुआ? (सही उत्तर के सामने का

निशान लगायें)।

(अ) भारतीय दर्शन और साहित्य से ( )

(ब) औद्योगिक क्रान्ति से ( )

(स) कृषि व्यवस्था से ( )

(अ) पशुपालनसे ( )

बोध प्रश्न

1. देखें (1.2)
2. देखें (1.2)
3. देखें (1.2)
4. देखें (1.4.1)
5. देखें (1.5)

अभ्यास

अभ्यास सम्बन्धित उत्तर इकाई पढ़कर स्वयं लिखे और परामर्शक को दिखायें।

इकाई 15 सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 सुधार सम्बन्धी आन्दोलन: एक अवधारणात्मक व्याख्या

15.3 भारत के प्रमुख सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

15.3.1 जैन धर्म : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

15.3.2 सिख धर्म : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

15.3.3 बौद्ध धर्म : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

15.3.4 आन्दोलनात्मक दृष्टि से उपरोक्त तीनों धर्मों में समानता

15.3.5 कबीर पंथ : धार्मिक साधना की विशिष्ट प्रणाली-आन्दोलन के रूप में

15.3.6 दादू पंथ : धार्मिक साधना की विशिष्ट प्रणाली-आन्दोलन के रूप में

15.3.7 आर्य समाज : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

15.3.8 ब्रह्म समाज : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

15.4 सारांश

15.5 सन्दर्भ/सहायक ग्रन्थ

15.6 बोध प्रश्नों/अभ्यासों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- समाज सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलनों के अवधारणात्मक स्वरूप को समझ सकेंगे
- भारत के प्रमुख सुधारवादी आन्दोलनों एवं समाज पर पड़ने वाले उनके प्रभावों क विवेचना कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई समाज सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों के विवेचनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित हैं। इस इकाई में विभिन्न आन्दोलनों से आपको परिचित कराया गया है। सर्वप्रथम सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों के अवधारणात्मक स्वरूप को स्पष्ट किया गया है ताकि आप विभिन्न धार्मिक

NMDC-102

आन्दोलनों एवं उनके प्रभावों अर्थात् सम्पूर्ण विवेचना को सरलता के साथ समझ सकें।

सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलनों में जैन धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिक्ख धर्म अपने आन्दोलनात्मक स्वरूप के कारण प्रमुख रहे हैं। यद्यपि आर्य समाज, ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना समाज आन्दोलन विभिन्न सामाजिक कुरीतियों के समान किये जाने के लिए जाने जाते हैं। किन्तु इन आन्दोलनों ने धार्मिक क्षेत्र में व्यास बुराइयों को भी दूर करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से प्रस्तुत इकाई में ऐसे सभी आन्दोलनों की विवेचना की गयी है जो धार्मिक क्षेत्र में व्यास बुराइयों के उन्मूलन से जुड़े हैं।

इस इकाई में हम आपको सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलनों से अवगत करा रहे हैं। इसलिए हमने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि किसी धर्म विशेष के विरुद्ध कोई विवादास्पद बात न कही जाये। आपके लिए यथास्थान अभ्यास प्रश्न भी दिये गये हैं। आप अभ्यास कार्य मेहनत से करें। इससे आपकी परीक्षा सम्बन्धी तैयारी अच्छे ढंग से हो सकेगी।

15.2 सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलनन: एक अवधारणात्मक व्याख्या

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में जिस प्रकार सामाजिक आन्दोलनों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण रही है, उसी प्रकार भारत जैसे धर्म प्रधान देश में धार्मिक आन्दोलनों का इतिहास भी बहुत पुराना है।

कोई भी समाज स्थिर नहीं होता समय और परिस्थिति के अनुरूप इसमें परिवर्तन की पहल होती रहती है (इस दृष्टि से भारत में भी सामाजिक धार्मिक उद्देश्यों को लेकर परिवर्तन एवं सुधार हेतु आन्दोलन होते रहे हैं। चूँकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था धर्म प्रधान व्यवस्था रही है। इस कारण यहाँ धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन भी अधिक हुए हैं। हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराइयों और कुरीतियों को दूर करने के उद्देश्य से ही सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में जैन, बौद्ध और सिक्ख धर्मों का अभ्युदय हुआ है। जिसमें कि सुधारवादी नेतृत्व की छत्रछाया में सामूहिक आन्दोलन को नये धर्मों के रूप में अभिव्यक्ति मिली है।

19वीं शताब्दी को भारतीय पुनर्जागरण का काल कहा जा सकता है। इसमें पूर्व धार्मिक क्षेत्र में कर्मकाण्ड और पशुबलि का प्रधान्य था, विविध धार्मिक मत-मतान्तर प्रचलित थे और व्यक्तियों के द्वारा धर्म के वास्तविक स्वरूप को भुला कर छोटे-छोटे धार्मिक भेदों के आधार पर एक दूसरे के साथ संघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया था। धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त यह अधोगति भारतीय समाज एवं संस्कृति की अवनति का कारण और उसका परिणाम थी। जब ब्रिटिश शासन काल में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ तो भारतीय धार्मिक जीवन की इन कुरीतियों के कारण ईसाई धर्म का प्रभाव तेजी से फैलने लगा। भारतीय नवयुवक ईसाई धर्म के सीधे-सीधे सिद्धान्तों से प्रभावित होकर ईसाई धर्म ग्रहण करने लगे और ईसाई धर्म प्रचारकों के द्वारा वैदिक धर्म और हिन्दू जाति का उपहास किया जाने लगा। इस उपहास ने भारतीय नेताओं की आँखें खोल दी। अब उन्होंने भारतीय धर्म व समाज में सुधार करने के प्रयत्न किये। इसी

समय पर सर विलियम जोन्स, मैक्मूलर और रौथ पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय धर्म और शस्त्रों का अध्ययन कर भारतीयों के सम्मुख भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का ऐसा विवरण प्रस्तुत किया जो समकालीन यूरोपियन सभ्यताओं की तुलना में निश्चित रूप से श्रेष्ठ था। पश्चिमी विद्वानों द्वारा किये गये इन अनुसंधानों ने भारतीयों में नवीन चेतना भर दी और वे ऐसा सोचने लगे कि धार्मिक और सामाजिक जीवन में सुधार कर भारत के भूतकालीन गौरव को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य साहित्य ने भी भारतीयों को इस दिशा में सोचने के लिए प्रोत्साहित किया। सौभाग्य से इसी समय भारत में राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द तथा अन्य अनेक सुधारकों का जन्म हुआ, जिन्होंने धर्म सुधार, सामाजिक परिवर्तन व पुरातन संस्कृति के पुनरूद्धार का बीड़ा उठाया। इन महामानवों द्वारा धार्मिक क्षेत्र में सुधार हेतु ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज जैसे सुधार आन्दोलनों को जन्म दिया गया। जिनका मुख्य उद्देश्य धर्म सुधार, विविध सामाजिक कुरीतियों की समाप्ति और आर्य संस्कृति की रक्षा करता था। इसी सन्दर्भ में संत कबीरदास और महात्मा दादू दयाल जैसे धर्म सुधारकों ने भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कियेव इन्होंने कबीर पंथ व दादू पंथ जैसे आन्दोलनों को जन्म दिया।

15.3 भारत के प्रमुख सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

भारत जैसे धर्म प्रधान देश के धार्मिक क्षेत्र में ही व्यास विभिन्न कुरीतियों को दूर करने के लिए विभिन्न सुधारकों द्वारा अनेक धार्मिक आन्दोलन चलाये गये, जिनका उल्लेख निम्नलिखित है।

15.3.1 जैन धर्म: एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में—ई० पू० छठी शताब्दी (600 बी० सी०) धार्मिक सामाजिक आन्दोलन की शताब्दी थी। इस समय न केवल भारत बल्कि विश्व के तमाम स्थानों पर नवीन धार्मिक विचारों का उदय हुआ। ईओनिया द्वीप में हेराक्लिटस, ने ईरान में जोरास्टर ने, और चीन में कम्प्यूसियस ने नवीन धार्मिक विचारों का प्रसार किया था। भारत भी युग और परिस्थिति के प्रभाव से मुक्त न रहा। यहाँ पर भी उन धार्मिक आन्दोलनों और धर्मों का उदय हुआ कि बाद में चल रहा न केवल भारत बल्कि विश्व के अन्य देशों में भी प्रभावशाली रहे। वैदिक धर्म अपना प्रभाव खोने लगा था। यज्ञ और बलि पर आधारित इस धर्म में अनेकों बुराइयों और कर्मकाण्डों की भरमार थी। दूसरी ओर उपनिषदों ने धर्म में जिस स्वतंत्र विचारधारा को जन्म दिया था वह दार्शनिकों, चिंतनशील विद्वानों और शिक्षितों के लिए नये आकर्षण का केन्द्र बन गया। इस युग में लोग यज्ञों की जटिलता और अपार धन खर्च से तंग आ गये थे। यहाँ तक कि यज्ञ जनसामान्य की पहुँच से बाहर हो गये थे। इस पर भी यह कहा जाता था कि यज्ञ के विधान में यदि त्रुटि हो गयी तो न केवल यज्ञ की क्रिया निष्फल होगी, बल्कि यज्ञ कराने वालों को इसका पाप लगेगा और खामियाजा भुगतना पड़ेगा। अत: यज्ञ कराने वालों का भी समाज में बहुत अधिक प्रभाव हो गया था। वे सामान्य जनों से भिन्न विशिष्ट विशेषज्ञ के रूप में जाने माने जाते थे। यज्ञों में पशुओं की बलि की हिंसा से भी लोगों

NMDC-102

को घृणा होने लगी थी। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और शूद्रों की हीनता पर आधारित व्यवस्था भी लोगों के क्षोभ और आक्रोश का कारण बन गयी थी।

साधारण जनता तंत्र मंत्र, जादू टोने के अन्धविश्वास में फंसी हुई थी। मन्दिरों मे पेशेवर पुजारी नियुक्त किये जाते थे। यह चिंतन की भी अराजकता का युग था, क्योंकि महात्मा बुद्ध को जब ज्ञान प्राप्त हुआ, उस समय लगभग बासठ सिद्धान्त विश्व तथा आत्मा के बारे में प्रचलित थे, जो क्षत्रिय और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता की चुनौती दे रहे थे।

इस प्रकार तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति के प्रति, असंतोष, जीवन के दु:खों तथा उनके कारणों की खोज, धर्म में सत्य की खोज के कारण धार्मिक सामाजिक आन्दोलन आवश्यक हो गये। इसी पृष्ठभूमि में विभिन्न क्रान्तिकारी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, जिसमें से एक नवीन धर्म के रूप में जैन धर्म का जन्म हुआ। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी ने वैदिक धर्म की जड़ों पर प्रहार करते हुए अवैदिक सम्प्रदाय के रूप में जैन धर्म की सुदृढ़ नींव रखी। जैन परम्पराओं के अनुसार महावीर स्वामी से पहले इस धर्म के तेईस गुरू हो चुके थे जो तीर्थ कर कहलाते थे। महावीर स्वामी 24वें तीर्थंकर थे।

महावीर स्वामी के जीवनकाल में जैन धर्म का पर्याप्त प्रचार हुआ। इस धर्म ने वैदिक धर्म की बुराइयों से लोगों का परिचय कराया। यज्ञ में पशुबलि का विरोध किया और अहिंसा परमोधर्म: के लक्ष्य को प्रतिष्ठित किया। कर्म और त्याग पर बल दिया। ईश्वर जैसी शक्ति के प्रति अनास्था प्रकट की। पंचमहाव्रत के माध्यम से नैतिक शिक्षा पर बल दिया। इसके साथ ही स्पादवाद की धारणा से धर्म के वैज्ञानिक स्वरूप को नष्ट करने की चेष्टा की। सापेक्ष और निरपेक्ष के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वस्तुनिष्ठ चिंतन की आधारशिला रखी। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि जैन धर्म ने वैदिक धर्म में वेदों के प्रति इसीलिए अनास्था प्रकट की क्योंकि वैदिक धर्म की कुरीतियां पासखण्डवाद और यज्ञादि कर्म समाजोत्थान के मार्ग में बाधक थे। वे बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थे।

जैन धर्म ने साहित्यिक क्षेत्र में भी उत्कृष्ठ कार्य किया। इस धर्म के प्रचारकों ने, प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़, तमिल आदि भाषाओं में अनेक ग्रन्थों की रचना करके इन भाषाओं को समृद्ध बनाया। कला के क्षेत्र में भी जैन धर्म का महत्वपूर्ण योगदान है। 11वीं तथा 12वीं शताब्दी में जैन कला उन्नत अवस्था में थी।

जैन धर्म के अन्तर्गत तप और संयम पर अधिक जोर दिया गया है। महावीर स्वामी ने जातिवाद को अतात्तिवक घोषित किया। बिना किसी भेदभाव के हर वर्ग के लोगों के लिए धर्म को अंगीकृत करने का अधिकार दिया। फलस्वरूप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, गुलाम सभी महावीर के अनुयायी बने। भगवान महावीर ने नारी को भी धर्म सम्बन्धी पूर्ण अधिकार दिया। आत्मविश्वास में पुरुषों के बराबर उनकी भूमिका हो सकती है। भगवान महावीर ने छत्तीस हजार महिलाओं को साहिवयां बनाकर तत्कालीन धर्म समुदायों में एक नया आयाम खोल दिया।

भगवान महावीर ने बलि प्रथा का विरोध किया। उन्होंने बलि देने की प्रक्रिया को हिंसा जन्य बताया। दास प्रथा को भी उन्होंने अमानवीय करार किया। भगवान महावीर का दर्शन आत्मवादी दर्शन का उनका कहना था कि व्यक्ति अपने सत-असत पुरूषार्थ से सुख-दुख पाता है। इसमें किसी अन्य महाशक्ति का हस्तक्षेप नहीं। व्यक्ति स्वयं के प्रति जिम्मेवाद है। जैन धर्म ने एक आन्दोलन के रूप में भारतीय जनमानस के एक बड़े वर्ग को मुख्य रूप से अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकान्त जैसे सिद्धान्तों को अपनाने के लिए विवश किया।

15.3.2 सिक्ख धर्म : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म का सुधरा हुआ रूप है। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म की तमाम विसंगतियों, ऊँच-नीच की भावना, कर्मकाण्ड और आडम्बर का अन्त करने के लिए यह धर्म एक धार्मिक आन्दोलन के रूप मे विकसित हुआ। गुरूनानकदेव ने हिन्दू धर्म की अच्छाइयों तथा मूल सिद्धान्तों के प्रति अनास्था प्रकट नहीं की है। वह एक ईश्वर के निर्गुण और निराकारी स्वरूप को मानते रहे। इसीलिए उन्होंने निराकर ब्रह्म की विस्तृत व्याख्या की है। 19वीं शताब्दी के पुनर्जागण में सिख धर्म के अनुयायियों की विशेष भूमिका रही है। इस दृष्टि में अमृतसर का सिंह सभा आन्दोलन बहुत ही प्रसिद्ध है। इस आन्दोलन में खालसा दीवान नामक संस्था ने पंजाब में बहुत से गुरूद्वारे स्थापित किये तथा विद्यालय और महाविद्यालय भी खोले। सिंह सभा आन्दोलन की शुरूआत अमृतसर में खालसा कालेज की स्थापना के साथ ही हुई थी, किन्तु वास्तव में आन्दोलन 1920 ई० में प्रारम्भ हुआ। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य गुरूद्वारों का प्रबन्धकरण, तथा उसकी बुराइयों को दूर करना था। अकालियों के नेतृत्व में 1921 में सिक्ख जनता ने महन्तों के विरुद्ध अहिंसात्मक सत्यागह प्रारम्भ किया। सरकार ने इसे दबाने के लिए दमन चक्र का सहारा लिया, किन्तु बाद में सरकार को जनशक्ति के आगे झुकाना पड़ा और 1922 में सिख गुरूद्वारा अधिनियम पारित करना पड़ा। इस अधिनियम को 1925 में संशोधित भी किया गया। इससे सिखों को गुरूद्वारों से भ्रष्ट महन्तों को निकालने में सहायता मिली तथा उनमें नयी चेतना व संगठन क्षमता भी विकसित हुई। (Patil & Bhadauria, Major Concepts of Sociology, P. 83) सिख धर्म समानता, सत्य, सच्चरित्रता, कर्मकाण्ड विहीनता और न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित धर्म है। इसे एक धर्म कहने के साथ-साथ महान सुधारवादी आन्दोलन कहना अधिक उपयुक्त है।

15.3.3 बौद्ध धर्म : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

बौद्ध धर्म भारत में सबसे अधिक प्रभावशाली धर्म साबित हुआ। अनेकों विद्वानों का यह भी तर्क है कि महात्मा बुद्ध किसी नवीन धर्म के संस्थापक न थे बल्कि वे हिन्दू धर्म के सुधारक थे। अपने जन्म काल के थोड़े समय बाद ही बौद्ध धर्म समस्त भारत में फैल गया। महात्मा बुद्ध के जीवन काल में ही मगध, कौशल, कौशाम्बी के राजाओं तथा प्रजा ने इस धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक्त लिच्छवि, मल्ल तथा शाक्य गणराज्यों की प्रजा ने भी इस धर्म को अपनाया। मौर्य सम्राट अशोक, कुषाणु शासक कनिष्ठ, वर्धन संध के सम्राट हर्ष ने बौद्ध धर्म को अपना राज्य धर्म बना लिया था। राजपूत काल में इस धर्म का पतन हो गया, किन्तु इस धर्म ने

समाजोत्थान में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

बौद्ध धर्म ने गौतम बुद्ध के आदर्शों के अनुरूप संसार के दुखमय होने के कारणों और उनके निवारण के लिए जो रास्ता बताया उसका भारतवासियों पर बहुत ही गहरा असर हुआ। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म के तप, त्याग, करूणा और अहिंसा के उपदेशों का भी भारतीय जनता पर अनुकूल असर हुआ तथा जीवन मूल्यों के प्रति नये उत्साह में भी वृद्धि हुई। बौद्ध धर्म ने सामाजिक सहिष्णुता और सामाजिक सामानता में भी वृद्धि की। इससे धार्मिक सहिष्णुता और जाति-पाँति से सम्बन्धित भेदभाव में कमी आयी। आर्यों के साथ की ऊंच नीच पर आधारित वर्ण और जाति व्यवस्था के मूल आधारों पर प्रहार करते हुए बौद्ध धर्म ने सामाजिक समानता की सुदृढ़ नींव रखी। उसी का परिणाम यह निकला कि इस धर्म से प्रेरित होकर अनेकों निम्न जातियों तथा वर्गों के लोगों ने हिन्दू धर्म को छोड़कर बौद्ध धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म के कट्टरपन और पुरातन पंथी विचारों में भी परिवर्तन आया तथा लोकतांत्रिक आधुनिक विचारों को नयी दिशा मिली। बौद्ध संघ स्वयं ही लोकतांत्रिक सिद्धान्त पर आधारित थे।

बौद्ध धर्म के प्रभाव से वास्तुकला, भवन निर्माण कला, चित्रकला और मूर्तिकला का भी बहुत विकास हुआ। मथुरा तथा गन्धार की कला शैली के उदाहरण भी बौद्ध धर्म के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं।

शिक्षा साहित्य और चिन्तन के क्षेत्र में भी भारतीय समाज के उत्थान में बौद्ध धर्म का बहुत अधिक योगदान है। बौद्धों ने तर्क प्रधान साहित्य पर सृजन कर भारतीय समाज की सेवा की है।

यद्यपि बौद्ध धर्म और हिन्दू सांख्यदर्शन में बहुत अधिक समानता है, किन्तु फिर भी दोनों में कर्म-सिद्धान्त और जीव के आवागमन के सिद्धान्त में अन्तर है। हिन्दुओं में देवता आवागमन के सिद्धान्त से मुक्त रहते हैं। किन्तु बुद्ध के अनुसार ब्रह्म को भी अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। साधारण मनुष्य भी सत्कर्मों से देवतत्व प्राप्त कर सकता है। हिन्दुओं के ईश्वर की भांति बौद्धों का ईश्वर नहीं होता। इसीलिए बौद्धों की भाग्य की परिभाषा हिन्दुओं से अलग है इस प्रकार भले ही महात्मा बुद्ध हिन्दू धर्म के सुधारवादी ही क्यों न माने जायें, फिर भी उनका बौद्ध धर्म क्रान्तिकारी धार्मिक सामाजिक आन्दोलन था जिसे कि सम्राट अशोक के भगीरथ प्रयत्नों से बहुत अधिक सफलता मिली थी।

15.3.4 आन्दोलनात्मक दृष्टि से उपरोक्त तीनों धर्मों में समानता

उपरिलिखित जैन, बौद्ध तथा सिख धर्मों के सुधारात्मक धार्मिक सामाजिक आन्दोलनों की दृष्टि से देखे जाने

तीनों का ही उद्देश्य वैदिक हिन्दू धर्म के कर्मकाण्ड, यज्ञ, अनुष्ठान और पशुबलि की क्रियाओं के प्रति अनास्था प्रकट करना और इसमें सुधार के लिए एक नये पंथ या धर्म की स्थापना करना है।

* तीनों ही सुधारवादी आन्दोलन जातिवाद, छुआछूत और ऊँच-नीच के विरोधी और समता के पक्षधर है।

* तीनों ही धार्मिक आन्दोलनों ने मानवतावाद व बुद्धिवाद को सर्वाधिक महत्व दिया। साथ ही सदाचार, पवित्रता सद्कर्म एवं नैतिक आचरण पर बल दिया।

* तीनों ही धर्म अपने युग की विचारधारा से प्रभावित हुए। इस कारण वे हिन्दू धर्म के विरोधी आन्दोलन के रूप में प्रकट हुए।

15.3.5 कबीरपंथ : धार्मिक साधना की विशिष्ट प्रणाली आन्दोलन के रूप में

भारत में धार्मिक सुधारकों में अग्रणी कबीरदास द्वारा चलाया गया धार्मिक कबीर पंथ नाम से एक सुधारवादी आन्दोलन के रूप में पुकारा जाता है।

यद्यपि कबीरदास ने किसी भी प्रचलित धर्म या सम्प्रदाय का विरोध नहीं किया, परन्तु हिन्दू व मुस्लिम समाज के बाहरी आडम्बरों की ओर लोगों का ध्यान अवश्य आकर्षित किया। संत कबीर ने परम सत्य के सहज रूप को ही जनता के समक्ष प्रस्तुत किया और साथ ही उसकी सहज अनुभूति के लिए सबको प्रेरित भी किया। कबीर ने भारतीय समाज को जो धार्मिक दिशा प्रदान की,उसे किन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित एक धार्मिक आन्दोलन कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं होगा, जिसका उल्लेख निम्न प्रकारर है,

* प्रथमत: संत कबीर के विचारों का एक दार्शनिक सिद्धान्त प्रस्तुत हुआ, जिसके अन्तर्गत उन्होंने एकेश्वरवाद, भक्तिवाद, जन्मान्तरवाद, अहिंसावाद और संसार की असारता के प्रतिपादक एवं मायावाद, अवतारवाद देववाद, हिंसावाद, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, व्रत-उपवास, तीर्थ यात्रा और वर्णश्रम धर्म के घोर विरोधी रहे हैं। वह हिन्दू और मुसलमानों के धर्मग्रन्थों और धर्म नेताओं के कट्टर विरोधी भी हैं। संत कबीर ने अपने दार्शनिक विचारों में माया पर विशेष बल दिया है आपका कहना है कि माया ही हमारे जीवन की समस्त समस्याओं की जड़ है। जब तक हम इसे समूल नष्ट नहीं करेंगे, हमारा कल्याण होना सम्भव नहीं और न ही हमारा जीव सार्थक हो सकता है। कबीन ने मन की चंचलता को दूर करने और मन को स्थायी रूप से एकाग्र करने के लिए हमारे सामने एक सहज समाधि का आदर्श भी प्रस्तुत किया है। आपके इस सिद्धान्त का समाज के वर्ग पर अच्छा खास प्रभाव पड़ा।

* द्वितीय: कबीर के विचारों पर आधारित सामाजिक सिद्धान्त के अन्तर्गत जाति, कुल, धन व धर्म सम्बन्धी विभिन्नताओं के सम्बन्ध में अनेक विचार प्रस्तुत किये। आपका मत है कि ''सर्वप्रथम एक ही ज्योति से सारी सृष्टि की रचना हुई एतएव मूलत: हम किसी एक को अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। मिट्टी एक ही है, न तो पात्र में कोई कमी है और न ही उस कुम्हार में कोई बुराई। सभी प्राणियों में वही एक अदृश्य रूप से विद्यमान है।'' अपने इसी सिद्धान्त के तहत उन्होंने परोपकार के महत्व को भी स्पष्ट किया तथा आध्यात्मिक पुरूष बन जाने के लिए ईश्वर जैसा परोपकारी बनने

NMDC-102

की सलाह दी।

अपने इसी सामाजिक सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता पर भी प्रकाश डाला। इसके साथ ही उन्होंने दोनों धर्मों के विभिन्न कर्मकाण्डों की भी जमकर आलोचना की।

* तृतीयत: संत कबीर ने समाज की आर्थिक व्यवस्था के बारे में भी अपने विचार प्रस्तुत किये। इस हेतु उनके विचारों को हम आर्थिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करते हैं। कबीर कहते हैं कि इस समाज में निर्धन को कोई आदर नहीं देता। यदि निर्धन धनवान के पास जाता है तो धनवान पीठ फेर लेता है, परनतु यदि धनवान निर्धन के पास जाता है कि निर्धन धनवान को आदर देता है और उसे अपने निकट बुला लेता है लेकिन वास्तव में ''निर्धन तथा धनवान दोनों भाई-भाई हैं और जो उन दोनों में अन्तर दिखाता है वह प्रभु का नित्य कौतुक मात्र है। संत कबीर भिक्षावृत्ति के विरुद्ध रहे हैं, उनका कहना है कि ''जब कभी कोई व्यक्ति अपना हाथ किसी से कुछ मांगनने के लिए फैलाता है उस समय उसके सभी सदगुण जैसे मान, महत्व, गौरव, स्नेह आदि उसका साथ तुरन्त छोड़ देते हैं।'' आप तो स्वयुं अपने हाथ से कमाये गये धन के आधार पर जीवन व्यतीत करना सबके लिए उचित समझते थे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संत कबीर ने समाज को ऐसी राह दिखाई जो जीवन के यथार्थ से रूबरू थी।

15.3.6 दादू पंथ : धार्मिक साधना की विशिष्ट प्रणाली-आन्दोलन के रूप में

धार्मिक सुधारकों में महात्मा दादू दयाल का नाम काफी उल्लेखनीय है। शिष्य परम्परा में वह कबीरदास की छठी पीढ़ी से सम्बद्ध थे। वह हिन्दू और मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों एवं विभिन्न धर्मो के बीच आपसी भाई चारा एवं प्रेमिल सम्बन्धों के पक्षधर थे। कबीर की भांति दादू ने भी निर्गुण एवं निराकर ईश्वर की उपासना, संसार एवं सांसारिक सुखों की निस्सारत, दया, सत्यता, ईमानदारी, सहयोग एवं भाई-चारे का लोगों को उपदेश दिया। दादू के अनुसार ईश्वर निर्गुण एवं निराकर अवश्य है, किन्तु वह सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी है। उसे पाने के लिए संयास लेने अथवा जंगलों, पहाड़ों, गुफाओं में आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। उसे गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुए भी पाया जा सकता है। इस प्रकार वह सन्यासी एवं गृहस्थ दोनों को सुगम है।

दादू पंथ का अनुकरण करने वाले गृहस्थ और ब्रह्मचारी साधु दो गें ही होते हैं। हिन्दू धर्मकोश के अनुसार दादू पंथी गृहस्थ को 'सेवक' कहा जाता है और ब्रह्मचारी साधुओं के लिए दादू पंथी शब्द व्यवहृत होता है। दादू ने साधना की जिस प्रणाली को जन्म दिया, उसने आन्दोलन का रूप धारण कर समाज की धार्मिक दशा को एक नई दिशा प्रदान की।

3.3.7 आर्य समाज : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

आर्य समाज आन्दोलन के प्रणेता स्वामी दयानन्द सरस्वती ने धार्मिक क्षेत्र में सुधारवादी कार्यों को काफी महत्वपूर्ण माना। धर्म के क्षेत्र में आर्य समाज का सबसे बड़ा योगदान धार्मिक अन्धविश्वासों, पाखण्डों को दूर करने के रूप में है। ''वदों की ओर लौट चलो'' के नारे के साथ वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना करना और उसके लिए जनजागृति पैदा करना आर्य समाज का कार्य है। ''वेद ही सत्य हैं'' ''पुराण इत्यादि उतने अंश में ही सत्य है, जितने कि वे वेदों से सम्बन्धित हैं'' का विचार लोगों के समाने रखकर आर्य समाज ने मूर्ति पूजा, तीर्थयात्रा, आत्मकर्म इत्यादि के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कार्य शुद्धिकरण के लिए चलाया जाने वाला आन्दोलन है। भारत में जो लोग ईसाई या मुसलमान बन गये थे, परम्परवादी कट्टरपंथी उन्हें वापस हिन्दू धर्म में लेने के विरोधी थे। स्वामी जी की शिक्षा के अनुरूप आर्य समाज ने ऐसे लोगों को पुन: हिन्दू धर्म मे सम्मिलित किये जाने हेतु शुद्धिकरण आन्दोलन चलाया। न केवल भारत में बल्कि विदेशों में भी आर्य समाज ने वैदिक धर्म का प्रचार किया। यूरोप, एशिया और अफ्रीका जहां कहीं भी भारतीय रहते थे वहां-वहां आर्य समाज की स्थापना हुई और वेदों का संदेश पहुँचाने का प्रयत्न किया गया।

15.3.8 ब्रह्म समाज : एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में

ब्रह्म समाज के प्रणेता रामाराम मोहन राय ने ब्रह्म समाज के माध्यम से न केवल समाज सुधार सम्बन्धी कार्य किये बल्कि ब्रह्म समाज को एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में भी आगे बढ़ाया। उन्होंने विभिन्न धर्मों, पाश्चात्य सभ्यता तथा सांस्कृतिक का अध्ययन किया था जिसके परिणामस्वरूप वे तमाम धार्मिक अन्ध विश्वासें और पाखण्डों को समाप्त करना चाहते थे ब्रह्म समाज के माध्यम से उन्हें अपने प्रयास में सफलता भी प्राप्त हुई। ब्रह्म समाज ने 'आत्मा एक है' कि सिद्धान्त की प्रचारित कर विभिन्न धर्मों के मतभेदों को समाप्त करने की चेष्टा की। मूर्ति पूजा का विरोध एक ईश्वर मे विश्वास तथा सभी धर्मों के प्रति सद्भाव के आधार पर इस समाज में मानवतावादी धर्म तथा बुद्धिवादी दृष्टिकोण विकसित किया।

15.4 सारांश

* इस इकाई के अंन्तर्गत आपने सुधार धार्मिक आन्दोलनों की अवधारणात्मक जानकारी प्राप्त की। अब आप सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों के अर्थ एवं विभिन्न धर्मों की आन्दोलनात्मक प्रक्रियाओं से अवगत हो गये हैं।
* जैन धर्म, बौद्ध धर्म और सिख धर्म यद्यपि तीनों अलग धर्म हैं किन्तु एक आन्दोलन के रूप में तीनों के मध्य काफी समानता है।
* कबीर पंथ और दादू पंथ दोनों ही धार्मिक साधना की एक विशिष्ट प्रणाली हैं, किन्तु धार्मिक क्षेत्र में सुधारात्मक कार्यों की दिशा में इन दोनों का विशेष योगदान रहा है।
* ब्रह्म समाज और आर्य समाज ने यद्यपि सामाजिक क्षेत्र में विभिन्न सुधार कार्य किये हैं किन्तु धार्मिक क्षेत्र भी इन दोनों समाजों ने अहम भूमिका अदा की है जो एक आन्दोलनात्मक प्रक्रिया है।

15.5 सन्दर्भ ग्रन्थ/सहायक पुस्तकें

1. के. दमोदरन : भारतीय चिन्तन परम्परा
2. डी० एस० शर्मा : हिन्दूइज्म थ्रू द एजेस
3. दुर्गा दत्त पाण्डेय : धर्म दर्शन
4. बुद्ध प्रकाश: भारतीय धर्म और संस्कृति

15.6 सम्बन्धित प्रश्न

बोध प्रश्न

1. सुधार सम्बन्धी धार्मिक आन्दोलन से आप क्या समझते हैं? (तीन पंक्तियों में उत्तर दो)

2. धार्मिक सामाजिक आन्दोलन की शताब्दी माना जाता है। (सही उत्तर के सामने सही का निशान लगायें)

   (अ)ई० पू० छठी शताब्दी को ( )

   (ब)9वीं शताब्दी को ( )

   (स)19वीं शताब्दी को ( )

   (द)21वीं शताब्दी को ( )

3. जैन धर्म के प्रर्वतक कौन थे? (सही उत्तर के सामने सही का निशान लगायें)

   (अ)महावीर स्वामी ( )

   (ब)गौतम बुद्ध ( )

   (स)राजाराम मोहन राय ( )

   (द)भगवान जैनाचार्य ( )

4. सिंह सभा का वास्तविक आन्दोलन किस सन् में प्रारम्भ हुआ? (सही उत्तर में सामने सही का निशान लगायें)

   (अ)1935 ई० में ( )

   (ब)1920 ई० में ( )

   (स)1905 ई० में ( )

   (द)1810 ई० में ( )

5. आन्दोलनात्मक दृष्टि से जैन, बौद्ध तथा सिख धर्म में क्या समानता है? (उत्तर 50 शब्दो में दें)

6. कबीर पंथ कौन से तीन सिद्धान्तों पर आधारित था? बताइये।

1.

.....

2.

.....

3.

.....

7. आत्मा एक है का विचार किसने प्रस्तुत किया? (सही उत्तर के समाने सही का निशान लगायें)

(अ)ब्रह्म समाज ने ( )

(ब)आर्य समाज ने ( )

(स)जैन धर्म ने ( )

(द)दादू पंथ ने ( )

8. अभ्यास

सुधारवादी धार्मिक आन्दोलनों को संक्षिप्त रूप से स्पष्ट करें। (उत्तर दस पंक्तियों में दें)

15.7 प्रश्नोत्तर

बोध प्रश्न

1. सुधारवादी धार्मिक आन्दोलन से अभिप्राय के अन्तर्गत उसका परिचय दिया जाता है। (देखें 3.2)
2. देखें 3.3
3. देखें 3.3.1
4. देखें 3.3.2
5. देखें 3.3.4
6. देखें 3.3.5
7. देखें 3.3.8

अभ्यास

अभ्यास सम्बन्धी उत्तर इकाई पढ़कर स्वयं लिखें और परामर्शक को दिखायें।

इकाई 16 सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन : एक अधारणात्मक व्याख्या

16.3 सुधारवादी सामाजिक आन्दोलन की विशेषताएं

16.4 भारत के प्रमुख समाज सुधार आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

16.4.1 प्रार्थना समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.4.2 ब्रह्म समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.4.3 आर्य समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.4.4 थियोसॉफिकल सोसाइटी एवं उसका प्रभाव

16.4.5 रामकृष्ण मिशन एवं उसका प्रभाव

16.4.6 नामधारी आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.4.7 मुस्लिम सुधार आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.4.8 गाँधी जी का सुधार आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

16.5 सारांश

16.6 सन्दर्भ ग्रन्थ /सहायक पुस्तकें

16.7 सम्बन्धित प्रश्न

16.8 प्रश्नोत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

* सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन के अर्थ को समझ सकेंगे,
* सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों की विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे,
* भारत के प्रमुख समाज सुधार आन्दोलनों एवं उनके प्रभाव की विवेचना कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

* प्रस्तुत इकाई विभिन्न समाज सम्बन्धी आन्दोलनों के विवेचनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित है। इस इकाई में सुधारवादी आन्दोलनों का भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा, इससे भी परिचित कराया गया है। सर्वप्रथम सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन का अर्थ स्पष्ट किया गाय है ताकि आप सम्पूर्ण विवेचना को सरलता कें साथ समझ सकें।

* सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों को जिन विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट किया गया है कि वे सभी विशेषतायें विभिन्न आन्दोलनों से जुड़ी हुई है।

* इस इकाई में हम आपको सुधार सम्बन्धी विभिन्न आन्दोलनों से अवगत करा रहे हैं। इसीलिए हम इकाई में प्रत्येक आन्दोलन के प्रत्येक पहलू को प्रस्तुत कर रहे है और आफके लिए यथा स्थान अभ्यास प्रश्न भी दिये गये है। आप अभ्यास कार्य मेहनत से करें ताकि आप परीक्षा की तैयारी अच्छे ढंग से कर सकें।

16.2 सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन : एक अवधारणात्मक व्याख्या

समाज सुधार का भारत मे एक विशेष महत्व रहा है सामज सुधार के अन्तर्गत कई आन्दोलन एवं कार्य पद्धतियाँ देश के भिन्न-भिन्न भागों में चलती रही हैं तथा चलती रहेंगी। समाज सुधार का अर्थ होता है समाज में सुधार करना। इससे स्पष्ट है कि जब इस समाज की समस्याओं के निराकरण का प्रयास करते है तो वह समाज सुधार कहलाता है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। समस्त सामाजिक संस्थायें मिलकर सामज का निर्माण करती हैं अत: हम यह कह सकते हैं कि समाज सुधार का अभिप्राय सामाजिक संस्थाओं के प्रतिमानों के परिवर्तन से होता है। समाज सुधार तथा सामाजिक संस्था में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है एक ही वस्तु के ये दो पक्ष है।

प्राचीन भारत में समाज सुधार का अर्थ दो रुपों में होता था। प्रथम तो बहुत संकुचित या सीमित रुप में और द्वितीय व्यापक या विशाल रुप में। इस प्रकार के आन्दोलनों का उद्देश्य किसी सामाजिक कुरीति को समाप्त करना अथवा विशिष्ट (सामान्यत: निम्न एवं दलित) सामाजिक समूहों के उत्थान के लिए उन्हें विशेषाधिकार एवं विशेष सुविधायें दिलवाना है। ऐसे आन्दोलन खुले रुप में होते है और ऐच्छिक समितियों का निर्माण करने हेतु एक विशेष प्रकार के जनमत को संगठित करने का प्रयास करते है। सुधारात्मक आन्दोलनों का उद्देश्य सम्पूर्ण व्यवस्था में परिवर्तन करना नहीं होता, अपितु इसके किसी एक भाग (जिसे अच्छा नहीं समझा जाता अथवा जिससे कुरीति सम्बन्धी है) को परिवर्तित करना होता है।

NMDC-102

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में समाज सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हूआ। 1828 में राजाराम मोहन राय द्वारा स्थापित ''ब्रह्म समाज'', सन् 1875 में स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित ''आर्य समाज'', तथा 1897 में विवेकानन्द द्वारा स्थापित ''रामकृष्ण मिशन'' आदि संस्थायें इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सन 1905 में गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा स्थापित ''सर्वेण्ट ऑफ इण्डिया सोसाइटी'', 1926 में ''ऑल इण्डिया वीमेन्स कॉन्फ्रेन्स'' तथा सन 1942 में महात्मा गाँधी द्वारा ''हरिजन सेवा संघ'' आदि स्थापित हुए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में समाज सुधार का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाने लगा है। जैसे सब नागरिकों में शिक्षा का प्रसार, देशवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न, अपराधों में सुधार, अच्छे राजनैतिक संगठन की स्थापना करना, निम्न कोटि के लोगों की दशा सुधारना तथा वेश्यावृत्ति और मद्यपान का निषेध इत्यादि कुरीतियों को दूर करने हेतु प्रयत्न किये जा रहे हैं। ये सभी समाज सुधार के ही अंग माने जाते हैं। आचार्य गोरे ने लिखा है कि समाज सुधार का मन्तव्य सामाजिक संस्थाओं के परिवर्तन से है। समाज सुधार सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है। समाज सुधार किसी समुदाय के जीवन के प्रतिमानो में परिवर्तन को लक्षित करता है। अत: स्पष्ट रुप से हम कह सकते हैं कि समाज सुधार समाज के मूल्यों एवं ढांते में परिवर्तन हैं। जैसे हरिजनों की स्थिति में परिवर्तन की मांग करना, जाति प्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न करना आदि समाज सुधार के प्रयत्न हैं। इस प्रयत्नों के द्वारा हम वर्तमान सामाजिक ढांचे एवं मूल्यों में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् एक नवीन समाज का निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं।

समाज सुधार हमारे देश की परम्परा रही है। अनेक समाज सुधारक जैसे - स्वामी दयानन्त सरस्वती, राजाराम मोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, जस्टिस रानाडे, देवेन्द्रनाथ.टैगोर, ड० भण्डारकर, गोपाल कृष्ण गोखले, चिन्तामणि, नरेन्द्र नाथ सेन, लाला बैजनाथ, महात्मा गाँधी, ठक्कर बापा, विनोबा भावे व पण्डित नेहरु आदि समय-समय पर समाज सुधार के कार्य करते रहे हैं।

समाज सेवा कार्य तथा समाज सुधार सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन लाता है तथा समाज सेवा कार्य किसी सामाजिक संस्थान के प्रतिमान की सीमाओं में रहते हुए उन व्यक्तियों तथा समूहों के लिए कल्याण कार्य करता है जो सामाजिक संस्थाओं से अपना सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते हैं। समाज सेवा कार्य प्राथमिक रुप से वर्तमान सामाजिक मूल्यों की सीमाओं में रहते हुए कल्याण कार्य से सम्बन्धित है, जैसे अनाथ बालकों के लिए अनाथालय चलाना, बाल अपराधियों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध करना आदि समाज सेवा कार्य है। सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलन को और अच्छे ढंग से समझने के लिए आपको अंग्रलिखित बिन्दुओं पर ध्यान देना होगा।

NMDC-102

* सामान्यत : सुधारवादी आन्दोलनों का उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था में सुधार करना अथवा किसी सामाजिक कुरीति को समाप्त करना।
* सुधारवादी आन्दोलनों का कार्यक्षेत्र सीमित होता है अर्थात् इसका प्रभाव सीमित क्षेत्र, विशेष रुप से कुरीति द्वारा प्रभावित क्षेत्र में ही अधिक होता है।
* इन आन्दोलनो में सामान्यत: सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित मान्यताओं एवं प्रथाओं को स्वीकार किया जाता है तथा इनके नैतिक औचित्य पर प्रहार नहीं किया जाता।
* सुधारवादी आन्दोलनों को अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है तथा समाज के अधिकांश संगठन ऐसे आन्दोलनों में सामान्यत: समर्थन प्रदान करते हैं।
* सुधारवादी आन्दोलनों की कार्यविधि केवल आन्दोलन के अनुकूल जनमत बनाने तक ही सीमित होती है। इनमें हिंसक कार्यविधि की सम्भावना नहीं होती।
* सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव सामान्यत: उन वर्गों पर ही पड़ता है जिनके उत्थान के लिए इन्हें चलाया जाता है।

आधुनिक भारत में पाश्चात्य संस्कृति के बुद्धिवाद, क्रियावाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से प्रभावित ऐसे बुद्धिजीवियों का उदय हुआ, जिन्होंने समाज सुधार आन्दोलनों की श्रृंखला प्रारम्भ की।

16.3 सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों की विशेषतायें

सुधारवादी सामाजिक आन्दोलनों की अवधारणात्मक विवेचना से निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं-

* सुधारवादी आन्दोलनों का उद्देश्य किसी निश्चित उद्देश्ये को ही प्राप्त करना होता है।
* सुधारवादी आन्दोलन समाज में सत्ता विभाजन के केवल किसी एक भाग में ही परिवर्तन करने का प्रयत्न करते हैं।
* सुधारवादी आन्दोलनों का उद्देश्य किसी समाज के निश्चित वर्ग के लिए कुछ अधिकार तथा सुविधायें दिलवाना होता है।
* सुधारवादी आन्दोलन अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वामपंथी तथा दक्षिण पंथी विचारधाराओं में से किसी का भी प्रयोग कर सकते हैं।
* सुधारवादी आन्दोलनों को उतना अवैध नहीं समझा जाता, जितना कि क्रान्तिकारी आन्दोलनों का समझा जाता है, क्योंकि वे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध नहीं होते। उनका उद्देश्य तो वर्तमान सामाजिक मूल्यों को तथा सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करते हुए केवल उसके किसी निश्चित भाग में ही परिवर्तन करना होता है।

16.1 भारत के प्रमुख समाज सुधार आन्दोलन एवं उनका प्रभाव

भारत में निम्नलिखित समाज सुधार आन्दोलनों का महत्वपपूर्ण स्थान रहा है इनमें समकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति की रचना में व्यापक प्रभाव पड़े हैं।

16.4.1 प्रार्थना समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

इस आन्दोलन का श्रीगणेश महादेव गोविन्द रानाडे ने किया। रानाडे का जन्म का जन्म 18 जनवरी सन 1842 को नासिक जनपद के चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वह एक सुप्रसिद्ध न्यायविद, अर्थशास्त्री, साहित्यकार, राजनीतिज्ञ, इतिहासकार एवं समाज सुधारक थे। उन्होनें सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर समाज के बौद्धिक और आध्यात्मिक पुनरूत्थान के लिए बम्बई में 31 मार्च 1867 को प्रार्थना समाज की स्थापना की। प्रार्थना समाज के मुख्य नियम एवं सिद्धांत निम्नलिखित थे।

* ईश्वर एक है और वही इस ब्रह्माण्ड का रचयिता है।
* ईश्वर की आराधना से ही इस संसार और दूसरे संसार में सुख प्राप्त हो सकता है।
* ईश्वर के प्रति प्रेम और श्रद्धा, उसमें अनन्य आस्था, प्रेम, श्रद्धा और आस्था की भावनाओं सहित आध्यात्मिक रूप से उसकी प्रार्थना और उसका कीर्तन ईश्वर को अच्छे लगने वाले कार्यों को कराना—यह ही ईश्वर की सच्ची आराधना है।
* मूर्तियों अथवा अन्य मानव सृजित वस्तुओं की पूजा करना, ईश्वर की आराधना का सच्चा मार्ग नहीं है।
* ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता और कोई भी एक पुस्तक ऐसी नहीं है जिसे स्वयं ईश्वर ने रचा हो अथवा प्रकाशित किया हो अथवा जो पूर्णत: दोषरहित हो।
* सभी मनुष्य ईश्वर की संतान है, अत: उन्हें बिना किसी भेदभाव के आपास में भाई-भाई की तरह व्यवहार करना चाहिए। इससे ईश्वर प्रसन्न होता है और वही मनुष्य का कर्त्तव्य है।

रानाडे उत्कृष्ट सुधारवादी थे एवं रूढ़ियों को मिटाकर वे हिन्दुत्व का निर्मल रूप प्रस्तुत करना चाहते थे। रानाडे के नेतृत्व में प्रार्थना समाज के अन्तर्गत जाति प्रथा, बाल-विवाह मूर्ति पूजा, विधवा पुनर्विवाह निषेध, धार्मिक अन्धविश्वासों, अस्पृश्यता आदि कुरीतियों एवं समस्याओं के विरुद्ध आन्दोलन चलाया गया। स्त्री शिक्षा, विभिन्न जातियों, धर्मों एव सम्प्रदायों के बीच भाई-भाई की भावना, अनाथालयों एवं विधवाश्रमों की स्थापना, स्त्रियों को सामाजिक अधिकार दिलाने तथा अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देने हेतु प्रयास किये गये। बाल विवाह के विरोध तथा विधवा पुनर्विवाह के प्रचलन के प्रति जागरूकता पैदा करने क लिए रानाडे ने ''विधवाओं के पुनर्विवाह के समर्थन में वेद'' तथा ''बाल-विवाह के विरुद्ध शास्त्रों का मत'' नामक ग्रन्थ लिखें।

प्रार्थना समाज द्वारा किये जाने वाले समाज सुधार कार्यक्रमों के पीछे रानाडे का मूल उद्देश्य

देव में नव जागरण लाना था। इसी प्रकार वे देश में सामाजिक तथा राजनैतिक एकता को भी स्थापित करने के पक्षधर थे। ताकि राष्ट्रीयता की भावना सुदृढ़ हो सके। रानाडे सामाजिक और धार्मिक सुधारों और राजनीति में अटूट सम्बन्ध समझते थे। रानाडे ने यद्यपि प्रत्यक्षत: राजनीति के क्षेत्र में कोई कार्य नहीं किया, किन्तु प्रार्थना समाज के माध्यम से किये गये सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्र के सुधार कार्यों से भारतीय राजनीति अप्रभावित नहीं रही, अपितु अत्यधिक प्रभावित हुई।

16.4.2 ब्रह्म समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

22 मई 1772 को बंगाल में हुगली जिले के राधानगर ग्राम के एक ब्राह्मण परिवार में जन्में राजा राम मोहन राय ने अपने धार्मिक तथा सामाजिक विचारों को व्यावहारिक रूप देने के उद्देश्य से 20 अगस्त 1828 को ब्रह्म समाज की स्थापना की। यह संगठन पूरी तरह भारतीय था, जिसने धर्म से जुड़े हुए अन्धविश्वासों की जड़ों पर कुठाराघात करते हुए वैज्ञानिक समाज की संरचना पर जोर दिया। रामधारी सिंह दिनकर का कथन है कि "यूरोप के सम्पर्क से जैसे भारत में नयी मानवता का हिन्दुत्व का एक विशिष्ट रूप था। इसने मूर्ति पूजा का बहिष्कार किया, अवतारों को नहीं माना और लोगों का ध्यान उस निराकार निर्विकार एक ब्रह्म की ओर आकृष्ट किया, जिसका निरूपण वेदान्त में हुआ है। किन्तु ब्रह्म समाज की इससे भी बड़ी विशेषता यह थी कि यह सभी धर्मों के प्रति सहानुभूतिशील और उदार था। राजाराम मोहन राय ने समाज के लिए जो भवन खड़ा किया उसके ट्रस्ट के दस्तावेज में (सन 1830 ई०) स्पष्ट प्रतिबन्ध रखा गया था कि इस समाज में होने वाली पूजा में किसी भी ऐसी सजीव या निर्जीव वस्तु की निन्दा नहीं की जायेगी, जिसकी थोड़े से लोग भी पूजा या आराधना करते हों या इस समाज में केवल ऐसे ही उपदेश दिये जायेंगे जिनमें सभी धर्मों के लोगों के बीच एकता, समीपता और सद्भाव की वृद्धि होती हो।" (रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय)।

इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म समाज केवल हिन्दू धर्म तक ही सीमित नहीं था, बल्कि इसका उद्देश्य धार्मिक सुधार और अन्तत: सामाजिक सुधार था। इसका सही उद्देश्य मानवतावादी था। यह राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत मानव समाज के उत्थान के लिए बना था। यद्यपि सुधारात्मक रूप से इसे शिक्षित हिन्दुओं ने अपनाया तथापित जाति-पांति, छुआ-छूत तथा धार्मिक अन्धविश्वासों और कुरीतियों को दूर करने के रूप में ब्रह्म समाज ने हिन्दू धर्म और जीवन दर्शन को भी बहुत अधिक प्रभावित किया। ब्रह्म समाज के सिद्धान्त एवं मान्यताओं को अग्रलिखित दो भागों में बांटा गया है, (अ) धार्मिक सिद्धान्त एवं मान्यतायें (ब) सामाजिक सिद्धान्त एवं मान्यतायें।

(अ) धार्मिक सिद्धान्त एवं मान्यतायें

* ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्वदृष्टा तथा समस्त सृष्टि का पालनकर्ता है।
* द्वैतवाद का खण्डन करते हुए, एकेश्वरवाद का समर्थन।

NMDC-102

* आत्मा अमर है।

* ईश्वर के समक्ष सभी व्यक्ति साधन हैं, अत: सभी ईश्वर की उपासना कर सकते हैं।

* पाप के त्याग और पश्चाताप से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

* ईश्वर निर्गुण है उसका जन्म अथवा अवतार नहीं होता।

* सभी धर्म समान हैं। सभी का सम्मान किया जाना चाहिए तथा सभी धार्मिक ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा का भाव रखना चाहिए।

* कोई भी पुस्तक त्रुटिहीन या दैवीय नहीं है।

* ईश्वर में पितृ भावना, मनुष्य मात्र में, भ्रातृ-भावना और जीवों के प्रति दया का भाव ही सभी धर्मों का सार है।

(ब) सामाजिक सिद्धान्त और मान्यतायें

* विश्व-बन्धुत्व की भावना में सम्पूर्ण विश्वास

* बाल विवाह अनुचित

* विधवा पुनर्विवाह उचित

* जाति भेद का विरोध

* अस्पृश्यता का विचार अनुचित

* बाल-हत्या अपराध

* अंधविश्वासों, रूढ़ियों तथा भ्रमपूर्ण परम्पराओं का त्याग

* प्रेम, दया, भक्ति का प्रचार

ब्रह्म समाज ने सुधार, धर्म सुधार, शिक्षा सुधार तथा राष्ट्रीय सुधार के द्वारा आधुनिक भारत के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह पहली संस्था थी जिसने भारतीय समाज की आवश्यकताओं और समस्याओं को भारतीयों के सामने बौद्धिक जागृति पैदा करने के उद्देश्य से रखा।

16.4.3 आर्य समाज आन्दोलन एवं उसका प्रभाव

काठियावाड़ की पृष्ठभूमि में जन्में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् 1875 में मुम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। आर्य समाज के प्रमुख सिद्धान्त एवं नियम निम्न प्रकार हैं:-

* सब सत विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

* ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा अनन्त निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करना उचित है।

* वेद सम सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

* सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

* सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

* संसार का उपकार करना अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।

* सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य, बर्ताव करना चाहिए।

* अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

* प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

* सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

आर्य समाज आन्दोलन ने नाना प्रकार की कुप्रथाओं तथा समस्याओं से पीड़ित भारतीय सामाजिक जीवन को पूर्णतया संजीवित कर प्रभावित किया। यथा, उन्होंने दलित जातियों के उद्धार और जन्म पर आधारित जाति-पति के भेद-भाव को दूर करने पर बल दिया। हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय भाषा बनाने के लिए भी उन्होंने आर्य भाषा हिन्दी में अनेक ग्रंथ लिखे। राजनैतिक चेतना को जागृत करने की दिशा में भी आर्य समाज आन्दोलन का सक्रिय योगदान रहा। परिणामस्वरूप राजनीतिक दासता जनित राष्ट्र की दुरावस्ता पर लोगों का ध्यान गया और 'स्वराज्य' की भावना जागृत हुई। राष्ट्रीय शिक्षा के विस्तार की दिशा में भी आर्य समाज का योगदान सराहनीय रहा है। राष्ट्रीय जागृति और उसके द्वारा स्वराज्य की प्राप्ति की आर्य समाज की एक बड़ी देन ''गुरूकुल की शिक्षा प्रणाली'' के रूप में मिली। लड़के एवं लड़कियों (दोनों) के लिए गुरूकुल की स्थापना के साथ-साथ डी०ए०वी० स्कूल एवं कालेजों का एक बड़ा जाल सा देश के विभिन्न भागों में फैलाकार आर्य समाज ने शिक्षा के विस्तार में योगदान दिया, उससे भारतीय समाज गहरे तक प्रभावित हुआ। स्त्री शिक्षा का जोरदारा समर्थन और उसके लिए आर्य विद्यालयों की स्थापना वास्तव में एक नये युग का सूत्रपात करता है। फलत: स्त्री शिक्षा की मानो बाढ़ सी आ गयी। कन्या पाठशालाओं के अतिरिक्त अनेक स्थानों पर विधवा आश्रम तथा अनाथ कन्या आश्रमों की भी स्थापना आर्य समाज द्वारा की गयी, जिसके फलस्वरूप भारतीय स्त्री समाज तो प्रभावित हुआ ही, साथ ही पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता में भी परिवर्तन आया। दलितोद्वार की दिशा में भी आर्य समाज के प्रयत्न आरम्भ से ही सरहानीय थे। महर्षि दयानन्द जन्म के आधार पर जाति-पाति के भेदभाव को शास्त्र और युक्ति दोनों के विरुद्ध मानते थे। अत: आर्य समाज द्वारा अस्पृश्यता को दूर करने का कार्य किया गया, जिसमें उसे काफी हद तक सफलता मिली।

स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए स्त्रियों में जो शिक्षा का अभाव, पर्दा प्रथा, बहुपत्नी विवाह

प्रथा, विधवाओं के विवाह पर निषेध तथा सती प्रथा आदि का प्रचलन था, उन दोषों की दीवारों को आर्य समाज ने हिला दिया। इन दोषो के विरुद्ध जनमत को जागृत कर दिया और उनको दूर करने के लिये क्रियात्मक कदम उठाया। इसी प्रकार बाल विवाह के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने में भी आर्य समाज ने योगदान दिया। महर्षि दयानन्द ने पुरुष और स्त्री के लिये विवाह की कम से कम आयु 24 और 16 वर्ष ठहरायी थी। दहेज प्रथा को भी आर्यसमाजियों ने बुरा बताया।

अत: स्पष्ट है कि आर्य समाज आन्दोलन ने विभिन्न प्रकार की कुप्रथाओं तथा समस्याओं से पीड़ित भारतीय सामाजिक जीवन को पूर्णतया संजीवित किया।

16.4.4 थियोसॉफिकल सोसायटी एवं उसका प्रभाव—रूसी महिला श्रीमती ब्लावत्स्की और कर्नल ओलकोट ने 1882 में मद्रास में न्यूयार्क की थियोसॉफिकल सोसायटी की स्थापना की। सन् 1893 में श्रीमती एनीबेसेंट भारत आयी। उन्होंने रूसी महिला के साथ मद्रास में समाज सुधार आन्दोलन का कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। इस आन्दोलन ने भारत में बाल-विवाहों का विरोध किया और अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित किया। जातिगत दूरी, खानपान के प्रतिबन्धों, अशिक्षा, गंदगी, गरीब इत्यादि सामाजिक समस्याओं के प्रति जन आन्दोलन विकसित किये। अछूतोद्धार के रचनात्मक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करवाया। इस प्रकार भारत में सुधार आन्दोलन के रूप में थियोसॉफिकल सोसायटी की दशा में सुधार के प्रयत्न किये, सामाजिक सेवाओं के लिये बाल-स्काउट संगठन विकसित किया और मानवतावादी मूल्यों को प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप भारतीय समाज का एक बड़ा हिस्सा इस संस्था से प्रभावित हुआ।

16.4.5 रामकृष्ण मिशन एवं उसका प्रभाव—पश्चिमीकरण के बुद्धिवाद, क्रियावाद और विज्ञान के मूल्यों से प्रभावित स्वामी विवेकानन्द ने अपने मार्गदर्शक गुरु स्वामी रामकृष्ण परमहंस की स्मृति में 1897 ई० में रामकृष्णन मिशन की स्थापना की। इस संगठन को स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानंद, स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी शारदानंद, शुद्धानंद, विरजानंद आदि ने पल्लवित एवं पुष्पित किया। यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने, ब्रह्म समाजियों, प्रार्थना समाजियों एवं आर्य समाजियों की भांति समाज सुधारक आन्दोलनों को विकसित नहीं किया, तथापि उन्होंने हिन्दू धर्म को सार्वभौमिक धर्म बनाने का प्रयत्न किया। वह सम्मेलनों, सभाओं लेखों आदि में यूरोप अमेरिका आदि राष्ट्रों में अपने भ्रमण के अनुभवों के वर्णन प्रस्तुत करते हुये भारतीय समाज के जातिगत बंधनों एवं स्त्रियों की दयनीय दशाओं की निंदा करते थे। वह भगवान का रूप दु:खी दरिद्र एवं असहाय लोगों की सेवा में देखा करते थे, इसलिये मानव मात्र की सेवा के लिये उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इसकी अनेक शाखाओं ने सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत प्राकृतिक विपत्तियों जैसे बाढ़ अकाल आदि से पीड़ितों की सेवाओं, अनेक रोगों से पीड़ित असहाय जनता की सेवाओं आदि की ओर महत्वपूर्ण कार्य किये। इस प्रकार रामकृष्ण मिशन ने अनेक सार्वजनिक संस्थाओं जैसे स्कूलों, कालेजों, अस्पतालों शिशु-गृहों, अनाथालायों, होस्टलों इत्यादि को स्थापित करके भारतीय समाज में पुनर्जागरण विकसित किया।

NMDC-102

16.4.6 नामधारी आन्दोलन एवं उसका प्रभाव—सिक्खों के संत बाबा रामसिंह ने पंजाब में नामधारी सुधार आन्दोलन को शक्ति प्रदान की। इस आन्दोलन ने समाज की बुराइयां जैसे बाल विवाह, कन्यावध, पर्दा दहेज, दावत आदि को दूर करने के अभियान छेड़े और उनमें उसे महत्वपूर्ण सफलतायें भी प्राप्त हुयी। इस आन्दोलन ने नशीली वस्तुओं के सेन को समाप्त कर दिया। नामधारियों ने समाज की बुराइयों के खिलाफ प्रबल आन्दोलन छोड़ा। उन्होंने पर्दा, बाल विवाह और कन्यावध को अपने सम्प्रदाय से बिलकुल उखाड़ दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने विधवा विवाह और स्त्री शिक्षा का काफी प्रचार किया और स्त्री को पुरुष के बराबर दर्जा दिया। जाति-पांति के तो वे बिल्कुल ही खिलाफ थे और छोटे बड़े सब को बराबर समझते थे। शादी विवाह पर दावत, दहेज, सजावट और रौनक पर उन्होंने पूरी पाबन्दी लगायी, जिससे देहात के लोगों की कर्जदारी बहुत कम हो गयी और वे साहूकारों के चंगुल से बहुत कुछ बच सके।

16.4.7 मुस्लिम सुधार आन्दोलन एवं उसका प्रभाव—सन् 1816 में दिल्ली के एक कुलीन परिवार मे जन्में सर सैय्यद अहमद खाँ ने मुसलमानों की पुरातनपंथिता और रूढ़िवादिता के विरुद्ध सुधार आन्दोलन की नींव डाली। वह पश्चिमीकरण की प्रक्रिया से प्रभावित थे। उन्होंने "तहजीबुल अखलाक" नामक उर्दू पत्रिका के द्वारा मुसलमानों को आधुनिक शिक्षा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास एवं समाज सुधार आन्दोलनों की ओर प्रेरित किया। उन्होंने कहा कि इस्लाम ब्याज लेने की इजाजत देता है। यदि कोई पति अपनी सभी पत्नियों को समान न्याय नहीं दे सकता तो उसे बहुपतित्व की प्रथा को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिये। उन्होंने कहा कि इस्लाम में सम्प्रदाय प्रेम (हब्बे इमानी) का पूरक है। उन्होंने मुस्लिमों को व्यवहारवादी एवं लौकिक बनने की सलाह दी। सन् 1875 में सैय्यद साहब ने अलीगढ़ में एक विद्यालय स्थापित किया जो आज "अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय" के रूप में फल-फूल रहा है।

16.4.8 गांधी का सुधार आन्दोलन एवं उसका प्रभाव—बीसवीं सदी के समाज सुधारकों में महत्मा गांधी का प्रमुख स्थान है। यद्यपि आपने अपने सुधार आन्दोलन में विविध कार्यक्रमों जैसे किसानों एवं श्रमिकों की दशाओं में सुधार एवं बाल विवाह, विधवा विवाह, पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, वेश्यावृत्ति और देवदासी प्रथा के विरोध आदि को शामिल किया तथापि इनका प्रमुख सुधार कार्यक्रम दलित वर्गों के उत्थान और हिन्दू-मुस्लिम एकता में निहित है। गांधीजी ने अछूतोद्धार के लिये जीवन भर सतत् प्रयत्न किया। 1904 में महात्मा गांधी के राजनैतिक गुरु गोपाल कृष्ण गोखले ने दलित वर्गों के उत्थान के लिये शपथ ली। गोखले से प्रभावित गांधी जी ने "हरिजन सेवक समाज" नामक संगठन स्थापित करके अछूतोद्धार से सम्बन्धित कार्यक्रमों को कार्यान्वित किया। महात्मा गांधी की स्पष्ट धारणा थी कि "भारतीय जीवन में अस्पृश्यता एक कलंक है। छुआछूत धर्म का अंग नहीं है, बल्कि उसमें पैदा हुयी सड़न है, वहम है, पाप है और उसको दूर करना हममें से प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कर्तव्य है।" गांधी जी का विचार था कि समाज के सभी व्यक्तियों को एक जैसी समानता एवं स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। सर्वोदय समाज में प्रत्येक सदस्य एक समान हैं अर्थात् न कोई छोटा है और न कोई

बड़ा। भारतीय स्त्रियों की दुर्दशाओं को अवलोकित करके उनमें जागरूकता उत्पन्न करने के उन्होंने भरसक प्रयत्न किये। उन्होंने भारतीय पर्दा प्रथा और विशेष तौर पर घूंघट निकालने की प्रथा की कटु निन्दा की। उन्होंने भारतीय स्त्रियों को पर्याप्त संख्या में राजनैतिक समितियों में सेवायें करने की ओर प्रेरित किया। इस प्रकार एक समाज सुधारक के रूप में गांधीजी ने जीवन भर भारतीय सामाजिक संरचना को शान्तिपूर्ण साधनों के द्वारा पूर्णरूपेण परिवर्तित करने की भरसक चेष्टा की। परिणामस्वरूप भारतीय समाज में अद्वितीय परिवर्तन परिलक्षित हुये।

अत: स्पष्ट होता है कि भारत में समय-समय पर हुये विभिन्न समाज सुधार आन्दोलनों के परिणामस्वरूप व्यापक परिवर्तन दिखलाई पड़े हैं। आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन ने देश में राष्ट्रीयता की भावना का विकास किया। विभिन्न आन्दोलनों के समर्थकों ने शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की। सती प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह प्रथा, मद्यपान, अस्पृश्यता, दहेज प्रथा आदि कुप्रथाओं को दूर करने की दिशा महत्वपूर्ण सुधार हुआ, स्त्रियों और पिछड़े वर्गों की स्थिति में सुधार हुआ और वे समाज के अन्य वर्गों के समकक्ष आने लगे।यद्यपि ये आन्दोलन अपने उद्देश्यों में पूर्णतया सफलता प्राप्त नहीं कर सके, क्योंकि इनके पास बहुत कम साधन थे, किन्तु फिर भी इन आन्दोलनों के माध्यम से जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुयी, वह देश को स्वतन्त्रता मिलने के बाद राष्ट्रीय सरकार के सहयोग और प्रयासों से आगे बढ़ रही है। भारत में लागू आरक्षण व्यवस्था इसका एक सशक्त उदाहरण है। समाज सुधार की इस प्रक्रिया में जनता का भी सहयोग मिल रहा है।

16.5 सारांश

* इस इकाई के अन्तर्गत आपने "भारत में समाज सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों" की विस्तृत जानकारी प्राप्त की। अब आप समाज सुधार एवं सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों, उनकी विशेषताओं तथा भारत में चलाये गये विभिन्न समाज सुधार सम्बन्धी सामाजिक आन्दोलनों एवं समाज एवं समाज पर पड़ने वाले उनके प्रभावों से अवगत हो गये हैं।

* जहां तक सुधारवादी आन्दोलनों की विशेषताओं का प्रश्न है तो निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि इस प्रकार के आन्दोलन एक निश्चित भाग में तथा एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलाये जाते हैं। साथ ही एक निश्चित सामाजिक वर्ग के लिये भी होते हैं। ये आन्दोलन सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध नहीं होते अपितु समाज की व्यवस्था के किसी एक निश्चित भाग में परिवर्तन करने के लिय चलाये जाते हैं।

* वास्तव में देखा जाये तो भारत में चलाये गये समस्त सुधारवादी आन्दोलनों, यथा प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, मुस्लिम सुधार आन्दोलन आदि सभी में निश्चितता एक प्रभुत्व गुण रहा है। यद्यपि सभी आन्दोलन अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल नहीं हो पाये किन्तु स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय सरकारों को उनसे एक दिशा अवश्य मिल सके, जिस ओर निरन्तर प्रयास जारी हैं।

16.7 सन्दर्भ ग्रन्थ/सहायक पुस्तकें

1. एस. नटराजन : ए सैन्चुरी आफ सोशल रिफार्मस इन इण्डिया
2. कैमरौन : माडर्न सोशल मूवमैन्ट्स
3. ब्लूमर : कलैक्टिव बिहेवियर

16.6 सम्बन्धित प्रश्न

बोध प्रश्न

1. ब्रह्म समाज की स्थापना किसने और किस सन् में की? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

   (अ) राजाराम मोहन राय (1828) ( )

   (ब) राजाराम मोहन राय (1832) ( )

   (स) विवेकानन्द (1526) ( )

   (द) महात्मा गाँधी (1930) ( )

2. रामकृष्ण मिशन की स्थापना किस सन् में हुई? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

   (अ) 1897 ( )

   (ब) 1895 ( )

   (स) 1826 ( )

   (द) (1880) ( )

3. सुधारवादी आन्दोलनों की विशेषताओं के प्रमुख तत्वों के विषय में बताइये । (उत्तर तीन पंक्तियों में दें)।

   .....

   .....

   .....

4. प्रार्थना समाज के प्रवर्तक महादेव गोविन्द रानाडे का जन्म कब हुआ था? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

   (अ) 18 जनवरी 1842 ( )

   (ब) 18 फरवरी 1842 ( )

   (स) 18 मार्च 1842 ( )

   (द) 18 दिसम्बर 1842 ( )

5. "बाल विवाह के विरूद्ध शास्त्रों का मत" नामक ग्रन्थ किसने लिखा? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

(अ) महादेव गोविन्द रानाडे ( )

(ब) पंडित नेहरु ( )

(स) राजाराम मोहन राय ( )

(द) बाल गंगाधर तिलक ( )

6. आर्य समाज की स्थापना किस सन् में हुई थी? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

(अ) 1875 ( )

(ब) 1775 ( )

(स) 1820 ( )

(द) 1935 ( )

7. "तहजीबुल अखलाक" नामक उर्दू पत्रिका के माध्यम से किसने मुसलमानों को समाज सुधार आन्दोलनों की ओर प्रेरित किया? (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

(अ) मोहम्मद साहब ने ( )

(ब) सर सैय्यद अहमद खाँ ने ( )

(स) गुलाम मुस्तफा सूफी ने ( )

(द) डा. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम ने ( )

8. किसने कहा था "भारतीय जीवन में अस्पृश्यता एक कलंक है, छुआछूत धर्म का अंग नहीं है।" (सही उत्तर के सामने सही (✔) का निशान लगायें)

(अ) इन्दिरा गाँधी ने ( )

(ब) महात्मा गाँधी ने ( )

(स) राजीव गाँधी ने ( )

(द) सोनिया गाँधी ने ( )

9. बोध प्रश्नों के उत्तर

1. देखें (4.2 व 4.4.2)
2. देखें (4.2 व 4.4.5)
3. देखें (4.3)
4. देखें (4.4.1)
5. देखें (4.4.1)

6. देखें (4.4.3)
7. देखें (4.4.7)
8. देखें (4.4.8)

अभ्यास

अभ्यास सम्बन्धित उत्तर इकाई पढ़कर स्वयं लिखें और परामर्शक को दिखायें।

NOTES

खण्ड

5

भारतीय समाज में निरन्तरता एवं परिवर्तन

इकाई 17
संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण तथा संस्थागत परिवर्तन

इकाई 18
नगरीकरण एवं औद्योगीकरण का सामाजिक प्रभाव

इकाई 19
उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण के सामाजिक सांस्कृतिक परिणाम

इकाई 20
भारतीय समाज में आधुनिकीकरण: परम्परा एवं आधुनिकता

NMDC-102

परामर्श समिति

प्रो. केदार नाथ सिंह यादव, कुलपति	अध्यक्ष
डॉ. हरीश चन्द्र जायसवाल, वरिष्ठ परामर्शदाता	कार्यक्रम संयोजक
प्रो के.पी. सिंह, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. अर्जुन तिवारी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
प्रो. ए.एन. द्विवेदी, वरिष्ठ परामर्शदाता	सदस्य
डॉ. रत्नाकर शुक्ल, कुलसचिव	सचिव

विशेषज्ञ समिति

प्रो० सी.एस. एस. ठाकुर आचार्य एवं अध्यक्ष, समाज शास्त्र विभाग रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर	विषय विशेषज्ञ
प्रो. जयकान्त तिवारी आचार्य समाजशास्त्र विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	विषय विशेषज्ञ
डॉ. मंजूलिका श्रीवास्तव रीडर, इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली	दूरस्थ शिक्षा विशेषज्ञ
प्रो. वी. के. पंत सेवा निवृत्त आचार्य एवं अध्यक्ष , समाज शास्त्र विभाग (कुमायुँ विश्वविद्यालय, नैनीताल) लखनऊ	सम्पादक

MASY-104 : – *भारतीय समाज : निरन्तरता एवं परिवर्तन*

लेखक मण्डल :

खण्ड एक :	**डॉ. जे. पी. मिश्र,** जे. एन. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखनऊ	3 इकाई
	डॉ. ए. एस. तिवारी, सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
खण्ड दो :	**डॉ. रश्मि त्रिवेदी,** रीडर, आर.बी.डी. स्नातकोत्तर महिला विद्यालय, बिजनौर	1 इकाई
	डॉ. ए. एस. तिवारी, सेवानिवृत्त रीडर, लखनऊ	2 इकाई
	डॉ. ए. के. सिंह, डी.ए.वी.पी.जी.कालेज, कानपुर	1 इकाई
खण्ड तीन :	**डॉ. अंशु केडिया,** ए.पी.सेन मेमो.पी.जी.कालेज, लखनऊ	4 इकाई
खण्ड चार :	**डॉ. अमरेश चन्द्र शुक्ला,** सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. रश्मि त्रिवेदी, रीडर, आर.बी.डी.स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिजनौर	3 इकाई
खण्ड पाँच :	**डॉ. ए. एस.तिवारी,** सेवा निवृत्त रीडर, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. डी.पी.बाजपेयी, सेवानिवृत आचार्य, लखनऊ	1 इकाई
	डॉ. जे.पी.मिश्र, जे.एन. स्नातकोत्तर महा. विद्यालय, लखनऊ	2 इकाई

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित, इस कार्य का कोई भी अंश उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुति अनुमन्य नहीं है।

NMDC-102

खण्ड - 5 : खण्ड परिचय - भारतीय समाज में निरन्तरता एवं परिवर्तन

इस खण्ड में भारतीय समाज में निरन्तरता एवं परिवर्तन की व्याख्या की गयी है। **पहली इकाई** का शीर्षक है ''संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण तथा संस्थागत परिवर्तन''। इसमें भारत में जाति और परिस्थिति गतिशीलता को स्पष्ट किया गया है। संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण की व्याख्या की गई है। **इकाई दो** का शीर्षक है ''नगरीकरण और औद्योगीकरण का सामाजिक प्रभाव है। इसमें नगरीकरण और औद्योगीकरण के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। भारतीय सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर औद्योगीकरण के प्रभाव की व्याख्या की गई है। **ईकाई तीन** का शीर्षक है ''उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण के सामाजिक, सांस्कृतिक परिणाम''। इसमें उदारीकरण के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। आर्थिक एवं सामाजिक उदारीकरण के अर्थ एवं प्रतिफल की धारणा की गयी है। भूमण्डलीकरण के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है। **ईकाई चार** का शीर्षक है ''भारतीय समाज में आधुनिकीकरण : परम्परा एवं आधुनिकता''। इसमें भारतीय समाज परम्परागत एवं आधुनिक रूप को स्पष्ट किया गया है। आधुनिकता के अर्थ एवं लक्षण को स्पष्ट किया गया है।

सामाजिक स्थिति को पूर्णरूप से ईश्वर का फैसला मान लेती तो अपनी वर्तमान स्थिति को सुधारने व जाति संस्तरण में ऊपर उठने का प्रयास न करती।

6. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक पद में परिवर्तन के लिए एक निम्न जाति दो या तीन पीढ़ी पूर्व अपना सम्बन्ध किसी ऊँची जाति से जोड़ती है यह एक प्रकार से अग्रिम समाजीकरण होता है यह प्रक्रिया एक प्रकार से सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का सूचक है जो नीच जातियों की इस महत्वाकांक्षा और प्रयत्न का द्योतक है कि वे ऊँची जातियों की जीवन शैली को अपनाये और अपनी जातीय स्थिति को ऊँचा उठायें।

7. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया एक दोहरी प्रक्रिया है इसमें सदैव ही निम्न जातियाँ ऊँची जातियों की संस्कृति को ग्रहण नहीं करती वरन् उच्च जातियां भी निम्न जातियों की संस्कृति के कुछ तत्वों को ग्रहण करती है।

8. जब किसी जातीय समूह का संस्कृतिकरण होता है तो वह किसी उच्च जाति की प्रथाओं और जीवन पद्धति को ही नहीं अपनाती बल्कि संस्कृत साहित्य में उपलब्ध कुछ नवीन विचारों एवम् मूल्यों को भी स्वीकार कर लेता है जैसे पाप-पुण्य, धर्म - कर्म, माया संसार,मोक्ष आदि।

संस्कृतिकरण निम्न जाति को उच्च पद प्राप्ति में सहायक न भी हो तो भी यह उसे मांस खाने, मदिरा पान को बन्द करने और कुछ सांस्कृतिक परम्पराओं, मूल्यों, विश्वासों व देवताओं को अपनाने से तो नहीं रोकता।

1.7 संस्कृतिकरण तथा भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के स्वरूप

संस्कृतिकरण की अवधारणा सामान्य रूप से भारतीय समाज और विशेष रूप से भारतीय जाति व्यवस्था में घटित होने वाले सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन को समझाने में काफी सहायक सिद्ध हुई है।

भारतीय सामाजिक सन्दर्भ में संस्कृतिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक निम्न जाति, उच्च जाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या प्रभुजाति के खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाजों, मूल्यों संस्कारों, विश्वासों और जीवन शैली को ग्रहण करती है। इस दृष्टिकोण से नीची जाति में होने वाले विभिन्न सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन को प्रकट करती है।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा एक निम्न जाति की स्थिति में पदमूलक परिवर्तन आ जाता है। यद्यपि संरचनात्मक परिवर्तन नहीं आता है फिर भी इससे उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जाती है।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया जाति प्रथा में गतिशीलता का सूचक है। भारतीय सामाजिक संगठन में जाति प्रथा एक अत्यन्त कठोर व्यवस्था है इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है। मनुष्य एक बार जिस जाति में जन्म ले लेता है फिर उसे बदल नहीं सकता आजीवन

उसी जन्मता, जाति का सदस्य बना रहता है किन्तु संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के माध्यम से यदा-कदा जाति बदलना सम्भव है।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया निम्न जातियों के विवाह एवं परिवार प्रतिमानों में होने वाले परिवर्तनों को भी प्रकट करती है संस्कृतकरण ग्रहण करने वाली जाति बाल विवाह करने लगती है विधवा विवाह निषेध का पालन करती है तथा संयुक्त परिवार परम्परा को उच्च जातियों की ही भाँति अपनाती है।

17.8 निष्कर्ष

संस्कृतिकरण के विस्तार का मूल आधार औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण, व्यवसायिक गतिशीलता, अति विकसित संचार साधन, प्रौद्योगिकी विकसित शिक्षा प्रणाली तथा पश्चिमीकरण को जाता है। संचार साधनों के विकास के कारण संस्कृतिकरण उन सुदूर क्षेत्रों में पहुंच गया जो पहले अगम्य और दूरूह थे, साक्षरता के विस्तार ने इस प्रक्रिया को जाति संस्तरण निम्न जातियों को आभास करा दिया जिससे निम्न जातियों में पदमूलक परिवर्तन की स्थिति सम्भव हो गई। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के संस्कार सभी हिन्दू जातियों एवम् अस्पृश्यों को भी सुलभ हो गये। विवाह व्यवस्था की परम्परायें जो केवल उच्च जातियं ही करती थीं निम्न जातियों तक सुलभ हो गई। आज निम्न जातियाँ भी अपनी बारात में दूल्हे को घोड़े या कार पर ही बैठा कर ले जाते हैं। इस प्रकार निम्न जाति के लोग ब्राह्मणों के सामाजिक एवम् संस्थागत आचार-विचार को सरलता से अपना लिया।

17.9 पश्चिमीकरण की अवधारणा

आधुनिक समय में पश्चिमीकरण ने भारत में सामाजिक पविर्तन के लाने में एक अति महत्वपूर्ण कार्य किया है। पश्चिमीकरण का अर्थ है पाश्चात्य नियमों, मूल्यों और संस्कृति को अपनी संस्कृति में सम्मिलित करना। ब्रिटिश शासन काल में पश्चिमीकरण का प्रभाव भारतीय समाज पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

डा0 एम. एन. श्रीनिवास भारतीय सामाजिक संगठन में परिवर्तन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए पश्चिमीकरण के प्रत्यय को प्रस्तुत किया। सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का सिद्धान्त यह मानता है कि परिवर्तन का स्रोत व्यवस्था के अन्दर तथा बाहर दोनो तरफ पाये जाते हैं। संस्कृतिकरण भारतीय जाति व्यवस्था के अन्तर्गत वास्तविक तथा आकांक्षित सांस्कृतिक गतिशीलता को प्रकट करती है। जबकि पश्चिमीकरण की अवधारणा उन परिवर्तनों की ओर इंगित करती है जो पश्चिम, विशेष रूप से ग्रेट ब्रिटेन के सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम है। पश्चिमीकरण, भारत में उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के ब्रिटिश शासन में उन परिवर्तनों का प्रतिफल कहा जा सकता है। पश्चिमीकरण की व्याख्या करते हुए डा. श्रीनिवास ने लिखा है "मैने पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग भारतीय समाज व संस्कृति में उन परिवर्तनों के लिए किया है जो एक सौ पचास वर्षों से अधिक समय के

ब्रिटिश राज्य के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं और यह शब्द प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, वैचारिकी और मूल्यों, आदि विभिन्न स्तरों पर घटित होने वाले परिवर्तनों का सम्मिलित है'' (एम. एन. श्रीनिवास, शोसल चेन्ज इन मार्डन इण्डिया, पृ0 47)

श्रीनिवास परिवर्तन की इस प्रक्रिया को आधुनिकीकरण के स्थान पर पाश्चात्यीकरण का नाम देना अधिक उचित मानते हैं। बड़े पैमाने पर पश्चिमीकरण में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवतावाद, समानता, आध्यात्म के बजाय भौतिकता पर बल, व्यक्तिवाद, समाज की विभिन्न समस्याओं के प्रति उदार दृष्टिकोण और बुद्धिवाद आदि शामिल हैं। देश में वैज्ञानिक प्रौद्योगिक और शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना राष्ट्रवाद का उदय, नयी राजनीतिक संस्कृति एवं नवीन नेतृत्व पश्चिमीकरण का ही परिणाम है। श्रीनिवास का विचार है कि पश्चिमीकरण सांस्कृतिकरण की प्रगति में अवरोध नहीं डालता वरन् दोनों साथ-साथ आगे बढ़ सकते हैं। पश्चिमीकृत व्यक्ति जाति के संसार में कम तथा वर्ग के संसार में अधिक रहते हैं। पश्चिमीकृत लोग अपनी परम्परागत जीवन शैली पद्धति को त्याग कर पश्चात्य प्रतिरूपों को अपनाने की ओर अग्रसर होते दिखाई देते हैं, दूसरी ओर जाति व्यवस्था में ऊँचा स्तर पाने के इच्छुक निम्न जातियाँ इस रिक्त स्थान की पूर्ति करते हुये संस्कृतिकरण के वे तत्व अपना रही हैं जो उच्च जातियों के लोग पश्चिमीकरण के प्रभाव में छोड़ रहे हैं।

ब्रिटिश शासन के विधिवत स्थापना के बाद भारत में अनेक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवम् प्रौद्योगिक ताकतें कार्य करने लगी। इन ताकतों ने धीरे-धीरे भारतीय सामाजिक एवम् सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रभावित किया। इस प्रकार यहीं से पश्चिमीकरण की प्रक्रिया कार्य करने लगीं। भारतीय उच्च जातियों ने अपनी परिस्थिति के पूर्व की भाँति ऊँचा बनाये रखने के लिए अंग्रेजों की प्रथाओं, जीवन शैली तथा आदतों का अनुकरण करना प्रारम्भ किया। यहाँ तक उच्च जातियों के लोग जिन आचरणों को अभी तक अपवित्र मानते थे उन्हें स्वीकारने लगे जैसे भोजन में आने वाली वस्तुयें - मदिरा, मांस चूँकि यह सब अंग्रेजों में प्रचलित थी। ब्रह्मण जो अभी तक जातीय संस्तरण में सर्वोच्च शिखर पर थे यह स्थान अंग्रेजों ने प्राप्त कर लिया और ब्राह्मणों का स्थान द्वितीय हो गया। जहाँ एक ओर निम्न जातियाँ अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा प्रस्थिति को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से ब्राह्मणों के जीवन शैली को अपनाने में लगी हुई थी वही दूसरी ओर ब्राह्मण तथा अन्य ऊँची जातियों के लोगों ने अंग्रेजों के जीवन शैली को अपनाने में बड़ी तत्परता दिखाई। लोग शीघ्र ही समझ गये कि जब तक अंग्रेजीयत जीवन पद्धति तथा अंग्रेजी शिक्षा को नहीं प्राप्त करते तब तक शासन और सत्ता से सम्बन्धित लाभ उन्हें नहीं मिल सकता। परिणाम यह हुआ कि भारत की उच्च जातियों के रहन-सहन का स्वरूप, वेश-भूषा, खान-पान आदि समग्र रूप से बदल गया। इस प्रकार देश में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी।

पश्चिमीकरण का स्वरूप और गति देश के सभी भागों व समूहों में समान नहीं थी। श्रीनिवास ने मैसूर राज्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हुये इस बात का संकेत दिया कि पश्चिमीकरण के दौड़ में, अपनी शैक्षणिक परम्परा के कारण, ब्राह्मण सबसे आगे थे क्योंकि उन्होंने यह

अनुमान लगा लिया था कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना से नवीन अवसर मिलने वाले हैं। इसके बावजूद कुछ अन्य मामलों में पश्चिमीकरण की दौड़ में दूसरों का मुकाबला नहीं कर सके विशेष रूप से दक्षिण में जहाँ अधिकांश शाकाहारी थे तथा मदिरा का प्रयोग नहीं करते थे।

संस्तरण के इस नवीन प्रणाली में ब्राह्मण अंग्रेजों की नकल कर रहे थे बाकी सभी लोग ब्राह्मणों और अंग्रेजों दोनों का। जैसे-जैसे पश्चिमी संस्कृति का प्रसार बढ़ने लगा उच्च जातियों की जीवन शैली बदलने लगी जैसे परम्परागत वस्त्रों के स्थान पर पश्चिमी किस्म के वस्त्र और जूते पहनने लगे साथ ही साथ वस्त्र पहिने हुए टेबुल पर भोजन करने लगे, यहाँ तक भोजन में उन वस्तुओं का प्रयोग किया जाने लगा जो पहले वर्जित थी। ब्राह्मणों ने उन व्यवसायों को अपना लिए जो कभी उन कार्यों के लिए सोच भी नहीं सकते थे। इस प्रकार जीवन-शैली और वेश-भूषा में परिवर्तन से संस्कारात्मक पवित्रता सम्बन्धी विचार भी धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगे।

पश्चिमीकरण के प्रभाव से पहले, जो ब्राह्मण अपनी कन्याओं का विवाह यौवनारम्भ के पूर्व कर देते थे आज वे अपनी कन्याओं का विवाह 18 वर्ष की कम आयु में नहीं करते। अब बाल विधवाएं नहीं के बराबर पायी जाती हैं।

आज विभिन्न जातियां ब्राह्मणों के अनुकरण या संस्कृतिकरण के माध्यम से नहीं बल्कि सीधे पश्चिमीकरण की विचारधारा की ओर बढ़ रहे हैं। श्रीनिवास ने स्वयं लिखा है कि "मैं यहाँ इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि पश्चिमीकरण के लिए संस्कृतिकरण आवश्यक नहीं है यह बात आधुनिक अवलोकन से सम्बन्धित है और मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि पश्चिमी करण के पूर्व संस्कृतिकरण कोई तार्किक आवश्यकता है। यह सम्भव है कि संस्कृतिकरण की मध्यवर्ती प्रक्रिया के बिना ही पश्चिमीकरण हो जाय, ऐसा नगरों में रहने वाले समूहों और व्यक्तियों और साथ ही ग्रामीण और जनजातीय लोगों में हो सकता है, और विशेषत: विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के तहत तेजी से हो रहे औद्योगीकरण में ऐसा होना और भी सम्भव है। बढ़ते हुए पश्चिमीकरण का तात्पर्य लोगों के दृष्टिकोण का अधिक लौकिकीकरण है।" (एम. एन. श्रीनिवास, शोसल चेन्ज इन मार्डन इण्डिया पृ0 60)।

श्रीनिवास का ऐसा मानना है कि यदि व्यवहार का एक क्षेत्र पश्चिमीकरण से प्रभावित है तो व्यवहार के अन्य सभी क्षेत्र भी पश्चिमीकरण से अनिवार्यता प्रभावित ही होंगे आवश्यक नहीं है जैसे सम्पूर्ण भारत में विश्वकर्मा पूजा के अवसर पर अपने धन्धे से सम्बन्धित औजारों को साफ करने, उनमें सिन्दूर लगाने, धूप देने फूल माला चढ़ाने का एक सामान्य रिवाज है। इस कथन से स्पष्ट है किं भारत में परम्परा तथा आधुनिकता साथ-साथ चलती है दोनों में कोई विरोध नहीं पाया जाता है।

यातायात और संचार माध्यमों के विकास, औद्योगीकरण तथा कृषि में होने वाले विकास तथा सामाजिक गतिशीलता में तीव्र वृद्धि ने पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को और तेज बना दिया।

17.10 पश्चिमीकरण और नगरीकरण

नगरों में पश्चिमीकरण का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है परन्तु इस तथ्य के आधार पर पश्चिमीकरण को नगरीकरण का पर्यायवाची नहीं मान लेना चाहिए। भारत के तमाम ग्रामीण क्षेत्रों में नगरों की तुलना में अधिक पश्चिमीकरण दिखाई पड़ता हैस् इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि पश्चिमीकरण, नगरीकरण का परिणाम है यह दोनों स्वतंत्र प्रक्रियाएं हैं इसीलिए इन दोनों का क्षेत्र अलग है।

17.11 पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण

बहुत से व्यक्ति पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण दोनों को एक ही मान लेते हैं, परन्तु इन दोनों में अन्तर पाया जाता है। पश्चिमीकरण आधुनिकीकरण की तुलना में एक सीमित अवधारणा है। विश्व के सभी देश पश्चिम के प्रभाव से आधुनिक नहीं हुये हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ विश्व के देश जापान के प्रभाव से आधुनिक बने हैं आधुनिकीकरण में उन सभी कारकों को सम्मिलित किया जाता है जिन्होंने संचार के साधनों में, नगरीकरण के विस्तार में साक्षरता के क्षेत्र में, पर कैपटा आय की वृद्धि में व्यस्क मतदान में क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

17.12 पश्चिमीकरण की सीमा

पश्चिमीकरण और पाश्चात्य संस्कृति के मध्य अन्तर किया जा सकता है पाश्चात्य संस्कृति के सभी तत्व पश्चिम में ही अंकुरित नहीं हुए हैं जैसे ईसाइयत का जन्म ऐशिया में हुआ। दश्मलव व्यवस्था का जन्म भारत में हुआ और अरबिया के द्वार पश्चिम में पहुँचा। इस प्रकार गनपाउढर, छपाई मशीन, तथा कागज का अविष्कार चीन में हुआ। भारत को जिस प्रकार से पश्चिमीकरण ने प्रभावित किया उसका मूल कारण ब्रिटिश शासन का प्रभाव था।

17.13 पश्चिमीकरण एक जटिल अवधारणा

पश्चिमीकरण की एक विकसित अवधारणा है जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार के परिवर्तन, चाहे वे पाश्चात्य प्रौद्योगिकी या आधुनिक विज्ञान के द्वारा घटित हो सम्मिलित है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर पश्चिमीकरण का प्रभाव किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ता है जैसे प्राचीन समय में भारतवासी थाली या केले के पत्ते में पलथी मार कर भोजन करते थे परन्तु आज वे भोजन की मेज पर बैठकर भोजन करते हैं। इस प्रकार, पश्चिमीकरण का प्रभाव भारतीय समाज पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।

17.14 सारांश

पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में अनेक परिवर्तन घटित हुए हैं और उनका परम्परागत स्वरूप काफी बदला है। भारत में नवीन आविष्कार, प्रौद्योगिकी यन्त्रों

तथा प्रविधियों का विकास हुआ है। स्वतंत्रता के पश्चात् पश्चिमीकरण की प्रक्रिया और अधिक विकसित हुई और अब तो रूस तथा अमरीका देशें से अनेक सामाजिक सांस्कृतिक तत्वों को ग्रहण किया जा रहा है। पश्चिमी करण ने सबसे अधिक जाति प्रथा को प्रभावित किया है। घटती हुई रूढ़िवादिता काफी हद तक पश्चिमीकरण के प्रभाव का परिचायक है इसी ने संयुक्त परिवार की संस्था के ह्रास को बढ़ावा दिया है तथा समाज सुधार के कई आन्दोलनों को प्रेरणा दी हैस्। आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में अन्तर आया है, इससे कुटीर उद्योग विघटित हुए, खेती में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, भूमि सम्बन्धी सुधार हुए लोकतंत्रीय मूल्यों, मान्यताओं और आदर्शों को प्रोत्साहन मिला तथा सामाजिक न्याय और सम्पूर्ण देश में एक समान प्रशासन पद्धति की व्यवस्थाएं सम्भव हो सकी। मानवतावादी दृष्टिकोण पर पश्चिमीकरण ने बल दिया जिससे भारत में अनेक सामाजिक व संस्थागत सुधार हुये।

पहले ऐसा विचार था कि यह प्रक्रिया केवल उच्च जातियों तक ही सीमित हैं क्योंकि उनके पास इस प्रक्रिया को अपनाने के अधिक साधन हैं लेकिन वास्तविक परिस्थितियों में देखा गया है कि शहरी क्षेत्रों में निम्न जातियों के सम्पन्न लोग अपनी सामाजिक स्थिति को श्रेष्ठ बनाने के लिए संस्कृतिकरण की अपेक्षा पश्चिमीकरण को अपनाना अधिक पसन्द करते हैं। निम्न जाति के लोग अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के लिए संस्कृतिकरण पर अपनी ऊर्जा अधिक खर्च करते है जबकि बहुत सी ऊंची जाति के लोग अपने और निम्न जातियों के बीच की दूरी को बनाए रखने के लिए पश्चिमीकरण की तरफ अग्रसर हो जाते है इस प्रवृत्ति का मुख्य कारण यह है कि पुरानी सामाजिक व्यवस्था में निम्न जातियों की संस्कृतिकरण सम्बन्धी क्षमता के कारण उच्च जातियों के लिए सामाजिक दूरी बनाये रखना कठिन हो गया है।

उपर्युक्त तर्क का सम्पूरक प्रस्तुत करते हुए हैराल्ड गोल्ड ने ए डानामिक बिव एकनामिक वीकली में ठिप्पणी करते हैं— ब्राह्मण और राजपूत चूँकि पहले से ही सांस्कृतिकृत हैं इसलिए वे अब और अधिक स्तरीकृत व्यवस्था में ऊपर नहीं जा सकते यदि यह उच्च वर्णीय लोग यदि राजनैतिक या आर्थिक शक्ति के माध्यम से वस्तुस्थिति को उसी रूप में नहीं कायम रख सकते, जिस रूप में वे हैंतब वे या तो नीचे के सोपान पर चले जायेंगे या फिर समानता की अवधारणा को स्वीकारें जिसका अर्थ है कि सामान्य रूप से सोपानिक सम्बन्धों की निषेधात्मकता को स्वीकार करना जो उच्च जातियों के लिए घातक और असम्भव होगा। क्योंकि उनकी मानसिकता में जन्मगत श्रेष्ठता या कुलीनता का विचार घर किये हुये है।

इसलिए उच्च जातियों के बहुत से लोग पश्चिमीकरण को अपना लेते हैं जो स्तरीकृत यथास्थिति को बनाये रखने मे कामयाब रहते हैं। ऐसी स्थिति में निम्न जातियों के लोग उच्च जातियों से समानता की मृगतृष्णा के पीछे सदा भागते रहते हैं परन्तु जब वे अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं तो पाते हैं कि जिस स्थान को उन्होंने प्राप्त किया है उसे ब्राह्मण या अन्य उच्च जाति के लोग स्वयं रिक्त कर चके हैं और पश्चिमीकरण के उच्चतर शिखर पर प्रतिष्ठित हो

गये है, जहाँ से वे नीचे के लोगों को तिरस्कृत भाव से देख रहे हैं । इस प्रकार संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के मध्य तक महत्वपूर्ण व गतिशील रोचक खेल चल रहा है।

संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की अवधारणायें सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या मुख्य रूप से संस्कृति के सन्दर्भ में करती हैं न कि संरचना के सन्दर्भ में यह जाति व्यवस्था के अन्तर्गत केवल स्थिति परिवर्तन की ओर इंगित करती हैं संरचनात्मक परिवर्तन की ओर नहीं। श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत माडल भारत में केवल जाति व्यवस्था पर आधारित सामाजिक परिवर्तन को ही प्रकट करता है परिवर्तन की इस प्रक्रिया को अन्य समाजों पर लागू नहीं किया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि श्रीनिवास द्वारा विकसित की गई दोनों अवधारणायें भारत में सम्पूर्ण परिवर्तन को नहीं बल्कि आंशिक परिवर्तन की ओर संकेत है।

17.15 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. एम. एन. श्रीनिवास, शोसल चेन्ज इन मार्डन इण्डिया, कैलीफोर्निया प्रेस, लोस ऐगेज संख्या 1966

2. एम. ए. श्रीनिवास, ''ए नोट आन संस्कृताइजेशन और वेर्स्टनाइजेशन'' इन फार ईर्स्टन क्वालिटी, 15 पी पी 481-496

3. एच. ए. गोल्ड, संस्कृताइजेशन और वेर्स्टनाइजेशन- ए डायनिमिक बिव, एकनामिक वीकली, वेलमू xviii, नं0 25, जून 24, 1961 प्र0 947

4. देवराज, चन्ना, ''सास्कृताइजेशन और वेर्स्टनाइजेशन इन इन्डियाज नार्थ वेस्ट,'' इकनामिक वीकली, वालूम 8 नं0 9 मार्च, 4, 1961, पी पी 409-414

17.16 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय

1. समकालीन भारत में हो रहे सामाजिक परिवर्तन की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालिए।
2. ''संस्कृताइजेशन भारत में जाति व्यवस्था पर आधारित सामाजिक परिवर्तन की ओर संकेत है'' सिद्ध कीजिए।
3. पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय

1. ब्राह्मणीकरण एवं संस्कृतिकरण में अन्तर बताएं।
2. नगरीकरण एवं पश्चिमीकरण के मध्य अन्तर बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. संस्कृतिकरण की अवधारणा किसने प्रस्तुत की :

   (अ) श्री निवास, (ब) दुबे (स) देसाई (द) योगेन्द्र सिंह उत्तर (अ)

2. पश्चिमी करण के लिए संस्कृतिकरण

   (अ) आवश्यक है (ब) आवश्यक नहीं है उत्तर (ब)

इकाई 18 नगरीकरण एवं औद्योगीकरण का सामाजिक प्रभाव

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 नगरीकरण और औद्योगीकरण का अर्थ

18.2.1 नगरीकरण का अर्थ

18.2.2 औद्योगीकरण का अर्थ

18.3 नगरीकरण एवं औद्योगीकरण एक संयुक्त प्रक्रिया

18.4 भारत में नगरीकरण का प्रभाव

18.4.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव

18.4.2 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

18.4.3 सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव

18.5 भारतीय समाज पर औद्योगीकरण का प्रभाव

18.5.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव

18.5.2 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

18.5.3 सांस्कृतिक प्रभाव

18.6 सारांश

18.7 सन्दर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

18.8 सम्बन्धित प्रश्न

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

* नगरीकरण और औद्योगीकरण का अर्थ बता सकेंगें।

* भारत में इन प्रक्रियाओं के आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव पर टिप्पणी कर सकेंगे।

NMEC-102

18.1 प्रस्तावना

जब से मानव इस धरती पर अवतरित हुआ है तब से वह अपनी जीविका को चलाने के लिए कुछ न कुछ प्रयास सदैव करता रहा है। उसका यह प्रयास उसके युग और सामाजिक दशाओं के अनुरूप था। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसने उद्योगों की ओर ध्यान दिया। यही कारण है कि प्रारम्भ में छोटे स्तर के उद्योग प्रारम्भ हुए। आगे चलकर उद्योगों का अधिकाधिक विकसित होने के कारण मनुष्य की अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताएं हैं कालान्तर में समय ने करवट ली और मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया। चूंकि उसके पास एक विकसित मस्तिष्क और ऊर्जा का अपार भण्डार था उसकी सहायता से उसने आखेटक रूप से औद्योगिक युग तक यात्रा की । अर्थात आवश्यकतानुसार परिवर्तन की प्रक्रिया घटित हुई।

सन 1850 के पूर्व भारत में फैक्ट्री युग नहीं था केवल कुटीर धन्धे और लघु उद्योग थे। जैसे दस्तकारी, रेशम के कीड़े पालना, खादी बनाना आदि। सन 1985 में आधुनिक फैक्ट्री उद्योग की नींव पड़ी। उन्नीसवीं शताब्दी में बड़े उद्योगों जैसे जूट, चीनी, तथा कपड़े के उत्पादन की मिलें स्थापित होने लगे। भारत के उद्योगों में तीव्र विकास तो वास्तव में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से हुआ। और उत्पादन भी बड़ी मात्रा में होने लगा। उद्योगों में उत्पादित माल को खपाने के लिए बड़े बाजारों और व्यावसायिक केन्द्रों का अनुभव किया जाने लगा। जिसने कालान्तर में नगरों की परिकल्पना प्रस्तुत की । शीघ्र ही नगरीकरण की प्रक्रिया भी भारत में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगी। फलत: बड़े बड़े औद्योगिक नगरों में जैसे राउरकेला, जमशेदपुर, भिलाई, बोकारों, टाटानगर, दुर्गापुर, मोदीनगर, आदि आदि में वन विकास हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप अहमदाबाद, दिल्ली, मद्रास, कोलकाता, कानपुर, बड़ौदा, जलंधर, टाटानगर, गाजियाबाद, जैसे विशालकाय नगरों ने अपने आस पास के क्षेत्रों को नगरों की विशेषताओं से प्रभावित किया।

अत: स्पष्ट है कि भारतीय सन्दर्भ में औद्योगीकरण व नगरीकरण एक संयुक्त प्रक्रिया है इनका आपस में घनिष्टम सम्बन्ध है इन्होंने समाज के विभिन्न पक्षों पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से अपने दूरगामी प्रभाव डाले हैं जिनको विशेष रूप से सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में देखा जा सकता है। इस विषय में ऐसा भी कहा जाता है कि इन दोनों प्रक्रियाओं ने मानव जीवन में बिखराव को प्रोत्साहित किया है। किन्तु यह विचार एकाकी प्रतीत होता है। वास्तव में इस प्रक्रिया में ही मानव जीवन में समृद्धि के द्वार खोल कर उसे प्रगतिशील बनाया है वास्तव में इस प्रक्रिया में भी मानव जीवन में समृद्धि के द्वार खोलकर उसे प्रगतिशील बनाया है। एक नया दृष्टिकोण देकर जीवन के उपागम को बदला है जिन पर प्रकाश डालना वांछनीय है।

18.2 नगरीकरण और औद्योगीकरण का अर्थ

18.2.1 नगरीकरण का अर्थ –

नगर शब्द अंग्रेजी भाषा के सिटी शब्द का हिन्दी अनुवाद है। सिटी शब्द लैटिन भाषा के सिविटास से बना है इसका अर्थ है नागरिकता शब्द नगरीकरण नगर से बना है अत: सामान्य भाषा में नगरीकरण का अर्थ नगरों के विकास और प्रसार से लगाया जाता है। वास्तव में नगरीकरण कई घटक तत्वों पर आधारित होता है जो सामान्यत: प्रकृति से भिन्न है यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें शहर में रहने वाले व्यक्तियों की संख्या बदली है। इस प्रक्रिया में तीन विशेषताएं देखने को मिलती है जैसे 1. नगर की जनसंख्या में वृद्धि होना 2. गांवों का नगरों में परिवर्तित होना। 3. ग्रामीण क्षेत्र में नगर की विशेषताओं का प्रसार होना। बर्गेल ने नगरीकरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहा कि – "ग्रामीण क्षेत्रों को नगरीय क्षेत्र में बदलने की प्रक्रिया का नाम नगरीकरण है" इससे यह इंगित होता है कि जब कभी औद्योगिक विकास होता है तो उसके आस पास का क्षेत्र नगरों की विशेषता को स्वीकार करता है। गांव से आने वाले लोग शहरी जीवन की विशेषताओं को अपना कर उसका प्रसार गांव में करते हैं। फलत: गांव में भी आधुनिकता का संदेश प्रसारित होता है, तथा नगरीय जीवन की विशेषताएं दिखाई पड़ने लगती हैं गोल्ड तथा गोल्ब का ऐसा मत है कि "नागरीय जीवन सम्बन्धी व्यवहार का ग्रामीण जीवन कर प्रसार हो जाने का नाम ही नगरीकरण है" डेविस के अनुसार नगरीय करण एक निश्चित प्रक्रिया है, परिवर्तन का वह चक्र है जिससे कोई समाज कृषक से औद्योगिक में परिवतर्तित होता है। नेल्स एन्डरसन का ऐसा मत है कि "नगरीकरण का अर्थ लोगों का ग्रामीण क्षेत्र से शहरी निवास के क्षेत्रों की ओर जाना है, जो कृषि के स्थान पर अकृषि के कार्यों को अपनाते हैं इस प्रभाव के कारण नगर में जाए बिनाही वे अपने विचारों एवं व्यवहारों में नगरीय हो सकते हैं। इस प्रकार नगरीकरण एक जीवन विधि हैजिसका प्रसार नगर से बाहर की ओर होता है। " फयरचाइल्ड के अनुसार "नगरीकरण का अर्थ नगरीय बनाने की प्रक्रिया से है" ब्रीज ने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए यह कहा कि "नगरीकरण एक प्रक्रिया है जिसके कारण लोग नगरीय कहलाने लगते हैं शहरों में रहने लगते हैं कृषि के स्थान पर अन्य व्यवसाय को अपनाते हैं जो नगर में उपलब्ध होते हैं और अपने व्यवसाय प्रतिमानों में अपेक्षाकृत परिवर्तन आते हैं।

अत: स्पष्ट है कि ग्रामीण अचल के लोगों को नगरीकरण के द्वारा आकर्षित कियाजाता है नगरों में उपलब्ध सुविधायें ही नगरीकरण की प्रक्रिया में अपना योगदान देती है, यही नहीं आज के युग में मानव जीवन में बढ़ता हुआ भौतिक वाद, अच्छे जीवन की चाह और उसकी राह भी नगरीकरण को तीव्र गति से प्रभावित करती है जिसके कारण छोटे नगरों का बड़े नगरों में तीव्र गति से विकास होना स्वाभाविक है।

NMDS102

18.2.2 औद्योगीकरण का अर्थ –

साधारण बोलचाल में औद्योगीकरण का अर्थ उद्योगों में बढ़ते हुए मशीनों के प्रयोग में वृद्धि से लगाया जाता हैं। वास्तव में औद्योगीकरण एक प्रक्रिया है जिसमें छोटे उद्योगों के स्थान पर उत्पादन में वृद्धि करने के लिए बड़ी बड़ी मशीनों का प्रयोग किया जाता है जिसका उद्देश्य उत्पादन में गुणात्मक और परिमाणात्मक परिवर्तन लाना है। दूसरे शब्दों में उत्पादन के क्षेत्र में लगी और विकसित हुई इस प्रक्रिया को औद्योगीकरण कहते हैं। इसकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं जैसे – औद्योगीकरण की दशा में उत्पादन की मात्रा मशीनो के माध्यम से सम्पन्न होता है, उद्योगों का विशाल स्वरूप प्रौद्योगिकी से प्रभावित होने के कारण विशेषीकरण और श्रमविभाजन पर जोर देता है, उत्पादन का मूल उद्देश्य अधिकाधिक लाभार्जन करना है, औद्योगिक केन्द्रों पर कार्य करने वाले श्रमिकों पर उनके पारिश्रमिक के रूप में वेतन का भुगतान होना है, इस प्रक्रिया में उत्पादन को अधिकाधिक रूप से गुणवत्ता की ओर ले जाया जाता है। अत: संक्षेप में औद्योगीकरण का आशय मशीनों द्वारा उत्पादन करने की प्रक्रिया को कहा जाता हैजिसमें श्रम विभाजन और विशेषीकरण प्रमुख होते हैं। इसमें उत्पादन के लिए शक्ति के साधनों का व्यापक और नियोजित ढंग से प्रयोग किया जाता है। क्लार्क के अनुसार ''औद्योगीकरण एक ऐसी दशा है जिसमें पहले कृषक या व्यापारिक समाज एक औद्योगिक समाज के रूप में बदलने लगता है'' एम. एस. गोरे ने औद्योगीकरण की प्रक्रिया की व्याख्या में कुछ आवश्यक तत्वों की ओर इशारा किया है उनके अनुसार औद्योगीकरण से अभिप्राय एक ऐसी प्रक्रिया से है जिसमें उत्पादन दस्तकारी के स्थान पर शक्ति चालित मशीनों से किया जाता है इस परिवर्तन के साथ साथ कृषि यातायात तथा संचार की तकनीकी में परिवर्तन घटित होता है, व्यापार एवम वित्त व्यवस्थ में भी परिवर्तन आते हैं।'' इन्होंने भी औद्योगीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट करने में तीन बातों का आधार माना है अर्थात अर्थ व्यवस्था का ध्रुवीकरण, व्यावसायिक विशेषीकरण की एक उत्तम सीमा तथा फैक्ट्री उत्पादन व्यवस्था का नातेदारी पर निर्भर न होकर व्यक्ति पर निर्भर होता है इनकी इस व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परम्परागत साधनों के स्थान पर मशीनों के माध्यम से उत्पादन क्षमता को बढ़ाने का नाम ही औद्योगीकरण है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि औद्योगीकरण उद्योगों की विशेषता और उनकी उपयोगिता के आधार पर उत्पादन की नयी प्रणाली को बड़ी बड़ी मशीनों के द्वारा करता है जिसमें विवेकीकरण की प्रक्रिया भी सम्मिलित होती है। अत: उद्योगों का बड़े पैमाने पर प्रसार ही औद्योगीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट करता है।

18.3 नगरीकरण और औद्योगीकरण एवं संयुक्त प्रक्रिया है

औद्योगीकरण और नगरीकरण में घनिष्ट सम्बन्ध है ऐसा देखा गया है कि जहां कहीं उद्योगों का विकास हुआ वहीं नगरों का भी विकास हुआ इसके पीछे एक महत्वपूर्ण कारण यह है

कि एक उद्योग की स्थापना विभिन्न प्रकार की आवश्कताओं और विशेषताओं को देखकर की जाती है जैसे - कच्चे माल की उपलब्धता, श्रमिकों की पर्याप्त मात्रा में पाया जाना, बिजली की सुविधा, यातायात व संदेशवाहन की सुगमता आदि । इन आवश्यकताओं की पूर्ति अनेक श्रोतों तथा एजेन्सियों के द्वारा होती है और यही परिस्थिति नगरों की उत्पत्ति में अपना योगदान देती है। अत: स्पष्ट है कि दोनों की प्रवृत्ति संयुक्त है किसी समाज पर इनके प्रभावों का आकलन तभी हो सकता है जब इनके स्वभाव और प्रकृति की व्याख्या हो। इस स्थल पर यह कहना प्रासंगिक होगा कि जब कभी किसी समाज में औद्योगीकरण बढ़ता है तो उसे परिणाम स्वरूप नगरीकरण की प्रवृत्ति को भी बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत नगरीकरण भी औद्योगीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करती है। अर्थात दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। बड़े बड़े उद्योगों में जन शक्ति की आवश्यकता होती है उसकी आपूर्ति तो नगरों के माध्यम से ही सम्भव होती है। इसके विपरीत नगरीकरण भी औद्योगीकरण भी नगरीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देता है । टाटानगर और भिलाई नगर आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। अत: यह एक मिली जुली प्रक्रिया है।

उक्त प्रक्रिया को एक अन्य उदाहरण के द्वारा और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है जैसे संयुक्त परिवार और जाति प्रथा में जो परिवर्तन औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप होते हैं वही परिणाम नगरीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से भी देखे जाते हैं इसी प्रकार संयुक्त परिवार का विघटन केवल इस कारण नहीं होता कि व्यक्ति अच्छी आय की लालसा से गांव से भागकर औद्योगिक केन्द्रों पर आ रहे हैं। इसका एक कारण यह भी है कि बड़े बड़े औद्योगिक केन्द्रों की विभिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आने वाले लोगों के संपर्क के परिणाम स्वरूप उनमें वैचारिक बदलाव आता है अर्थात इनमें बदलावों को जन्म देने वाली नगरीकरण और औद्योगीकरण की प्रक्रिया किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव डालती है। यही बात जाति प्रथा में घटित होने वाले परिवर्तनों पर भी लागू होती है। अर्थात जातिपात के बन्धनों को शिथिल करना इन दोनों प्रक्रियाओं की अपनी महत्वपूर्ण विशेषता है। अर्थात वे खान पान सम्बन्धी परम्परागत नियमों को तोड़ देते हैं। अत: स्पष्ट है कि इन दोनों प्रक्रियाओं ने परम्परागत बन्धनों को शिथिल कर विचारों में परिवर्तन लाकर अपनी महती भूमिका समाज में अदा की है। ऐसी स्थिति में समाज के विभिन्न पक्षों पर इनके पड़ने वाले प्रभावों को देखना ही अधिक व्यवहारिक और तर्क संगत होना।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय हैं कि इन दोनों ने अपनी सम्मिलित प्रक्रियाओं से सामाजिक कुरीतियों पर भी कुठाराघात किया है अर्थात बदले सामाजिक परिवेश में बाल विवाह का विरोध विधवा विवाह की पक्षधरी पर्दा प्रथा का अन्त आदि इनकी विशेषता है जाति पात की विचारधारा खान पान के आधारों पर प्राय: लुप्त होती है। नवीन विचारों के उद्गम में कर्मकाण्डों और धार्मिक अनुष्ठानों पर अधिक जोर न देकर उनको गौड़ स्थान प्रदान किया व्यवसायिक भेदभाव भी समाप्त हो रहे हैं अर्थात उनका आधार जाति व्यवस्था न होकर खुली व्यवस्था है यही कारण है कि आज शुक्ला जलपान गृह, मिश्रा भोजनालय

IMD-102

के नाम से प्रतिष्ठान दिखाई पड़ते हैं। जो यह स्पष्ट करता है कि व्यवसाय का चुनना एक खुले समाज की देन है जिस पद पर परम्परागत प्रतिबन्धों का दबाव नहीं है।

18.4 भारत में नगरीकरण का प्रभाव

भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया सामाजिक दृष्टिकोण से संरचनात्मक परिवर्तन का द्योतक है। प्राचीन अथवा मध्यकालीन नगरों की आधुनिक नगरों से तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि आज के नगरीय जीवन विधि और समाज व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुये हैं। पूर्व जीवन प्रणाली में कठोरता और परिवर्तन विरोधी दृष्टिकोण का बाहुल्य रहा है। सामाजिक संरचना में संस्तरणात्मक प्रवृत्ति बन्द रही है परम्परागत जीवन का बोलबाला रहा है उसी के अनुसार उसका प्रसार भी होता रहा है किन्तु जो परिवर्तन हुये वे पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने के कारण भी हुआ । नगरों के उत्तरोत्तर विकास में औद्योगीकरण ने भी अपनी भूमिका अदा की । इस प्रकार नगरों ने अपना विकसित और विकराल रूप धारण किया तथा अपने प्रभावों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से समाज के विभिन्न पक्षों पर डाला इसकी प्रतिक्रिया आज के वर्तमान समाज में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। दूसरे शब्दों में इन प्रभावों को सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक पक्षों में देखा व समझा जा सकता है।

18.4.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव

भारतीय सामाजिक जीवन को नगरीकरण की प्रबल प्रक्रिया ने एक बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है। अत: सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से इसकी भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है उदाहरण के लिए इसमें समाज की संस्थाओं और मानवीय सोच पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। परिवारों के परम्परागत कार्य भी तेजी से बदले हैं संयुक्त परिवार के स्वरूप को नकारा गया है। मनुष्य ने भी आत्मकेन्द्रित विचारों को जन्म दिया है। यह सब इस कारण घटित हुआ कि व्यक्ति को नगरीय संस्कृति में घुलने मिलने का अवसर मिला, वह उसके लिये एक नया अनुभव था। इस तरह बदले परिवेश में वह अपने को न रोक सका तथा परिवर्तन के प्रवाह में बहने लगा। अत: प्रश्न है कि सामाजिक जीवन के वे प्रमुख और महत्वपूर्ण पक्ष कौन हैं जिन पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ा और एक नई सामाजिक सोच का जन्म हुआ। वे निम्नवत हैं=

(अ) संयुक्त परिवार का विघटन :

नगरीकरण की जानी पहचानी संस्कृति में घुलने मिलने के कारण व्यक्ति में परिवर्तन आया और वह यह मानने लगा कि एकाकी परिवार की अपनी उपयोगिता है। अर्थात वह यह सोचने लगा कि अपने द्वारा अर्जित आय को अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों पर व्यय करना ही ठीक होगा। उसने यह भी देखा कि नगरीय जीवन में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति आयु पर निर्धारित न होकर उसकी आय पर निर्धारित होती है। जितना अधिक धन का उपार्जन होगा उतना ही उसका जीवन स्तर ऊँचा उठेगा। समाज में उसकी प्रतिष्ठा की वृद्धि

होगी अत: उसने संयुक्त परिवार की मूल भावना को नकारना ही ठीक समझा जो अपने में एक बहुत बड़ा बदलाव था। पढ़ी लिखी स्त्रियों में भी वैचारिक अंकुर देखे गये। उन्होंने संयुक्त परिवार में न रहना पसन्द कर एकाकी परिवार को प्रोत्साहन दिया। इसके साथ ही साथ नगरों में मकानों की कमी तथा छोटे होने की दशाओं ने भी संयुक्त परिवार की दशा को हतोत्साहित करने में बड़ा योगदान दिया। इस सन्दर्भ में यह कहना भी समीचीन होगा कि नगरीयकरण की प्रक्रिया ने लोगों के मध्य प्रतिस्पर्धा आगे बढ़ने की चाह तथा जीवन स्तर को ऊँचा करने जैसी भावनाओं को विकसित किया। जो अपने में एक महत्वपूर्ण घटना है।

(ब) परिवार के कार्यों का हस्तान्तरण

नगरीय जीवन में परिवार के कार्यों पर भी धीरे धीरे प्रभाव पड़ा। परिवार के परम्परागत कार्यों का महत्व समाप्त हुआ। नगरीय संस्कृति ने परिवार की स्त्रियां की भी काम करने के लिए प्रेरित किया। इसके पीछे आमदनी को बढ़ा कर जीवन स्तर को ऊँचा उठाना था अत: स्पष्ट है स्त्रियों को घर के बाहर काम पर जाना और उसे अधिक महत्व देना समयाभाव से ग्रसित होना आदि आदि ऐसे अनेक कारण उभरकर सामने आये जिन्होंने परम्परागत कार्यों को गौढ़ स्थान प्रदान किया। पारिवारिक दायित्व की अवहेलना की फलत: पारिवारिक विघटन औरव्यक्तिगत विघटन आदि आदि घटनाओं को भी देखा जाने लगा। अत: स्पष्ट है कि बदली हुई सामाजिक स्थिति ने जीवन स्तर में सुधार तो किया। खुले दृष्टिकोण को जन्म दिया, मगर इस तथ्य को नहीं नकारा जा सकता है कि उसने परिवार के संगठित स्वरूप में बिखराव का बढ़ा दिया।

(स) परिवार में नये आदर्शों और मूल्यों को प्रोत्साहन

नगरीय मनोवृत्ति को भी जन्म देने का श्रेय नगरीकरण को प्रक्रिया को प्राप्त है। व्यवहारिक रूप से प्रस्थापित आदर्शों और मूल्यों में गिरावट और उनमें संकट पारिवारिक स्तर पर दिखाई पड़ने लगा। उदाहरण के लिए व्यक्तिवाद की भावना के कारण नगरीय व्यक्ति अपने परिवारों के हितों को ध्यान में रखकर उसे वरीयता देने लगा उसके सोचने का दायरा भी और अधिक संकुचित हुआ। परिवार के सदस्यों के बीच निष्ठा त्याग स्नेह और सहानुभूति जैसे मानवीय मूल्यों का ह्रास हुआ वैचारिक परिवर्तनों के कारण प्रेम और विलम्ब विवाह तथा विवाह विच्छेद जैसे नये विचार आदर्श के रूप में प्रकट हुये और समाज में पनपने लगे। तथाकथित आधुनिकता भी पारिवारिक जीवन को प्रभावित करने लगी। इस प्रकार नये मूल्यों के आर्विभाव ने असंन्तुलन की प्रक्रिया को जन्म दिया।

(द) पारिवारिक नियंत्रण में गिरावट

वास्तव में पारिवार और संयुक्त परिवार अपने सदस्यों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए महत्वपूर्ण संस्थाओं के रूप में जाने जाते हैं लेकिन नगरीय जीवन में स्वंच्छन्दता का वातावरण देकर मनुष्य को अपरिचित संसार में खो जाने की सुविधा प्रदान की। इसका प्रभाव परिवार में सदस्यों के ऊपर नियंत्रण की कमी के रूप में उभर कर सामने आया है। इसके अतिरिक्त पारिवारिक प्रथायें और परम्परायें स्थान खो बैठी, उनके स्थान पर नई नगरीय

परम्परायें और प्रथाओं का विकास हुआ है जिन्होंने परिवार के परम्परागत नियन्त्रण को ढीला कर दिया है यह भी देखने में आया है कि व्यक्ति का परिवारों पर निर्भरता नगरीय जीवन पद्धति में घटी है क्योंकि आज का मानव स्वतन्त्र होकर जीना चाहता है अर्थात नियन्त्रण को नकारता है। निरन्तर बढ़ती हुई उपभोक्ता वादी नगरीय संस्कृति भी आग में घी डालने का काम कर रही है।

18.4.2 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

नगरीयकरण की प्रक्रिया ने समाज के आर्थिक पक्ष को भी एक बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है जिसके कारण आर्थिक गतिविधियां नगरीय समाज में स्पष्ट रूप से बढ़ती हुई दिखाई पड़ रही हैं। जैसे - नगरीय व्यक्ति की दिन प्रतिदिन की आवश्यकताओं और आकाक्षाओं में वृद्धि हुई निरन्तर बढ़ती हुई आर्थिक प्रतिस्पर्धा का प्रभाव समाज के विभिन्न पक्षों पर दिखाई पड़ रहा है अत: मानव के आर्थिक जीवन में आमूल चूल परिवर्तन घटित हो रहे हैं जो निम्नवत हैं।

(अ) आर्थिक प्रतियोगिता को जन्म देना

वर्तमान युग की प्रमुख देन आर्थिक प्रतिस्पर्धा है। नगरों में नये नये व्यवसायिक केन्द्र की स्थापना के द्वारा उत्पादक का मूल्य घटाना तथा गुणात्मक परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है। यही नहीं ग्राहकों का ध्यान निरन्तर रखने के लिये उनकी आवश्यकताओं को पहचाना जा रहा है तथा उनके ध्यान को आकर्षित करने के लिए प्रचार के नये नये साधन व्यवहार में लाये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त कुद नये उपाय भी देखे जा रहे हैं जैसे - इनामी योजनाओं को चलाना, मीडिया की भूमिका को स्वीकार करना आदि है। जिनका मूल उद्देश्य बिक्री को प्रोत्साहित करना है। इस प्रकार की मानसिकता ने प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहित किया। उसका वह एक स्वाभाविक पक्ष भी है।

(ब) आर्थिक असमानता

नगरीकरण की प्रक्रिया ने जहाँ विविध क्षेत्रों में कुछ उत्वाहित प्रभाव डाले हैं वहीं पर ऐसा देखने में आया है कि आर्थिक असमानता की वृद्धि हुई है। उसका मूल कारण पूँजी की व्यवस्था है। समाज का ऐसा वर्ग है जो आर्थिक रूप से सम्पन्न है व बड़े बड़े प्रतिष्ठानों की स्थापना करने में सक्षम हैं। इसके विपरीत वह वर्ग जो इससे वंचित है पूंजी नहीं लगा सकता है वह छोटे उद्योग धन्धों को अपनाकर ही संतोष प्राप्त करता है इस प्रकार की विषमता नगरीय परिस्थिति की प्रत्यक्ष देन है।

(स) बेरोजगारी की समस्या

गांव से शहर की ओर भागने की प्रवृत्ति ने नगरों में भीड़ बढ़ायी है इस प्रकार से जाने वाले सभी लोगों को रोजगार चाहिए जो सम्भव नहीं है। जो अपने में एक महती समस्या है। इसके अतिरिक्त नगरों में शिक्षित बेरोजगारी का एक बड़ा अनुपात भी देखा जा रहा है नगरों में नौकरियों की सुविधा होने के कारण येन केन प्रकारेण नगर में ही रहना चाहता है।

विशेषकर ग्रामीण युवा वर्ग गांव को लौट कर नहीं जाना चाहता है इसका मुख्य कारण यह है कि परम्परागत व्यवसाय से उसका मोह भंग हो चुका है।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि नगरों ने आर्थिक शोषण की प्रक्रिया को रोकने के लिए उत्पादक को उसका सही मूल्य दिलाने के नियत से मंडी परिषद की स्थापना की गयी है इसका एक अच्छा प्रभाव आर्थिक जगत पर देखा जा रहा है।

18.4.3 सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव

नगरीकरण की प्रक्रिया ने समाज के परम्परागत मूल्य और प्रतिमान तेजी से बदले । उनके स्थान पर नयी प्रतिमानों का जन्म हुआ। आधुनिक मानव परम्परागत मूल्य में कोई प्रासंगिकता नहीं देखता। नयी विचारधारा, आधुनिकीकरण का संदेश पश्चिमीकरण तथा नवोदित भूमण्डलीय करण की अवधारणा नगरीय जीवन पद्धति की नयी परिभाषा कर रहा है। संस्कृति के प्रसार और समागम ने मानव को नये प्रतिमान खोजने के लिए प्रेषित कर दिया है सदभावना, परोपकार, त्याग, दुख और सुख में सहभागिता करने के प्राचीन मूल्य तथा विचारधारायें का कोई अर्थ नहीं है, जिसकी अपनी भौतिक विशेषताएं हैं।

18.5 भारतीय समाज पर औद्योगीकरण का प्रभाव

औद्योगीकरण का स्पष्ट प्रभाव केवल नगरीय जीवन पर ही नहीं पड़ा वरन उसने ग्रामीण जीवन पद्धति को एक बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित किया है। उसकी सबसे बड़ी भूमिका यह रही कि उसने लोगों में काम की तलाश में गाँव से औद्योगिक केन्द्रों की ओर जाने का स्थान बढ़ाया है। यहाँ पर आये लोगों ने संस्कृति के कुछ नये तत्वों को ग्रहण किया है जो उनकी संस्कृति से पूर्णत: भिन्न है अत: इनके परम्परागत मूल्य में परिवर्तन हुआ है जीविका उपार्जन के परम्परागत श्रोत जैसे लघु उद्योग धन्धे, तथा कुटीर उद्योगों का ह्रास हुआ। इस प्रकार औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने समाज पर नकारात्मक व समारात्मक प्रभाव डाले। अत: उनके प्रभावों को सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्षों पर देखना समीचीन होगा।

18.5.1 सामाजिक जीवन पर प्रभाव

औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने भारत के सामाजिक जीवन पर क्रान्तिकारी प्रभाव डाले हैं औद्योगिक केन्द्रों पर वैचारिक परिवर्तन और औद्योगिक झगड़ों का जन्म हुआ हैजिसके कारण मानव जीवन में बदलाव आया है। और उसका स्पष्ट प्रभाव सामाजिक संरचना पर पड़ा है अत: प्रश्न है कि सामाजिक जीवन के कौन से पक्ष हैं जिन पर इसका नकारात्मक तथा सकारात्मक प्रभाव पड़े हैं।

(अ) वैचारिक परिवर्तन

औद्योगिक नगरों में विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में आने के कारण व्यक्तियों में घोर व्यक्तिवादिता की प्रधानता हुई है सांस्कृतिक मेल विलाप ने वैचारिक परिवर्तन के आधार पर

प्रेम व विलम्ब विवाह को प्रोत्साहन दिया है। प्राचीन प्रथाओं और परम्पराओं का विरोध होने लगा है वाह्य आडम्बरों के कारण पारम्परिक विचार भी कमजोर हुये हैं, जीवन के प्रति एक नयी चेतना का संचार हुआ है मनुष्य का अब यह सोचना कि उसकी सामाजिक स्थिति जन्म से निर्धारित न होकर उसके कार्यों के आधार पर आंकी जाती है। अर्थात जितना बढ़ा कार्य उसके पास होगा उतनी ही बढ़ी सामाजिक स्थिति होगी। इस प्रकार के नये विचारों का मानव के सामाजिक जीवन में बोलबाला हो रहा है।

(ब) औद्योगिक झगड़ों का जन्म

बढ़ते हुये औद्योगीकरण ने मिल मालिक और श्रमिकों के बीच औद्योगिक झगड़ों को प्रोत्साहित किया है। उदाहरण के लिए मिल मालिक कम पैसा देकर अधिक लाभ कमाना चाहता है। जबकि श्रमिक वर्ग अपने कार्य के घण्टों के अनुसार भुगतान की आशा करता है। इस तरह दोनों में विवाद का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति प्राय: सभी औद्योगिक केन्द्रों पर देखी जाती है। तालाबन्दी, काम रोको, नारे बाजी, अनशन, हड़ताल आदि आदि के उपायों का सहारा लिया जाता है। इसमें श्रमिक संगठनों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है इसके अतिरिक्त औद्योगिक केन्द्रों ने कुछ अपने स्तर से भी समस्याओं को जन्म दिया है जैसे - असुरक्षा की भावना तथा कार्य करने की खराब दशायें आदि हैं।

(स) औद्योगीकरण एवं गन्दी बस्तियाँ

औद्योगिक केन्द्रों पर आवास की समस्या के कारण या बहुत छोटे होने के कारण श्रमिकों को एकाकी परिवार में रहना पड़ता है। इसने भी अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। मजदूर अपने परिवार की नहीं जा पाते हैं जिसके कारण पारिवारिक समस्याओं को जन्म मिलता है। जिनमें पारिवारिक विघटन प्रधान और मुख्य है इसके अतिरिक्त गन्दी बस्तियों में रहने के कारण जिनमें हवा और रोशनी का विशेष अभाव रहता है जिनके कारण श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और वे भयंकर रोगों से ग्रसित होते देखे गये हैं। रहने के स्थान में गोपनीयता न होने के कारण अनैतिकता जैसी समस्याओं को प्रोत्साहन मिलता है। मध्यपान और जुआखोरी आदि आदि की समस्याओं ने भी श्रमिक जीवन में बिखराव को बढ़ाया है। व्यक्तिगत विघटन तथा आत्महत्या जैसी समस्याओं ने अपना सर ऊपर उठाया है अत: यह स्पष्ट है कि औद्योगिक गन्दी बस्तियों में स्थानाभाव के कारण श्रमिक अपने परिवार को पैतृक आवास पर छोड़ कर आते हैं जिसके कारण पारिवारिक नियन्त्रण में शिथिलता आती हैं यही कारण है कि इन समस्याओं के कारण पारिवारिक विघटन जैसी समस्याओं को प्रोत्साहन मिलता है।

18.5.2 आर्थिक जीवन पर प्रभाव

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि औद्योगीकरण की वृद्धि ने श्रमिकों के जीवन स्तर में परिवर्तन लाकर उनके दिन प्रतिदिन बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करने में बड़ी सहायता की है। औद्योगिक केन्द्रों पर लोगों को कार्य मिला है। तथा अन्य लोगों के सम्पर्क में आने के कारण

उनमें आगे बढ़ने की चाहत तथा व्यवसायिक गतिशीलता को प्रोत्साहन मिला है। इस चाहत के परिणाम स्वरूप ग्रामीण उद्योग धन्धों का विनास हुआ है। इसके अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में कुछ अन्य कठिन समस्याओं का भी जन्म हुआ है जिनका मानव जीवन पर दूरगामी प्रभाव पड़ता है जैसे मशीनों द्वारा बड़ी मात्रा में उत्पादन, मजदूरों की छटनी, नयी मशीनों को लगाना आदि आदि ने श्रमिकों में बेरोजगारी की समस्याओं को भी जन्म दिया है। और उनकी आर्थिक स्थिति अस्त व्यस्त हुई है।

(अ) बेरोजगारी की वृद्धि

वैसे तो औद्योगीकरण के कारण रोजगार के अवसरों में काफी वृद्धि होती है लेकिन भारत के सन्दर्भ में यह बेकारी उत्पन्न करने में एक प्रमुख कारण रहा है। उदाहरण के लिए हजारों लोगों के परिवार जो भारतीय उद्योग धन्धों में कार्य करते थे बड़ी बड़ी उद्योगों के कारण बेरोजगार हो गये। यद्यपि इन केन्द्रों पर कुछ लोगों को कार्य करने का अवसर तो मिला मगर यह बेरोजगारी के अनुपात में बहुत कम था। जिसके कारण इनका जीवन स्तर नीचे गिरा। कुछ दशाओं में तो कर्ज लेने की आदत भी बढ़ी है। जिसके कारण उनके जीवन में अनेक समस्याओं का समावेश हुआ है।

(ब) आर्थिक असमानता को बढ़ावा

औद्योगीकरण ने जहाँ कुछ अच्छे प्रभाव डाले वहां उसने समाज के विभिन्न वर्गों के बीच आर्थिक असमानता को बढ़ाया है। उदाहरण के लिए उत्पादन की शक्ति पर अधिकार रखने वाला वर्ग करोड़ों रूपयों का लाभ उठाते हैं। जबकि दूसरी तरफ श्रमिक जो कि इससे वंचित होकर अपने श्रम को बेचकर जीवन यापन करता है बड़ी मुश्किल से जीवन की न्यूनतम आवश्कताओं को पूरा करता है कभी कभी ऐसा भी होता है कि वे अपने आर्थिक संकटों से निपटने के लिए कर्ज का सहारा लेते हैं जो उनके जीवन में अभिशाप सिद्ध होता है। लम्बे समय तक कर्जदार बने रहते हैं जिसका एक बुरा प्रभाव उनकी आर्थिक स्थिति पर पड़ता है।

(स) औद्योगिक मतभेदों को प्रोत्साहन

औद्योगीकरण ने समाज को पूंजीपति और श्रमिक जैसे दो वर्गों में बाँट दिया है पूंजीपति दो वर्ग है जो औद्योगिक प्रतिष्ठानों का मालिक है तथा आर्थिक सम्पन्नता उसी विशेषता है। इन उद्योगों का संचालन उसके हाथ में रहता है जबकि समाज का दूसरा वर्ग वह है जो आर्थिक रूप से पिछड़ा है जिसकी आर्थिक विपन्नता अपनी विशेषता है उसके सामने मात्र एक विकल्प होता है कि वो अपने श्रम को बेचकर अपने श्रम को बेचकर अपने तथा परिवार के लिये जीविकोपार्जन करें। पूंजीपतियों को लगातार यह प्रयास रहता है कि श्रमिकों की मेहनत को अनदेखा कर अधिक से अधिक लाभ कमायें। जबकि दूसरी तरफ श्रमिक अपनी मेहनत के बदले में अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की लालसा रखते हैं उद्योग में लाभ हानि से उनका कोई सरोकार नहीं होता। स्पष्ट है यह विरोधी धारणायें आपस में मतभेद उत्पन्न कर तालमेंल में बाधा डालते हैं जिसके कारण उद्योगों में झगडो की शुरूआत होती है

तालाबन्दी, हड़ताल, नारेबाजी तथा आंशिक हड़तालों का सहारा मजदूरों को लेना पड़ता है। यहां तक कि कभी कभी संघर्ष ने हिंसा का रूप भी धारण किया है ऐसी दशा में वर्ग संघर्ष के कारण श्रमिकों की आर्थिक दशा पर बड़े व्यापक प्रभाव पड़ते हैं।

(द) श्रम समस्याओं का जन्म

औद्योगीकरण की तीव्र प्रक्रिया ने इन केन्द्रों पर विभिन्न प्रकार की श्रमिक समस्याओं को जन्म दिया है। क्योंकि यहां कुछ ऐसी ही परिस्थिति बनती है जैसे श्रमिकों को असुरक्षित स्थानों पर काम करना पड़ता है उजाले की उचित व्यवस्था नहीं होती है कभी कभी तो अंधेरे में काम करना पड़ता है इसके अतिरिक्त मशीनो का गड़गड़ाना, दुर्घटनाओं का होना, मालिकों द्वारा छूट्टी न देना, कार्य के घण्टों को बढ़ाना, श्रमिकों के कल्याण कार्य की उपेक्षा करना, बाल श्रमिकों को उद्योग पर लगाना बढ़ाना, श्रमिकों के कल्याण कार्य की उपेक्षा करना, बाल श्रमिकों को उद्योग पर लगाना तथा उनका शोषण करना आदि आदि समस्यायें हैं जिनके कारण तमाम सी औद्योगिक बीमारियों जैसे - बहरापन, अपंगता, उत्पन्न होती है। गन्दी बस्तियों के कारण तपेदिक जैसी बीमारियों को बढ़ावा मिलता है। उल्लेखनीय हे इन समस्याओं से निजात पाने के लिये सरकारी प्रयास सामाजिक विधायकों द्वारा किये गये हैं लेकिन इनका कोई समुचित प्रभाव नहीं पड़ा है उसका मूल कारण यह है कि सच्चे मन और ईमानदारी से न तो उनका पालन हुआ और न वे औद्योगिक समाज में लागू हो पाये हैं।

18.5.3 सांस्कृतिक प्रभाव

औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने जहां सामाजिक और आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र पर प्रभाव डाले हैं वहीं पर उसकी छाप समाज की संस्कृति पर पड़ती देखा है जिसे सांस्कृतिक प्रभाव के रूप में समझा जाता है। जिसके कारण औद्योगिक समाज की संस्कृति में कुछ विचित्रतायें दृष्टिगत होती है।

(अ) धार्मिक भावनाओं का ह्रास

औद्योगिक केन्द्रों पर विभिन्न मतों और धर्मों से आने वाले लोगों के साथ मेल जोल होने पर श्रमिकों ने धार्मिक भावनाओं का ह्रास देखा जाता है। इसका एक मात्र कारण ये हैं कि एक श्रमिक संस्कृति की कुछ विशेषताओं को स्वीकार करता है, परिणाम स्वरूप उसके मानस पर प्रभाव पड़ता है, वह अपने आचार विचार, मान्यताओं, भावनाओं और विश्वासों को बदलने लगता है। जिसका प्रत्यक्ष और स्पष्ट प्रभाव उसकी धार्मिक भावनाओं पर दृष्टिगोचर होता है। संक्षेप में यह बदले हुये सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश के परिणामस्वरूप घटित होता है।

(ब) भौतिक मूल्यों की वृद्धि

श्रमिकों का वाह्य जगत से सम्पर्क होने के कारण भौतिक मूल्य उसे प्रभावित करते हैं। उसकी संस्कृति में बदलाव आने लगता है। और वह भी इच्छा करता है कि वह दूसरों की तरह ठाठ बाठ से रहे और उसका भौतिक सुख प्राप्त करे स्पष्ट है कि उसका यह वैचारिक

बदलाव उसके आस पास फैले हुये सांस्कृतिक माहौल के परिणाम स्वरूप है वह उससे अनुकूलन करना चाहता है। फलत: उसमें अपनी संस्कृति के प्रति अरूचि उत्पन्न होती है कालान्तर में उसकी संस्कृति की पहचान में संकट उत्पन्न होता है इस अलगाव के कारण वह अपनी संस्कृति की विशुद्धता पर सन्देह करने लगता है।

(स) बनावटी जीवन में विश्वास

जीवन की सरलता और कोमलता का ह्रास करना औद्योगिक जगत की अपनी पहचान है विभिन्न संस्कृतियों से आने वाले व्यक्तियों के सम्पर्क में मनुष्य की लालसा में बेतहासा वृद्धि होती है। और वह अपने जीवन में उन्हीं प्रतिमानों को उतारता है जिससे वह आधुनिक दिखें। कर्ज लेकर चीजों को इकट्ठा करना चाहता है दूसरों की संस्कृति के साथ प्रतिस्पर्धा करता है और दिखावे को प्रोत्साहन देकर बनावटी जीवन में विश्वास करता है जिसका परिणाम यह होता है कि वह प्रकृति से दूर जाता है संकटों में गोते लगाता है उचित और अनुचित के मध्य रेखा खीचने में असफल होता है यह सब इस कारण घटित होता है कि श्रमिक अपने जीवन में बनावटी विश्वासों को सृजित करता है।

18.6 सारांश

औद्योगिक क्रान्ति ने उद्योगों और प्राद्योगिकी की सहायता से वैज्ञानिक विकास की प्रक्रिया को एक दिशा प्रदान की है जिससे आगे चलकर एक औद्योगिक युग का सूत्रपात होता है। जिसका प्रभाव भारत पर भी पडा है अंग्रेजों ने अपने स्वतंत्रता के पश्चात एक नियोजित उद्योग नीति बनाई गई। ओर तब उद्योगों का विकास भारत में प्रारम्भ हुआ है भारत में बड़े बड़े उद्योग लगाये गये। परिणामस्वरूप बड़े बड़े नगरों का विकास हुआ लेकिन इनकी यह विशेषता रही कि दोनों प्रक्रियाओं अर्थात नगरीकरण और औद्योगीकरण ने भारतीय समाज को भरपूर प्रभावित किया। संक्षेप में यह दोनों प्रक्रिया एक साथ चली। अत: इनकों दोहरी प्रक्रिया के रूप में माना जाता है। जिनके कारण सामाजिक और सांस्कृतिक भूचाल भारत में आया। नगरीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ग्रामीण क्षेत्र से लोग शहर की ओर भागने लगे। शहरों की तड़क भड़क उसका रंगीला जीवन अपनी ओर आकर्षित करने लगा। यही नहीं व्यवसायों की बहुलता अपरिचित संसार के खो जाने की सुविधा जीवन स्तर को अच्छा करने तथा भोतिकवादी दौड़ में सहभागिता करने वाली प्रवृत्तियों से वशीभूत होकर नगरीय संस्कृति को स्वीकारा है और नगरीयता को अपने जीवन में उतारा है।

कुछ ऐसी ही स्थिति औद्योगिक केन्द्रों पर भी देखी गयी है लोगों में रोजगार की लालसा, अच्छा जीवन स्तर, जीवन में आगे बढ़ने जैसी तमाम भावनाओं से वशीभूत होकर वह औद्योगिक केन्द्रों की ओर खिचा है और उसे वहां कार्य भी मिला किन्तु इतना सब होने के बावजूद भी वह मनचाहे फल को न प्राप्त कर सका है जिसका एक मात्र कारण आयोगों की अपनी विशेषताये थी। जिनका व्यक्ति के साथ अनुकूल नहीं हो सका फलस्वरूप मानव जीवन पर दूरगामी प्रभाव पड़ा । पारम्परिक संस्कृति का विनाश हुआ सामाजिकता के

MANM-10

प्रतिमान बदले। सम्पन्नता के स्थान पर विपन्नता का बोलबाला हुआ।

इतनी विभिन्नता और बिखराव के पश्चात भी नगरीकरण और औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने श्रमिक जीवन में कुछ आमूल चूल तथा सार्थक परिवर्तन न सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आधार पर घटित किये जिन्हें नकारा नहीं जा सकता इन्होंने मानव को बन्द दुनिया से खुली दुनिया में लाकर सोचने, समझने और बदलने का एक अनुपम अवसर प्रदान किया है औद्योगीकरण और नगरीकरण ने ऐसी सक्तियों को सम्बल दिया जिन्होंने सांस्कृतिक समागम की सुविधा प्रदान की है। उन्होंने समाज में व्यक्ति को तर्कशील होकर परिस्थिति का आकलन करने की क्षमता भी प्रदान की है। स्पष्ट है कि गुण दोष तो सबमें होते हैं किन्तु प्रश्न यह है कि वर्चस्व किसका है, किसने किसको कितना धारण किया है यह तो व्यक्ति की अपनी बुद्धिमता पर निर्भर करता है। जिसे भावी समाज स्वयं प्रमाणित करेगा।

18.7 सन्दर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

	पुस्तक का नाम	लेखक
1.	अर्बनाइजेशन इन न्यूली डेवलपिंग कन्ट्रीज	गेराल ब्रीज
2.	अर्बनाइजेशन आफ ह्यूमन पापुलेशन	के. डेविस
3.	डिक्शनरी आफ सोसल साइंसेज	गोल्ड एण्ड कोल्ड
4.	डिक्शनरी आफ सोशियालोजी	फेयर चाइल्ड
5.	अवर इन्डस्ट्रियल अरबन सिविलाइजेशन	एम. एण्डरशन
6.	रूरल सोशियालोजी इन इण्डिया	ए. आर. देशाई
7.	ऐन इण्डियन विलेज	एस. सी. दूबे

18.8 सम्बन्धित प्रश्न

(अ) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. नगरीकरण के गुण और दोषों की विवेचना कीजिए।

2. नगरीकरण ने समाज के सांस्कृतिक जीवन पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। विवेचना कीजिए ।

3. औद्योगीकरण की प्रक्रिया से आप क्या समझते हैं स्पष्ट कीजिए

4. औद्योगीकरण ने समाज में आर्थिक प्रगति को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया है, इस कथन की समीक्षा कीजिए ।

(ब) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नगरीकरण क्या है? उसके सामाजिक प्रभावों पर प्रकाश डालिए।

2. भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया को जन्म देने वाले कारकों की विवेचना कीजिए।

3. औद्योगीकरण ने भारतीय जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है? इस कथन की विवेचना कीजिए।

4. औद्योगीकरण एवं नगरीकरण एक संयुक्त प्रक्रिया है भारत के सन्दर्भ इसकी व्याख्या कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. निम्नलिखित में से औद्योगीकरण से उत्पन्न कौन सी समस्या है -

   अ) दुर्घटना में वृद्धि

   ब) मजदूर समस्यायें

   स) बेकारी

   द) उपर्युक्त सभी

2. निम्नलिखित में से औद्योगीकरण की विशेषता नहीं है -

   अ) उत्पादन में मशीनों का प्रयोग

   ब) कुटीर व्यवसाय में वृद्धि

   स) जनशक्ति का प्रयोग

   द) मजदूरों की सहभागिता

3. निम्नलिखित में से नगरीकरण का सामाजिक जीवन पर कौन सा सकारात्मक प्रभाव नहीं है।

   अ) अर्न्तजातीय विवाह

   ब) द्वितीयत सम्बन्धी की वृद्धि

   स) स्त्री पुरूष समानता में वृद्धि

   द) श्रम विभाजन का विशेषीकरण

4. ग्रामीण क्षेत्रों को नगरीय क्षेत्रों में परिवर्तन होने की प्रक्रिया को नगरीरकण कहते हैं किसने कहा है ?

   अ) कोल्ड एण्ड कोल्व

   ब) एन. एण्डरसन

   स) बर्गल

   द) डेविस

18.9 प्रश्नोत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. द
2. ब
3. ब
4. स

इकाई 19 उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण के सामाजिक, सांस्कृतिक परिणाम

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 उदारीकरण का अर्थ

19.3 आर्थिक उदारीकरण की विशेषताएँ

19.4 आर्थिक उदारीकरण के विविध परिणाम

19.5 भूमण्डलीकरण की अवधारणा

19.6 भारत में भूमण्डलीकरण

19.7 भूमण्डलीकरण के सामाजिक परिणाम

19.8 भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक परिणाम

19.9 सारांश

19.10 सन्दर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

19.11 प्रश्नोत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान सकेंगे :

* उदारीकरण का अर्थ क्या है?
* आर्थिक उदारीकरण का अर्थ एवं प्रतिफल
* सामाजिक उदारीकरण का अर्थ एवं प्रतिफल
* भूमण्डलीकरण का अर्थ
* समाजशास्त्र की कहानी भूमण्डलीकरण तक
* भूमण्डलीकरण के प्रभाव
* संस्कृति पर प्रभाव
* समाज पर प्रभाव

NMDC-02

19.1 प्रस्तावना

पिछले लगभग डेढ़ दशक से उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण की आवाजें सुनाई पड़ने लगीं। इन धारणाओं पर अर्थशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने विमर्श प्रारम्भ कर दिया। आज इनका फैलाव सर्वव्यापी है। ऐसे में इन पर चिंतन-मंथन आवश्यक हो गया। इसी चिन्तन -मंथन की झलक इस इकाई में प्रस्तुत है।

19.2 उदारीकरण का अर्थ

उदारीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो लोगों और समाज को उदार बनाती है। यह पद दो शब्दों के योग से बना है उदार और कारण। उदार का अर्थ खुले मस्तिष्क का अथवा खुले दिमाग का है। खुले मस्तिष्क का वह व्यक्ति होता है जो अतिवादी अथवा अतिसंयमी नहीं होता अर्थात् अनुदार नहीं होता। जो व्यक्ति या समाज रूढ़िवादी होता है अथवा परिवर्तन रोधी होता है उसे अनुदार व्यक्ति/समाज की संज्ञा दी जाती है। उदार समाज वह होता है जो नमनशील अथवा माडरेट (संतुलित) होता है। ऐसा समाज न तो बहुत नरम होता है और न बहुत कठोर। अति कठोरता अथवा कट्टरता की स्थिति किसी भी समाज के लिए अवांछनीय है। वॉछनीय है उदारता अथवा नमनशीलता। उदारता बाह्य प्रभावों, विश्वासों, विचारों एवं व्यवहारों को ग्रहणशीलता को सुलभ बनाती है। करण का अर्थ है करना अथवा बनाना। उदारीकरण का सीधा अर्थ है उदार बनाना। उदारीकरण एक प्रक्रिया है जो व्यक्तियों एवं समाजों को उदार बनाती है। उदारीकरण के माध्य से नियंत्रणों एवं हस्तक्षेपों को शिथिल किया जाता है।

भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया बहुत पहले से ही विद्यमान है। हमारे देश की कुछ विलक्षणताओं ने इसे उदार बनाया है। सर्वसमावेश की प्रवृत्ति एवं सहनशीलता ने इसे उदार बनाया है। भारत उदार समाज का एक अच्छा उदाहरण है। सेगल रोनाल्ड सहनशीलता को वह सामग्री मानते हैं। जिससे भारतीय चरित्र का निर्माण हुआ है (द क्राइसिस आव इंडिया, 1965)

19.3 आर्थिक उदारीकरण की विशेषताएँ

आर्थिक नीति के सन्दर्भ में उदारीकरण की चर्चा की जाती है और इसे परिणाम आर्थिक होते हैं। आर्थिक विकास में रोड़ा डालने वाले अनावश्यक नियंत्रणों अथवा हस्तक्षेपों को ढीला करने के लिए उदारीकरण की बात की जाती है आर्थिक विकास निर्बाध गति से होता रहे इस हेतु आर्थिक नीति को सरल एवं उदार बनाना पड़ता है। आर्थिक सन्दर्भ में उदारीकरण से अभिप्राय उद्योग अथवा व्यापार को अनावश्यक प्रतिबंधों से मुक्त करके अधिक प्रतियोगी बनाना है। व्यक्तियों को निजी आर्थिक निर्णय लेने की स्वतंत्रता आर्थिक उदारीकरण है जिसमें निम्न बातों का समावेश होना चाहिए।

* वस्तुओं एवं सेवाओं के आवागमन पर लगी रूकावटों एवं नियंत्रणों को हटाना।
* वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण उत्पादकों द्वारा होना।
* उत्पादों के वितरण पर किसी भी तरह की रोक का न लगाया जाना।
* निजी उपक्रम एवं पूँजी को बढ़ती मात्रा में निवेश के अवसर प्रदान करना।
* निजी उपक्रम एवं पूँजी पर लगी रूकावटों एवं नियंत्रणों को हटाना।

संक्षेप में उदारीकरण की व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक प्रणाली में सरकार की भूमिका क्रमशः कम होती जाती है जब कि मांग पूर्ति की बाजार शक्तियों की भूमिका अनुपात में बढ़ती जाती है।

18.4 आर्थिक उदारीकरण के विविध परिणाम

इसके परिणाम अधोलिखित हैं:-

* आयात-निर्यात में वृद्धि हुई है।
* कीमत स्तर में गिरावट की प्रवृत्ति रही है।
* विदेश विनिमय मुद्रा कोष (फारेन करेंसी रिजर्व्स) पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है।
* विदेशी प्रत्यक्ष (फारेन डाइरेक्ट इनवेस्टमेंन्ट) में काफी वृद्धि हुई है।
* राजकोषीय घाटे (फिस्कल डेफिसिट) में कमी नहीं हो सकी है।
* बेरोजगारी में वृद्धि हुई है।
* घरेलू बचत तथा निवेश की दर में कमी आयी है।
* निर्धनता उन्मूलन में असफल रही है।

ध्यान रहे कि आर्थिक सुधारों का कोई कार्यक्रम (उदारीकरण कार्यक्रम) तब तक सफल नहीं होगा जब तक समाज के कमजोर वर्ग के लोगों के हितों की अनदेखी होती रहती है। उदारीकरण के आर्थिक लाभ भले ही थोड़ा सकारात्मक रहे हों पर सामाजिक लाभों की दिशा में इसका योगदान न के बराबर है। आर्थिक उदारीकरण की नीति से निर्धनता रेखा से नीचे रह रहे 26.1 करोड लोगों, खुली एवं प्रच्छन्न रोजगारी के शिकार 2.4 करोड़ लोगों, अशिक्षा एवं अज्ञानता के मकड़ जाल में फंसे 36 करोड़ लोगों, स्वच्छ एवं पेयजल को तरसते 25 करोड़ लोगों का उद्धार नहीं हो पाया है।

विविधता में एकता, समन्वयवादी प्रवृत्ति इसी के परिणाम हैं। अंग्रेजों के सामाजिक, सांस्कृतिक प्रभाव, मुस्लिम सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव एवं पश्चिमी सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव आदि इसी क्रिया के प्रतिफल हैं। पश्चिम के ज्ञानोदय कालीन तथा उसके बाद के प्रभाव इसी की देन है । पश्चिम के वैज्ञानिक ज्ञान एवं तार्किक विचारधाराओं को अपनाने की अनुमति उदारीकरण से ही प्राप्त हुई।

उदारीकरण का सबसे बड़ा प्रतिफल भूमण्डलीकरण है। कहते हैं कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। भूमण्डलीकरण का कारण उदारवाद है। भारत जैसा कि प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। एक उदार चेता देश था और यहाँ का समाज एक **उदार समाज** था। अनुदारता अथवा कठोरता का समर्थन भारतीय समाज ने कभी नहीं किया। इसी उदारमना प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप भारत में भूमण्डलीकरण पल्लवित एवं पुष्पित हुआ।

19.5 भूमण्डलीकरण की अवधारणा

भूमण्डलीकरण पर 'द इकोनामिक न्यूज पेपर लिमिटेड द्वारा प्रकाशित पुस्तक (2001, पहला साउथ एशियन संस्करण 2002) में विद्वानों के लेखों का संग्रह है। इन लोगों के माध्यम से भूमण्डलीकरण की अच्छाइयों एवं बुराइयों को उजागर किया गया है। इस ग्रन्थ के परिचयात्मक विवरण में भूमण्डलीकरण के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। कुल तीन पहलुओं की चर्चा है।

सर्वप्रथम **भूमण्डलीकरण कोई नवीन धारणा नहीं है**। सहस्त्रों वर्ष पूर्व वस्तुएं, विचार एवं लोग भूमण्डल में सर्वत्र आते जाते रहे हैं। आधुनिक तकनीकी तंत्रके समूह विशेषकर इंटरनेट और ब्राडबैण्ड इंटरनेट - ने नवीन भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था की गति तेज कर दी है। ट्रेन और स्टीमशिप 19वीं शताब्दी से भूमण्डलीय आर्थिक एकीकरण के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। इनके आवागमन की लागत को उसी तरह घटा दिया है जैसे नूतन तकनीकी तंत्र ने संचार की लागतों को घटाया है।

द्वितीश, **भूमण्डलीकरण अच्छा है** । यह एक विवादास्पद धारणा है पूँजीवाद विरोधी कहते हैं कि भूमण्डलीकरण ने गरीब देशों की कीमत पर धनाढ्य देशों की सेवा की है। 11 सितम्बर को अमेरिका पर हुए आतंकवादी हमले से ऐसे आक्षेप (आलोचानाएं) और सुलभ हो गये हैं। लेकिन सत्य यह है कि आर्थिक एकीकरण से सबको लाभ हुआ हैं। इसमें कोई चौकाने वाली बात नहीं है कि व्यापार की कम बाधाओं आँर कम नियंत्रणों — याद रहे अधिक नहीं- द्वारा गरीब और अमीर देशों को समान लाभ होगा। पूँजीवादी विरोधियों के भूमण्डलीकरण के विषय में अन्य आक्षेप जैसे पर्यावरणीय विनाश और अमेरिकी सांस्कृतिक आधिपत्य भी सही नहीं हैं क्योंकि भूमण्डलीकरण का अर्थ पर्यावरणीय विनाश और अमेरिकी सांस्कृतिक आधिपत्य नहीं हैं।

तृतीय भूमण्डलीकरण अच्छा है पर यह **इतना सर्वव्यापी नहीं है, जितना लोग समझते हैं** । **मुद्रा और** वस्तुओं का बहाव उतनी आसानी से देश की सीमाओं के बाहर नहीं होता है जितनी आसानी से देश विशेष के अन्दर। आज की तुलना में उन्नीसवीं शताब्दी में श्रम की गतिशीलता अधिक थी। इस बात का विस्तार, बताता है कि भूमण्डलीकरण की धारणा एक दुर्बल धारणा है। इसे बंद किया जा सकता है अथवा इसे उल्टा जा सकता है महान मंदी के समय यह हुआ और आगे भी हो सकता है।

19.6 भारत और भूमण्डलीकरण

वसुधैव कुटुम्बकम :

भूमण्डलीकरण एक विश्वव्यापीकरण की प्रक्रिया है । भारत में उदार मस्तिष्क की विशेषता ने बहुत पहले ''वसुधैव कुटुम्बकम'' की ज्ञान ज्योति जलाई थी जो सन् 1990 के बाद भूमण्डलीकरण के रूप में साकार हो उठी। आज भूमण्डलीकरण की चचाट जोरों पर है। इसकी चपेट में सभी देश और समाज आ रहे हैं। वसुधैव कुटुम्बकम की विचारधारा में दीवारों और सीमाओं का कोई बन्धन न था। यह देश की सीमाओं को लांघ जाने वाली विचारधारा थी और आज भी है। यह सार्वभौमिक भाई-चारे की विचारधारा थी। इसमें पूरे विश्व को अपना समझने की एक बलवती अभिलाषा थी। सबसे अच्छी बात तो यह है कि इसमें **गैर बराबरी और दासता की कहीं कोई महक न थी**। भारत में स्वतंत्रता एवं समानता के मूल्य सदा से उपस्थित रहे हैं। वसुधैव कुटुम्बकम के आदर्श में सर्व समावेश (आल् अकमोडेटिंग) की धारणा समाई हुई है। इसमें सबको अपना बना लेने और अपने में मिला लेने का प्रखर भाव मौजूद है। संक्षेप में, **भारत के दृष्टिकोण एवं सोच सदा से सर्वव्यापी थे**। अत: जब सर्वव्यापी करण (भूमण्डलीकरण) की उत्ताल तरंग डेंढ़ दशक पूर्व उठी तो चूँकि यह उत्ताल तरंग भारत के समाज से मेल खाती थी भारतवासियों ने इसे सहर्ष अपना लिया।

सहिष्णुता-

एक अन्य दृष्टिकोण अथवा प्रवृत्ति भारत में पहले से ही विद्यमान थी जिसके कारण भी भारत में भूमण्डलीकरण का स्वागत हुआ। इस दृष्टिकोण को सहिष्णुता के रूप में जाना जाता है।

सर्वकल्याण -

सर्वकल्याण की पूत भावना हमारे देश की महानता एवं विशाल हृदयता की परिचायक है यह भावना भी भूमण्डलीकरण को अपना लेने में हमें प्रेरित एवं बाध्य करती है। 'सब सुखी हों, कोई दु:खी न हो यह भावना सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसमे स्वार्थ की कहीं कोई दुर्गन्ध नहीं है। यह तो पूर्णतया परोपकार मय है। इसमें मानवता के प्रति प्रेम छलकता एवं झलकता है।

भूमण्डलीकरण एक मात्र विकल्प :

अब जब भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी है तो भारत को भी उसे अपनाना है इसके अलावा अन्य कोई विकल्प है भी नहीं। यह सच है कि यदि विश्व होड़ में सम्मिलित होना है तो इसे अपनाना है। इसका मतलब यह नहीं है कि भूमण्डलीकरण सदा एक अच्छी प्रक्रिया है। इसके आलोचक भी हैं, इसकी समीक्षायें भी हुई हैं इसे संदेह से देखने वाले विचारक भी है।

19.7 भूमण्डलीकरण के सामाजिक परिणाम

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया नूतन साम्राज्यवाद की जननी है इसने आर्थिक साम्राज्यवाद, राजनैतिक साम्राज्यवाद और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को उपजाया है। इसके सामाजिक प्रभाव निम्न हैं:-

उपभोगवादी समाज का प्रादुर्भाव:

सामाजिक जीवन, सामाजिक समूह, संस्थाओं, और सामाजिक संबंधों को इस प्रक्रिया ने बदलने का प्रयास किया है। इसने समाज और सामाजिक जीवन को भूमण्डलीय स्वरूप देकर उन्हें राष्ट्र राज्य अथवा भौगोलिक सीमाओं के पार पहुँचा दिया है। अब एक नए विश्वस्तरीय सामाजिक संगठनों और सामाजिक संस्थाओं का जन्म हो रहा है। सामाजिक चिंतन को नूतन दृष्टि प्राप्त हुई है। इसने समाजों में परस्पर निर्भरता तथा परस्पर जुड़ाव का मार्ग खोल दिया है।विश्व के सभी समाज पास-पास आ गये हैं। उनके बीच की दूरी सिकुड़ गयी है। जिससे उनमें सामाजिक ज्ञान का आदान-प्रदान हो रहा है। विश्व के सभी समाजों के निकट आने से भविष्य में एक विश्व समाज के निर्माण की सम्भावना बलवती हुई है। कार्लमार्क्स की मान्यता है कि उत्पादन के सम्बन्ध समाज का आधार होते हैं और जब उत्पादन संबंध बदलते हैं तो सम्पूर्ण समाज एवं उसके सभी आयामों में परिवर्तन होता है। **भूमण्डलीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और मुक्त प्रतियोगी बाजार व्यवस्था ने समाज को खतरों से भरे समाज** (रिस्क सोसायटी) **और उपभोग समाज** (कन्ज्यूमर सोसायटी) **की ओर ढकेल दिया है।** पूरा विश्व पूँजीवादी समाज की स्थापना की ओर बढ़ रहा है। भौगोलिक दृष्टि से दूर-दूर के इलाकों में रहने वाले उत्पादकों, उपभौक्ताओं और वितरकों को जोड़ने का काम व्यापार एवं विश्वव्यापी पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा किया जा रहा है।

श्रम विभाजन:

श्रम विभाजन का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय बन रहा है। उदाहरण के लिए विकसित देश उन वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनमें ज्यादा धन के निवेश की आवश्यकता है। जिनके पास धन नहीं है उनके लिए श्रम ही पूँजी है और वे श्रम करते हैं।

गरीबों की उपेक्षा -

भूमण्डलीकरण ने गरीबों के लिए कुछ नहीं किया। अमीर और गरीब के बीच की दरार और चौड़ी हो रही है। कम्प्यूटर के प्रयोग से बेरोजगारी में वृद्धि हुई है। रोजगार के अवसर के क्षेत्र बदल गये हैं। जापान जैसे देश में रोजगार के अवसर तकनीकी क्षेत्र में हैं। भारत की भी न्यूनाधिक रूप से यही स्थिति है।

एड्स -

एड्स की बीमारी का फैलाव विश्वव्यापी बन चुका है। यह बीमारी परिवार एवं समाज के लिए घातक है। इससे बचने के उपाय बताए जा रहे हैं, अभियान चलाये जा रहे हैं।

शोषण एवं असुरक्षा-

तीसरी दुनिया के बच्चों का शोषण एवं वंचन शिखर पर पहुँच गये हैं स्त्रियों की भी कुछ ऐसी ही दशा है बूढ़ां को कोई पूछने वाला नहीं है। वे भगवान' सहारे हैं।

हथियारों की गैर-कानूनी आवाजाही से समाज में असामाजिक तत्वों, डान एवं माफियों में वृद्धि हो रही है। **इनके अपराधों एवं जुल्मों से त्राहि-त्राहि मची है और असुरक्षा की भावना समाज एवं देश में व्याप्त है।** कहने की आवश्यकता नहीं, नारी बच्चों एवं भूमि का अपहरण हो रहा है। अपराध बढ़ रहे हैं अपराधी अपराध करके बाहर के मुल्कों को भाग जाते हैं। जिससे वे पकड़ से बाहर हो जाते हैं। आतंकवाद में वृद्धि हो रही है। भूमण्डलीकरण के प्रभाव व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के लिए हितैषी नहीं दिख रहे हैं।

दत्तक ग्रहण :

यह संस्था भी भूमण्डलीकरण के प्रभाव से अछूती नहीं रही। अपुन्नता की स्थिति में गोद लेने की परम्परा रही है। बाल कल्याण एवं महिला विकास विभाग तथा यूनिसेफ द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार गरीब जनजातीय परिवारों के बच्चे अन्तर्राष्ट्रीय दत्तक ग्रहण एजेन्सियों द्वारा प्राप्त कर लिये जाते हैं। क्योंकि पश्चिमी दम्पत्ति एक शिशु को गोद लेने के लिए 50,000 डालर तक की रकम देने को तैयार रहते हैं। ऐसे भी उदाहरण है जहाँ भारतीय दम्पत्ति द्वारा गोद लिये गये बच्चे एक दत्तक ग्रहण एजेन्सी द्वारा इसलिए वापस ले लिये गये क्योंकि विदेशी दम्पत्ति एक बड़ी रकम डालर में देने को इच्छुक थे (द हिन्दू) आन्ध्र प्रदेश में दत्तक ग्रहण धोखाधड़ी (रैकट) का विरोध हो चुका है यह धारणा इस तथ्य पर प्रकाश डाल रही है। कि किस तरह **भूमण्डलीय बाजार ताकतें सामाजिक एवं विधिक बन्धनों पर विजय हासिल कर रही है।**

समाचार पत्रों में ऐसी खबरें छपी हैं कि विदेशों से धनी रोगी भारत के शहरों में गुर्दा प्रत्यारोपण के लिए आते हैं जिससे पिछड़े इलाके के गरीब किसानों को एक आकर्षक रकम का लालच देकर उनसे गुर्दा देने को कहा जाता है।

अपराध में 'हाईटेक' का प्रयोग-

अपराध पहले भी होते थे पर अपराधी पकड़ में आ जाते थे और उन पर निगाह रखना सरल था। अब 'हाई टेक' के इस्तेमाल से अपराध की कोटि और संख्या पर प्रभाव पड़ा है। नकल के अपराध काल गर्ल के रूप में वेश्यावृत्ति के अपराध, हत्या में सूक्ष्म तकनीकी वाले आग्नेयास्त्रों के प्रयोग से हत्या की घटनाओं में वृद्धि तथा धोखाधड़ी के अपराधों में इजाफा से सामाजिक विघटन एवं पारिवारिक विदारण की स्थिति उत्पन्न हो रही है। हाई टेक का प्रयोग जहाँ अपराधी कर रहे हैं वहीं अपराध का बचाव करने वाले भी इसका प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए शातिर नकल कराने वाले माफिया नकल कराने के नायाब तरीके अपना रहे हैं एक ऐसा मामला हाल ही में प्रकाश में आया है। फिंगर प्रिन्ट से बचने के लिए अपराधी ने अंगूठे में झिल्ली चिपका ली थी जो इतनी बारीक होती है कि प्रथम दृष्टया पकड़ में नहीं आती

है यह नकल का मामला सी. पी. एम. टी. परीक्षा से जुड़ा है।

उक्त परीक्षा में एक छात्र ने तो कमाल कर दिया। उसने कक्ष निरीक्षक के हस्ताक्षर हो जाने के बाद उत्तर पुस्तक की कार्बन कापी फाडकर रख ली और मूल कापी पर सारे उत्तर काले कर दिया। अपनी कार्बन कापी पर बाद में सभी-सही उत्तर काले कर लिये। जब उसका सलेक्शन नहीं हुआ तो मुकदमा कर दिया यह अभियोग लगाते हुये कि किसी परीक्षक ने शरारतन उसकी मूल उत्तर पुस्तिका में सारे उत्तर काले कर दिये। नतीजा यह हुआ कि चिकित्सा शिक्षा विभाग द्वारा उस छात्र को प्रवेश देना पड़ा। अब इस प्रकार की धांधलियों से बचने के लिए फोरेंसिक विशेषज्ञों की मदद से बेदाग परीक्षा कराने की बात चल रही है, (दैनिक जागरण, 27 दिसम्बर 2005)

जनजाति पर प्रभाव –

जनजातीय समुदाय अपने सामुदायिक जीवन और सामूहिकता की भावना से चिपका होता है। भूमण्डलीकरण सामूहिक अधिकारियों की जगह निजी अधिकारों को आगे बढ़ा रहा है इस प्रकार आदि समाज सबसे अधिक भूमण्डलीकरण का शिकार बनने जा रहा है।

दहेज की बढ़ती मांग:

भूमण्डलीकरण से प्रभावित होकर लोग लालची और भौतिकवादी बन रहे हैं। इसी कारण दहेज की माँग तेज रफ्तार से बढ़ रही है।

महिला वर्ग का प्रभाव:

स्त्रियों में सौन्दर्य चेतना एवं सौन्दर्य बोध पराकाष्ठा पर है। उनकी सुन्दर, गोरे और आकर्षक बनने की उत्कट अभिलाषा जोर पकड़ रही है। वे अलंकरण के प्रसाधनों का प्रयोग पहले से अधिक करने लगी हैं। फलत: परिवार की आय का अच्छा खासा भाग अलंकरण प्रसाधनों के प्रयोग और सौन्दर्य गृहों में जाने पर व्यय कर देती हैं। कुछ तो जब धन का अभाव देखती है तो देह व्यापार की ओर कदम बढ़ाने लगती हैं। या कदम बढ़ाने की बात सोच सकती हैं। कुछ तो कदम बढ़ा चुकी हैं। और उनकी देखा-देखी कुछ इस व्यापार में लिप्त हो जाने में लज्जा का अनुभव नहीं करती। उनके लिए इसमें कोई हर्ज की बात नहीं है।

खाते पीते घरों की कुछ लड़कियाँ सौन्दर्य गृहों, मसाज गृहों, 'आओ दोस्ती करें' जैसे धन्धें के माध्यम से काल गर्ल बनने में भी संकोच एवं लज्जा का अनुभव नहीं करती हैं। बात साफ है कि बाजार व्यवस्था के अन्तर्गत यदि प्रत्येक वस्तु बिकाऊ बन जाये तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

समाज व्यवस्था पर प्रभाव:

भारतीय समाज व्यवस्था पर जो भूमण्डलीकरण का प्रभाव पड़ा है। वह खतरनाक हानिकारक एवं प्रतिकूल है।

विवाह एवं परिवार पर प्रभाव:

विवाह परिवार का आधार है। एक परिवार में पति-पत्नी उनके बच्चे होते हैं। पति-पत्नी का रिश्ता विवाह से बनता है इसी विवाह का परिणाम बच्चे होते हैं। विवाह संबंधों के बिगाड़ने में भूमण्डलीकरण का हाथ रहा है। इस प्रक्रिया से जन्मी बन्धन मुक्तता, लड़के और लड़कियों का बेरोक टोक मिलना, साथ-साथ घूमना और काफी देर तक साथ रहना संभव हो सका है। विवाहोत्तर यौन संबंधों विवाह के पहले और विवाह के बाद यौन संबंधों की गति एवं आवृत्ति में वृद्धि भूमण्डलीकरण के कारण संभव हो सकी है। यदि यह कहा जाय कि यौन संबंध यौनाचार की ओर उन्मुख हो रहे हैं तो शायद अतिश्योक्ति न होगी। **लगता है कि यौन संबंधों में बिगाड़ इस सीमा तक हो जायेगा कि फिर से स्वच्छन्द यौनाचार के युग की ओर वापसी हो जायेगी। इससे विवाह जैसी कोई संस्था ही न रहेगी। विवाह की संस्था खतरे में है।** इसके अतिरिक्त स्त्रियों की अदला-बदली का असर भी अवांछनीय है। स्त्रियों का पर पुरूषों के साथ घूमना एवं नृत्य करना एक प्रकार का बौद्धिक खोखलापन है। इसकी उल्टी स्थिति अर्थात् पुरूषों का पर स्त्रियों के साथ नृत्य करना और घूमना भी बुरा है।

विवाह प्रत्यय के विलोप के साथ परिवार का प्रत्यय भी विलुप्त हो सकता है। विवाह के डगमगाने से परिवार भी डांवाडोल हो सकता है। विवाह संबंधों के लड़खड़ाने से पारिवारिक संबंध भी प्रभावित होंगे। **जब पति पत्नी का संबंध ही नहीं होगा तो विवाह जन्य नातेदारी का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।** और नातेदारी शब्दावली भी प्रभावित हो जायेगी। नातेदारी में बिगाड़ व्यवहार पर भी असर डालेंगे। **केवल विवाह संबंधों के बिगाड़ से विवाह परिवार एवं समाज सबका आकार प्रकार बदल जायेगा।** ईश्वर करे ऐसी स्थिति न आये पर भूमण्डलीयकृत हालात विवाह, परिवार, समाज और संस्कृति के लिए अच्छे नहीं हैं।

परिवार अपने सदस्यों पर **धाक और पकड़** से जीवित एवं स्वस्थ बना रहता है। पारिवारिक नियंत्रण से परिवार की गाड़ी सुचारू रूप से चलती रहती है आज्ञापालकता, पारस्परिक प्रेम, वात्सल्य, परस्पर विश्वास, परस्पर सम्मान, परस्पर निष्ठा, और सहयोग परिवार को अजर अमर रखने वाले तत्व हैं। **भूमण्डलीकरण ने व्यक्तिवाद (अहंवाद), भावात्मक तटस्थता तथा औरतों में अत्यधिक स्वतंत्रता की धुन को जन्म दिया है। अहंवाद सामंजस्य का शत्रु है** क्योंकि अहंवादी अपनी बात को मनवाने की जिद पर अड़ा रहता है। वह अपनी आत्म प्रतिष्ठा की रक्षा हर कीमत पर करना चाहता है। एक व्यक्ति के अहं की तुष्टि से दूसरे व्यक्ति के अहं को ठेस पहुँचती है। अत: यदि परिवार में एकाधिक अहंवादी हो जाते हैं तो पारिवारिक जीवन नरक बन जाता है और इसकी परिणति पारिवारिक विघटन के रूप में होती है।

भावना शून्यता अथवा भावनात्मक तटस्थता पारिवारिक जीवन के लिए अनुचित हैं। शौक एवं चाहत की भावना स्नेह है। आदर्श परिवार के सदस्यों में एक दूसरे के प्रति चाहत होती है वे एक दूसरे को पसन्द करते हैं, एक दूसरे की इज्जत करते हैं इसकी उल्टी स्थिति

पर विचार करें। यदि परिवार के सदस्य एक दूसरे से घृणा करते हैं और उनकी परस्पर चाहत सतही है तो ऐसे परिवार में विरोध एवं असामंजस्य उत्पन्न होंगे। **स्नेह और चाहत परिवार के आधार हैं** भावनात्मक तटस्थता ज़ो भूमण्डलीकरण की पहचान है निश्चय ही पारिवारिक विदारण को जन्म देगी।

स्त्रियों की बढ़ती हुई स्वतंत्रता अनिवार्य रूप से परिवार के लिए घातक है। निर्भरता की भावना जो हम भावना का एक प्रकार है। किसी भी परिवार की जीवनी शक्ति है, संजीवनी बूटी है इसके अभाव में परिवार नीरस एवं मृत हो जाता है। स्त्रियों में बढ़ती स्वतंत्रता ने पारिवारिक बंधनों को प्रतिकूल ढंग से प्रभावित किया है। आज की कुछ शिक्षित महिलाएं छोटी-छोटी असुविधाओं को भी सहन करने के लिए तैयार नहीं हैंवे बे रोक टोक का जीवन जीना चाहती हैं। अब वे उन्मुक्त हो चली हैं उनमें हैं स्वतंत्रता का उन्माद जिसे उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण की सौगात माना जा सकता है। ऐसी महिलायें परिवार को आघात पहुँचाती हैं, ठोकर मारती हैं। उनका परिवार एवं विवाह से मोह भंग हो गया है मनचले युवकों का भी परिवार से मोह भंग हो गया है।

सारांश यह है कि पविार एवं विवाह अपने बुरे दिनों से गुजर रहे हैं और अप्रिय मोड़ पर खड़े हैं। वे अस्त-व्यस्त दिख रहे हैं। इनका भविष्य अन्धकार मय है।

19.8 भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक परिणाम

पहचान का संकट -

विदेशी संस्कृत के विस्तार की गति इतनी ही रही जितनी है तो हमारी पहचान समाप्त हो सकती है। हमारी संस्कृति लुप्त हो सकती है। पोप संगीत और वेस्टर्न डान्स के सामने हमारे संगीत और नृत्य शायद टिक नहीं पा रहे हैं। आल्हा, नौटंकी, छत्तीसगढ़ी पंडवानी, पंजाबी गिद्दा आदि विधाएं आज अपनी पजचान खो चुकी हैं।

सांस्कृतिक वैश्वीकरण ने हमारे पहनावे को भी करारी चोट दी है। स्त्रियों का पहनावा अब ऐसा नहीं रहा जिसके आधार पर उन्हें पहचाना जा सके। वस्त्र एवं केश के आधार पर स्त्री पुरूष की पहचान मिटती सी जा रही है।

मूल्यों का संकट :

आज की स्त्रियां घर की चहारदीवारी से बाहर निकल चुकी हैं। नई पीढ़ी की कुछ-कुछ स्त्रियाँ नाइट क्लबों में जाती हैं, मिनी स्कर्ट पहनती हैं, धूम्रपान करती हैं, मदिरापान करती हैं। जीन्स पहनती हैं जो साड़ी बांधती हैं वे उसे नाभि से नीचे बांधती हैं और आस्तीन रहित ब्लाउज पहनती हैं। ब्यूटी पार्लरों में जाती हैं। शरीर के काफी हिस्से में मेंहदी लगवाती हैं वृद्ध पुरूष एवं वृद्धा स्त्रियां बाल रंगती हैं स्त्रियां भौहें बनवाती हैं यह कृत्रिम सुन्दरता समीक्षा से परे नहीं हैं।

इन्टरनेट पर चैंटिग के परिणाम तो और भयानक हो रहे हैं। इस चैंटिंग से तलाक एवं पत्नी त्याग की घटनाएं होना शुरू हो गयी हैं। दूसरी राधा बनी पंडा का मामला बहुचर्चित हो चुका है। ये सभी घटनायं यह सिद्ध करती हैं कि **भारत में मूल्यों का संकट गहराया है।** मूल्यों में तेजी से आई गिरावट अथवा परिवर्तनों पर प्रो. योगेन्द्र सिंह ने कल्चर एण्ड चेंज इन इण्डिया (2000) पुस्तक में सम्यक प्रकाश डाला है। उन्होंने उक्त पुस्तक में भूमण्डलीकरण के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति का लेखा जोखा ईमानदारी से प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में उन्होंने एक और संदेश दिया है कि मूल्यों के साथ संस्थाओं और विचारधाराओं में भी परिवर्तन आया है। रजनी कोठारी तथा कृष्ण कुमार ने भी भारतीय संस्कृति का विवरण भूमण्डलीकरण के सन्दर्भ में किया है।

भारतीय संस्कृति :

भारतीय संस्कृतिक के विषय में सबसे अधिक जानकारी भारत के लोग 'प्रोजेक्ट के माध्यम से उपलब्ध हुई है भूमण्डलीकरण ने भारतीय जीवन के कई सांस्कृतिक पहलुओं को हिला दिया है।

* हमारी जीवन पद्धति को बदल दिया है।
* उपभोग के प्रतिमान को उलट-पलट दिया है।
* सांस्कृतिक उत्पादन को बदल दिया है।
* अब एक पापुलर कल्चर का विकास हों चुका है।
* मौखिक समाज एक मीडिया समाज बन गया है।
* स्थानान्तरण, पर्यटन एवं यात्रा में वृद्धि हुई है।

एथनिक समूह की पहचान को खतरा उत्पन्न हो चुका है।

सांस्कृतिक आधुनिकीकरण:

संस्कृतिक का आधुनिकीकरण भूमण्डलीकरण के माध्यम से स्थानीय लोगों की संस्कृति पर प्रहार करता है। भाषा, धर्म, जीवन पद्धति और सांस्कृतिक मूल्यों पर इसके आघात से लोग तिलमिला उठे हैं। पर भारत में विविधता में एकता' की सोच ने इसे निष्प्रभावी कर दिया है।

क्षेत्रीयता की भावना=

भूमण्डलीकरण के सांस्कृतिक परिणामों में क्षेत्रीयतात की भावना के सुदृढ़ विकास की ओर ध्यानाकर्षण आवश्यक है। 'भारत के लोग' प्रोजेक्ट की सबसे बड़ी खोज यही है कि पिछले एक दशक में क्षेत्रीयता को भावना पर्याप्त मात्रा में सुदृढ़ हुई है। इस क्षेत्रीयता की भावना के सुदृढ़ होने से हमारी स्थानीय संस्कृति को कोई खतरा उत्पन्न होता नहीं दिखाई पड़ता।

संस्कृति का भूमण्डलीकरण-

भूमण्डलीकरण ने जिस प्रकार पूंजीवाद को विश्वव्यापी बनाया है उसी तरह सांस्कृतिक प्रतिमानों को भी विश्व व्यापी बनाया है। विश्व भर की संस्कृतियों के आपस में मिलने से

एक मिक्स अथवा साझा संस्कृति का विकास हुआ है। कारपोरेट और कम्पोजिट संस्कृति का विकास भूमण्डलीकरण की देन है।

संस्कृति पन नवीन दृष्टिकोण:

संस्कृतिक के तीन परिप्रेक्ष्यों का जिक्र किया जाता है। (1) अभिसरण परिप्रेक्ष्य (कनवरजेंस)

(2) अपसरण परिप्रेक्ष्य (डाइवरजेन्स) (3) संकरण परिप्रेक्ष्य (हाइब्रिडाइजेशन) । प्रथम परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक मिलन पर बल है। दूसरे में सांस्कृतिक अलगाव (विभेदों) पर जोर है। तीसरा रचनात्मकतावादी (कान्स्ट्रक्टिविस्ट) उपागम है और संस्कृति पर एक नया दृष्टिकोण है।

संस्कृति के इस नवीन परिप्रेक्ष्य में, जो कि ग्लोबलाइजेशन की उत्पत्ति है, संस्कृति एवं सांस्कृतिक निष्ठा (आइडेन्टिटी) को पारिस्थितिक, उपकरणात्मक और राजनैतिक रूप में परिभाषित किया गया है। (टेम्पलमैन 1977) इस परिप्रेक्ष्य में संस्कृतियों एवं सांस्कृतिक निष्ठाओं की धारा प्रवाहिकता (फ्लूइडिटी) और आघात बर्ध्यता (मैलिअबिलिटी) पर जोर है (बार्थ 1969, 1994) । **संस्कृतियां वस्तुएं नहीं हैं वे अन्तः क्रिया एवं परिभाषा की चालू प्रक्रियाओं के लचीले परिवर्तनीय एवं अनुकूलनशील उत्पाद हैं।**

धर्मनिरपेक्षता:

भूमण्डीलकरण के पूर्व धर्म का विश्वव्यापीकरण हुआ था। कुछ धर्म दुनिया भर में फैल गये थे। इन विश्वव्यापी धर्मों में हिन्दू धर्म, बौद्व धर्म, इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म अपनी ख्याति बनाये हुए थे। **भूमण्डलीकरण ने धर्म को हाशिये पर लाकर खड़ा कर दिया है।** अब पश्चिम की धर्म निरपेक्षता की लहर विश्वव्यापी बन चुकी है। भारत ने भी अपने संविधान में अपने को धर्म निरपेक्ष घोषित किया है।

नवीन संस्कृति का उदय:

अब पूरे विश्व में विश्वव्यापी सांस्कृतिक उत्पाद जन्म ले रहे हैं। उपभोग की वस्तुएं, पहनावे, नृत्य संगीत, साहित्य ज्ञान विज्ञान सारे के सारे वैश्विक सांचे में ढलने की ओर उन्मुख हैं। विश्वव्यापी उन्मूलकता संस्कृति के क्षेत्र में भी जोर पकड़ रही है। अब इलक्ट्रानिक संस्कृति का बोलबाला है। आज मोबाइल पर या ई-मेल द्वारा सूचनाएं एवं सन्देश भेजने की संस्कृति है। सूचना तकनीकी तंत्र ने नवीन संस्कृति को जन्म दिया है और जीर्ण-शीर्ण पुरानी संस्कृति को पीछे धकेल दिया है। **आज की इलेक्ट्रानिक संस्कृति सिगनल्स पर दौड़ती है।**

स्थानीय और भूमण्डलीय संस्कृतिक मं संबंध :

भूमण्डलीय संस्कृति एक मिली-जुली अथवा मिश्रित संस्कृतिक है लेकिन इसमें पश्चिमी और अमेरिकी संस्कृति का वर्चस्व है। विश्वव्यापी संस्कृति स्थानीय संस्कृति के सम्पर्क में

आने पर उससे मूल्यों से अनुकूलन करती है। उदाहरण के लिए भारत में पंडितों की उपेक्षा नही की जा सकी । इस्लाम के उम्मा की अवहेलना नहीं हो सकती। मानवाधिकार के लिए गुहार भूमण्डलीकरण का प्रतिफल है पर मानवाधिकार के मामले में भी स्थानीय संस्कृति से ताल-मेल बैठाना जरूरी है। **बिना इस ताल मेल के भूमण्डलीय संस्कृति की वैधता को चुनौती दी जा सकती है।** भूमण्डलीय संस्कृति स्थानीय संस्कृति से ताल-मेल का जुगाड़ कर लेती है। फास्ट फूड बनाने वाली अमेरिका की मेकडानल्ड कम्पनी जिसके हजारों प्रतिष्ठान अमेरिका से बाहर हैं। गुजरात में यह कम्पनी शाकाहारी कोफ्ते बनायेगी और जहाँ माँसाहारी भोजन करने वाले लोग हैं वहाँ मांसाहारी कोफ्ते बनायेगी और इस तरह स्थानीय संस्कृति से सामंजस्य बैठाने का कार्य करेगी। भूमण्डलीकरण के प्रभाव के अन्तर्गत व्यंजनों, पहनावे औरमूल्यों का विश्व व्यापीकरण हो रहा है।

संक्षिप्त संदेश सेवा:

फैशन, प्रतिष्ठा चिन्ह ओर जरूरत बनती संक्षिप्त संदेश सेवा (एस.एम.एस.)

भूमण्डलीकरण का **एक अपूर्व एवं अनोखा प्रतिफल है**। मोबाइल पर यह सेवा उपलब्ध है इसकी अलग एक कोड भाषा है। इस भाषा के शब्द शब्दकोश में नहीं मिलते। 'ईलू-ईलू' से सभी परिचित हैं। इसका अर्थ है आई लव यू। इसी तरह से आल दे बेस्ट के लिए 'ए टी बी', टाक टु यू के लिए 'टी टी वाई', माइन्ड योर बिजनेस के लिए 'एम वाई ओ बी' शब्दों का प्रयोग हो रहा है। ये शब्द सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव को दर्शाते हैं। आज कल मोबाइल पर बात करने से कहीं अधिक लोग सन्देश भेजने में रूचि ले रहे हैं। यह संक्षिप्त सेवा प्रोफेशनल लैंग्युएज बनती जा रही है। इसका प्रयोग आना आज की जरूरत बन गई है। इस सेवा का प्रयोग भूमण्डलीकरण के पहले नहीं था और न तब इसका आविष्कार ही हुआ था।

कलात्मक और हैण्डमेड ग्रीटिंग कार्ड का फैशन:

यह फैशनभूमण्डलीकरण के बाद का है । इन कार्डों में चित्रकारी एवं रंगों के प्रयोग ने जान डाल दी है। इस वर्ष लखनऊ की बाजार ऐसे कार्डों से खचाखच भरी है। इन पर मजेदार एवं रोचक संदेश भी लिखे हैं। इस कारण इन कार्डों की अन्य कार्डों की तुलना में मांग अधिक है।

ब्राण्ड बैण्ड की सुविधा :

यह सुविधा इन्टरनेट पर उपलब्ध है यह सुविधा कम समय मे ज्यादा काम करने में लोगों को सक्षम बनाती है।

19.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में उदारीकरण के अर्थ से लेकर सामाजिक एवं आर्थिक उदारीकरण के अर्थ एवं परिणामों की चर्चा की गयी है तत्पश्चात् भूमण्डलीकरण की थीम्स, भारत और भूमण्डलीकरण और समाज शास्त्र का क्रमश: विवेचन किया गया है। अन्त में इसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों का विशद वर्णन प्रस्तुत किय गया है।

19.10 सन्दर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. ग्लोबलाइजेशन एण्ड डिवलपमेन्ट स्टडीज, 2001 एडिटेड बाई फ्रांस जे शूरमैन
2. द इकोनोमिस्ट, ग्लोबलाइजेशन 2002
3. राबर्टसन, आर (1995) ग्लोबलाइजेशन
4. हर्स्ट एण्ड थाम्पसन (1996) ग्लोबलाइजेशन इन क्यूश्चन, कैम्ब्रिज, पालिटि प्रेस।

इकाई 20 भारतीय समाज में आधुनिकीकरण : परम्परा एवं आधुनिकता

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 पाठ योजना

20.3 परम्परागत अथवा सरल भारतीय समाज

20.4 परम्परा इतर अथवा आधुनिक समाज

20.5 आधुनिकता का अर्थ एवं लक्षण

20.5.1 आधुनिकता पर समाज वैज्ञानिकों के मत

20.5.1.1 एन्थोनी गिडेन्स का मत

20.5.1.2 दुर्खीम का मत

20.5.1.3 मार्क्स का मत

20.5.1.4 वेबर का मत

20.5.1.5 जार्ज सिमल का मत

20.5.1.6 पारसन्स का मत

20.6 आधुनिकता के लक्षण

20.5 भारत में परम्परा की प्रकृति

20.8 आर्थिक दृष्टि से सरल समाज

20.8.1 सरल समाजों में प्रौद्योगिकी

20.9 आर्थिक दृष्टि से आधुनिक समाज

20.10 राजनैतिक दृष्टि से सरल एवं आधुनिक समाज

20.11 निष्कर्ष

20.12 सारांश

20.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

20.14 प्रश्नोत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप के द्वारा संभव होगा :

* भारतीय समाज के सरल (परम्परागत रूप) रूप को स्पष्ट करना,
* भारतीय समाज के जटिल (आधुनिक रूप) रूप को समझना एवं समझाना,
* परम्परा के लक्षणों को बताना,
* आधुनिकता के लक्षणों को बताना,
* ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज को स्पष्ट करना।

20.1 प्रस्तावना

भारतीय ही क्यों प्रत्येक समाज परम्परागत स्वरूप से आधुनिक स्वरूप की ओर अग्रसर होता है। भारतीय समाज लगातार आधुनिकता की ओर बढ़ रहा है। समाज की इस परिवर्तनशील प्रकृति को किसी समय विशेष में विद्यमान समाज संरचना का अध्ययन करके जान पाना कठिन है या यों कहें कि नहीं जाना जा सकता है। कारण यह है कि उसके समकालीन पहलू में अतीत छुपा हुआ है और उसमें भविष्य में पहलू के बीच भी छिपे हैं। भारतीय समाज के अतीत एवं वर्तमान स्वरूप की व्याख्या द्वारा भारतीय समाज के आधुनिकीकरण की ओर बढ़ते हुए चरण को समझा जा सकता है। यह विकास आधुनिकता के बाद उत्तर आधुनिकता की ओर अग्रसर होगा।

20.2 पाठ योजना

समाज शास्त्रियों ने समाज की जानकारी प्राप्त करने के लिए कई उपागमों को अपनाया है यहाँ एतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज का विश्लेषण करने का मन बनाया गया है। पिछले अनुभवों के आधार पर सामाजिक व्यवहार के संबंध में अन्तर्दृष्टि पाने का प्रयोग कुछ अधिक लाभप्रद दिखता है। भारत के सामाजिक आर्थिक-राजनैतिक जीवन के तथ्यों को दो भागों में बाँट कर समझने का प्रयास किया गया है। प्रथम भाग में सरल भारतीय समाज और दूसरे भाग में आधुनिक भारतीय समाज का विवेचन करने की योजना है।

20.3 परम्परागत अथवा सरल भारतीय समाज

सुविधा के लिए पूर्व औद्योगिक समाज अथवा परतंत्र भारतीय समाज को सरल समाज कहा गया है। सरल समाज में अति सरलता से प्रारम्भ कर धीरे-धीरे सरलता के कम होने की प्रवृत्ति को ध्यान में रखा गया है। अंग्रेजी शासन के दौरान यह सरलता काफी कम हुई है पहले (प्रारम्भ में) समाज अभेदीकृत अथवा समदर्शी था बाद में विभेदीकृत होने लगा।

20.4 परम्परा इतर अथवा आधुनिक भारतीय समाज

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज आधुनिक समाज का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है भारतीय समाज जटिलता अथवा विविधतता दर्शक समाज माना जाता है। यहाँ एक बड़ी सम्पूर्ण

संस्कृति के अन्तर्गत कई उपसंस्कृतियां देखी जा सकती हैं। यहां मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन बौद्ध एवं आदिम उपसंस्कृतियां देखी जा सकती हैं भाषा के आधार पर भी अप-संस्कृतियां हैं जैसे तमिलभाषी, महाराष्ट्रीय एवं पंजाबी संस्कृतियाँ। इन उप-संस्कृतियों को एक में बांधे रखने वाले तत्व (मूल्य) भी यहाँ हैं जैसे धर्म निरपेक्षता, लोकतंत्र, और सभी नागरिकों की समानता का भाव। ये सार्वभौमिक एवं सांस्कृतिक मूल्य ऐसे हैं जिन पर बराबर जोर देते रहने और उनका पोषण करते रहने की आवश्यकता है। उप-सांस्कृतिक मूल्यों के प्रभाव में बहने से उक्त मूल्यों द्वारा रोक लगाई गई है।

आधुनिकता रातों रात या सहसा नहीं आ गई। उसका अपना एत सुदीर्घ (लम्बा) इतिहास है यह एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव को पार करती हुई अपने वर्तमान स्वरूप पर पहुँच सकी है। सामन्तवाद के पतन से आधुनिकता का जन्म माना जा सकता है। पूंजीवाद का उदय उसका एक पड़ाव है। पूंजीवाद के विरोध में समाजवाद का आविर्भाव हुआ। 18 अगस्त 1991 में रूस में साम्यवाद को जो धक्का लगा उससे समाजवादी दुनिया को चोट पहुँची। अब तो दुनिया में प्रजातोत्रिक एवं पूंजीवाद संसार ही शेष बचा। **औद्योगिक क्रान्ति से जन्मी और पूंजीवाद से पनपी इस आधुनिकता का भावी पड़ाव उत्तर आधुनिकता का होगा।**

20.5 आधुनिकता का अर्थ एवं लक्षण

आधुनिकता का विचार समय से जुड़ा है। **जो प्राचीनतम एवं पुराना है वह परम्परा है जो नवीनतम है वह आधुनिकता है।** रिटजर आधुनिकता को मूल्यों एवं विचारधारा से जोड़ते हैं। पहले समाज का संबंध पवित्रता से था। फिर इसका संबंध धर्म निरपेक्षता अथवा लौकितता से जुड़ गया। भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता पर जोर हैं। पवित्रता का संबंध **परम्परागत समाज से है।** जबकि लौकिकता आधुनिकता का सूचक है।

* सांस्कृतिक बहुलता आधुनिकता का संकेतक है।
* आधुनिकता सदैव नए विचारों एवं आविष्कारों से जुड़ी होती है।
* आधुनिकता की झलक औद्योगीकरण में मिलती है।

रिटजर ने आधुनिकता की प्रकृति को इसे बेलगाम का घोड़ा कह कर स्पष्ट कर दिया है। बेलगाम घोड़े की तरह आधुनिकता को वश में करना कठिन है।

20.5.1 आधुनिकता पर समाज वैज्ञानिकों के मत-

20.5.1.1 एन्थोनी गिडेन्स के मतानुसार आधुनिकता में गत्यात्मकता एवं परिवर्तन निहित है वे आधुनिकता को उदारवाद और पूंजीवाद से जुड़ा नहीं मानते। वे उसे चार संस्थाओं से जुड़ा हुआ मानते हैं।

1. पूंजीवाद-इसमें उत्पादन, निजीकरण एवं श्रमिक आते हैं।
2. उद्योगवाद - इसमें आवागमन के साधन, संचार व्यवस्था तथा घरेलू जीवन आते हैं।
3. निगरानी रखने की क्षमता - इसमें राज्य नागरिकों पर अंकुश रखता है राज्य के पास

NMDS-102

सैनिक शक्ति है हिंसा के साधनों पर भी राज्य का नियंत्रण रहता है।

4. राष्ट्रराज्य - वे राष्ट्र को आधुनिकता का केन्द्र मानते हैं।

उक्त चार संस्थाओं का गठबन्धन आधुनिकता है। इस आधुनिकता की चर्चा उन्होंने अपनी पुस्तक 'द कान्सीक्वेन्से आफ माडर्निटी' में की है।

वे आधुनिक समाज को प्रतिबिम्ब समाज भी कहते हैं। आधुनिक समाज में समय व स्थान की दूरी बहुत कम रह गयी है। अब लोगों को एक छत के नीचे रहना संभव नहीं रहा जैसा कि कभी भारतवर्ष में संयुक्त परिवारों में होता था। अब संयुक्त परिवार की यह विशेषता लुप्त हो चली है। उनके लिए सामान्य पाकशाला का भोजन कर पाना अब कठिन हो गया है। संयुक्त परिवार की चौका प्रणाली अब विलुप्त हो चली है। कारण है वर्तमान परिस्थितियां। अब जब परिवार का एक सदस्य गांव में रहता है। दूसरा देश के किसी बड़े शहर में और तीसरा विदेश में। ऐसे में सामान्य पाकशाला का विचार कहाँ ठहर सकता है।

स्थान की दूरी अब सिमट गई है एक परिवार के लोग अलग अलग जगहों पर रहते हुए भी दूरी का अनुभव नहीं करते। दूर रहते हुए भी टेलीफोन और मोबाइल से पल पल पर अपने परिवार के सदस्यों से सम्पर्क बनाए रख सकते हैं। यही आधुनिकता है भारत में संयुक्त परिवार अब नाभिकीय परिवार का रूप धारण कर रहे हैं। । इन परिवारों का नाभिकीकरण भारतीय समाज को आधुनिकता का स्वरूप दे रहा है। दुनिया भर में जो हो रहा है उससे भारत अप्रभावित कैसे रह सकता है। दुनिया में जो घटित हो रहा है उसका प्रतिबिम्ब सर्वत्र पड़ता है। जब मर्द और औरतें दुनिया भर के मर्द और औरतों को कुछ करते देखते हैं तो वे भी अनुभव करते हैं कि जो अन्य समाजों में हो रहा है उसे वे भी कर सकते हैं। दुनिया का प्रतिबिम्ब छोटे से छोटे समाजों पर देखा जा सकता है। जीवन के सभी क्षेत्रों में यह प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। परम्परागत समाजों के लोग पहले अपने समुदाय से जुड़े रहते थे। आज भी होली-दीवाली आदि त्यौहारों को समुदाय में मनाते हैं। आज लोग समुदाय से हट कर जीवन जीते हैं। इसे असन्निहिता कहते हैं। यह असन्निहिता आधुनिक समाज का एक प्रबल लक्षण है।

इस प्रकार गिडेन्स आधुनिक समाज के छः लक्षणों की ओर संकेत करते हैं।

1. पूंजीवाद
2. उद्योगवाद
3. प्रशासनिक शक्ति (निगरानी)
4. राष्ट्र राज्य
5. प्रतिबिम्ब समाज
6. असन्निहितता

यदि इन लक्षणों को भारतीय समाज पर घटाकर देखा जाय तो भारतीय समाज में ये लक्षण

विद्यमान दिखते हैं और इसलिए भारतीय समाज आधुनिकता की चपेट में पूरी तरह है, ऐसा कहा जा सकता है।

20.5.1.2 दुर्खीम का मत – कहने की आवश्यकता नहीं कि दूर्खीम उद्विकासवादी थे। दुर्खीम एकता के आधार पर परम्परा और आधुनिकता की व्याख्या करते हैं। परम्परागत अथवा सरल समाज की विशेषता यांत्रिक सुदृढ़ता है। परम्परागत समाज में स्तरीकरण कम होता है। इनके मतानुसार सावयवी सुदृढ़ता आधुनिक समाज की विशेषता है आज अधिकतम स्तरीकरण को आधुनिकता का लक्षण मानते हैं। दुर्खीम की उक्त बात को मान लेने से तो परम्परागत भारतीय समाज भी आधुनिक सिद्ध होता है क्योंकि भारतीय समाज बहुत पहले से स्तरीकृत था।

20.5.1.3 मार्क्स का मत – मार्क्स पूँजीवाद को आधुनिकताका लक्षण मानते हैं पूँजीपति प्रत्येक वस्तु को उपयोगी वस्तु (पण्य पादर्थ) समझता है पूँजीवाद का उद्देश्य मुनाफा कमाना है। अधिक से अधिक उत्पादन करना ही आधुनिकता है। मार्क्स आधुनिकता को पण्यीकरण के रूप में देखता है। मार्क्स की बात मान लेने पर भारतीय समाज को आधुनिक समाज की कोटि में रखा जा संकता है। अर्थात् भारतीय समाज आधुनिकता को अपना रहा है ऐसा कहा जा सकता है।

20.5.1.4 वेबर का मत – वेबर तर्क संगतिता (रैशनालिटी) को आधुनिकता का सूचक मानते हैं। आधुनिकता के आगमन के पूर्व का जीवन पिंजड़े में बन्द जीवन जैसा था। यह पिंजड़ा ईश्वर का था। सारी दुनिया ईश्वर के भरोसे थी, उसी के अधीन थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि युक्तियुक्तता अथवा बुद्धिमता से ही व्यक्ति पूंजीपति बनता है। धन कमाता है। आधुनिकता की कसौटी युक्तियुक्तता है। वेबर युक्ति युक्तता अथवा बुद्धिमताको आधुनिकीकरण के रूप में देखते हैं। यह लक्षण भारतीय समाज में प्रकट रूप से देखा जा सकता है अत: भारतीय समाज आधुनिक बन रहा है।

20.5.1.5 जार्ज सिमल का मत – जार्ज सिमल शहर और मौद्रिक अर्थ व्यवस्था को आधुनिकीकरण का लक्षण मानते हैं। गाँव परम्परा केन्द्रित हैं तो शहरों में आधुनिकता देखी जा सकती है उक्त दोनों लक्षण भारतीय समाज में पूर्ण रूपेण आधुनिक समाज है।

20.5.1.6 पारसन्स का मत – पारसंस आधुनिकता को मूल्यों की गठरी बताते हैं। वे संरचनात्मक विभेदीकरण को आधुनिकता का लक्षण बताते हैं अपने विन्यास प्रकारान्तरों के माध्यम से वे परम्परागत और आधुनिक समाज की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार आधुनिक समाज वह है जिसमें भावात्मक तटस्थता, विशिष्टता, सर्वव्यापकता उपलब्धि एवं व्यक्तिवादिता के मूल्य होते हैं।

20.6 आधुनिकता के लक्षण

अभी तक आधुनिकता के विषय में जो चर्चा हुई है उसके आधार पर आधुनिकता के लक्षण कुछ इस प्रकार ठहरते हैं।

1. पुर्नजागरण या ज्ञानोदय

2. आधुनिकता उद्विकास का परिणाम है।

3. आधुनिकता का विकास राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रियाओं के कारण हुआ।

4. आधुनिकता, पूँजीवाद, औद्योगीकरण, लौकिकीकरण और प्रजातांत्रिक व्यवस्था है।

5. आधुनिकता में उपभोक्ता वस्तुओं की प्रचुरता होती है और विभिन्न जीवन शैलियाँ परिलक्षित होती है।

6. तकनीकी तंत्र आधुनिकता का एक बहुत बड़ा लक्षण है।

7. आधुनिकता नवीनता है।

8. प्रतियोगिता आधुनिक समाज का लक्षण है।

9. एकाकीपन आधुनिकता का लक्षण है।

10. सावयवी एकता आधुनिकता का लक्षण है।

11. युक्तियुक्तता अथवा तर्क संगतिता आधुनिक समाज का लक्षण है।

12. शहर और मौद्रिक अर्थव्यवस्था आधुनिकता के संकेतक हैं।

13. अधिक से अधिक उत्पादन आधुनिकता का सूचक है।

14. संरचनात्मक विभेदीकरण और अधिकाधिक स्तरीकरण आधुनिक समाज के परिचायक हैं।

15. विकसित विवेक का ही दूसरा नाम आधुनिकता है।

16. सर्वव्यापकता

20.7 भारत में परम्परा की प्रकृति

परम्परा का जुड़ाव समूह विशिष्ट या समाज विशिष्ट से होता है पर आधुनिकता में सर्वव्यापकता का गुण होता है। आधुनिकता का असर दुनिया के कोने-कोने तक पहुँचता है। परम्परा में सीमितता का गुण पाया जाता है

* आधुनिकता-जल्दी-जल्दी बदलती है पर समस्या में परिवर्तन मन्द गति से होता है।

* आधुनिकता की आधार भूमि परम्पराएं हैं। परम्परागत समाज आधुनिकता की ओर बढ़ता है।

* जब परम्पराएं आधुनिकता को अपनाती हैं तब अपना अस्तित्व नहीं खोती क्योंकि **परम्परायें मरती नहीं हैं उनमें अनुकूलन के लक्षण होता है।** इसे हम इस तरह स्पष्ट कर सकते हैं कि जैसे समाज में व्यक्ति आते जाते रहते हैं। और इस समाज का इस प्रकार अस्तित्व सदैव बना रहता है वैसे ही परम्पराएं आती रहती हैं और जो परम्पराएं

समयानुकूल होती हैं वे बनी रहती हैं और जो समयानुकूल और अवस्थानुकूल नहीं होती वे विलुप्त हो जाती है और उसका स्थान दूसरी परम्परा ले लेती है। यह दूसरी परम्परा समयानुकूल एवं अवस्थानुकूल होती हैं इसे नई परम्परा कह सकते हैं **इस प्रकार आधुनिकता भी नवीनतम रूप वाली परम्परा कही जा सकती है।** इस तरह समाज के उद्विकास में आधुनिकता एक अवस्था है यह उद्विकास की एक आवश्यकता है।

आधुनिकता के स्वरूप का निर्धारण परम्पराओं द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए जो आधुनिकता का स्वरूप योरोप में है, वह भारत में नहीं हैं भारत में जो आधुनिकता का स्वरूप है वह श्रीलंका और पाकिस्तान में नहीं हैं। जैसे पानी और बानी (भाषा) हर जगह समान नहीं है वैसे ही आधुनिकता भी हर जगह समान नहीं है। उदाहरण के लिए भारत में सड़क पर जा रही महिला से कोई पुरूष उस तरह से हाथ नहीं मिला सकता जैसे विदेशों में मिलाता है जिस प्रकार से सेक्स को दुनिया में तमाशा समझा जा रहा है। वैसे तमाशा के लिए भारतीय परम्परा अनुमति नहीं दे पा रही है। यहाँ लड़के और लड़कियों में दूरी बनाये रखने के लिए अगम्यागमन निषेध (इनसेस्ट टैबू) हैं यदि उन्मुक्त यौनाचार के रूप में आधुनिकता लाना है तो इनमें कौन सी बुद्धिमता अथवा युक्तियुक्तता है यह तो अश्लीलता अथवा पाशविकता का संकेतक है। इसे आधुनिकता का संकेतक नहीं माना जा सकता। स्त्री के अंग प्रत्यंगों का नग्न प्रदर्शन भी आधुनिकता नहीं है। यह तो भोंडेपन एवं विकृत मानसिकता का परिचायक है। **इस प्रकार भारत की आधुनिकता अपनी आधुनिकता है जिसका निर्धारण हमारी परम्पराओं ने किया है।** भारतीय परम्पराएं जो अच्छा है जो नैतिक है जो वैध है। आधुनिकता के उसी स्वरूप को ग्रहण करने के पक्ष में रही हैं यही कारण है कि हमारी आधुनिकता अन्य देशों की आधुनिकता से भिन्न है।

हमारी परम्पराओं के कुछ तत्व टाइम टेस्टेड हैं। उनमें सर्व समावेशन की अद्भुत शक्ति है। अन्य शब्दों में वे शाश्वत है जो शाश्वत है उसे देश काल की सीमा से नहीं बांधा जा सकता। हमारी वेदान्त की परम्पराएं उपनिषदों की परम्पराएं शाश्वत हैं हमारे ऋषि मुनियों की परम्पराएं अनुभव सिद्ध हैं ये अनुमानों और अटकलबाजियों पर आधारित नहीं हैं। हमने त्याग, तपस्या और उदारता से इन परम्पराओं को सींचा है ये परम्पराएं सदाबहार वनों की तरह सदा हरी भरी रहने वाली हैं। इनके मूल तत्व अथवा केन्द्रीय तत्व न कभी मिटे हैं और न ही कभी मिटेंगे। चाहे जितने भूकम्प आयें, चाहें जितने ज्वालामुखियां फूटें, चाहे जितनी विपत्तियां आयें इनको कोई भी चोट न पहुँचा सकेगा। ये अजर अमर हैं क्या है कोई हमारी आध्यात्मिकता से लोहा लेने वाली दुनिया में कोई शक्ति? सारे विश्व को जब कहीं शरण नहीं मिलेगी तो डूबने से बचने के लिए उस आध्यात्मिकता के गोबर्धन पहाड़ के नीचे आना पड़ेगा जिसे श्री कृष्ण भगवान ने अपनी उँगली से उठा लिया था। गीता की परम्परा, गीता के मूल्य, गीता की नैतिकता, और गीता की भाव प्रवणता का दुनिया में बराबरी करने वाला कोई नहीं है। जो मातृ-पितृ भक्ति का आदर्श (परम्परा) श्रवण कुमार ने स्थापित किया, भायपभक्ति का कीर्तिमान जो भरत ने स्थापित किया, छोटे भाई की भलाई के लिए समोंद वनचले जाने का जो आदर्श राम ने स्थापित किया क्या दुनिया में अन्यत्र कोई ऐसे आदर्श स्थापित हुए हैं? नहीं यह

कहने में कोई आश्चर्य नहीं है कि भारत एक तपो भूमि है। यह दुनिया का सर्वश्रेष्ठ देश है।

* हमारा देश आधुनिकता (नवीनता) का विरोधी नहीं है। वह तो नवीनता का पुजारी है । ऐसी नवीनता का जिसे वेबर ने बुद्धि संगत माना है। भारत की परम्परा हर युक्तियुक्त परिवर्तन की पक्षधर है। भारतीय समाज अक्लमन्द समाज है वह अन्धानुकरण का समर्थक न कभी रहा है और न ही कभी रहेगा। प्रत्येक समाज में मन्द बुद्धि वाले लोग भी होते हैं उन्हें उक्त नियम का अपवाद स्वरूप मानना पड़ेगा। भारत जगदगुरू था, है और रहेगा। हमारी आध्यात्मिकता को अपनाने के लिए दुनिया को घुटने टेकने पड़ेंगे क्योंकि भोगवाद, भौतिकतावाद और ऐहिकवाद आदि सीमित हैं और शीघ्र अन्त होने वाले हैं। भारत शाश्वत मूल्यों का समर्थक है।

परम्पराओं की उक्त विशेषताओं के अलावा परम्परागत समाज की कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं।

1. सामूहिकता का वर्चस्व अर्थात्, व्यक्तिवाद के लिए कोई स्थान नहीं।
2. उदारता आधुनिक समाज का लक्षण है पर भारत में यह उदारता परम्परागत समाज में पूरी तरह विद्यमान थी।
3. धर्म का प्रभाव और ईश्वर का प्रभाव अधिक
4. समानता एवं स्वतंत्रता की कमी।
5. बुद्धिमता व विवेक का सीमित स्थान
6. प्रकृति का प्रभाव अधिक
7. यांत्रिक एकता, सामूहिक चेतना एवं दमनात्मक कानून

20.8 आर्थिक दृष्टि से सरल समाज

सरल समाजों में उत्पादन और वितरण का तरीका सरल था उपभोग का एक छोटा सा दायरा अथवा समूह होता है। उत्पादन वहाँ केवल उपभोग करने के लिए होता है खाने की वस्तुएं, कपड़े, आवास और अपनी रक्षा के उपकरण उपभोग की प्राथमिक वस्तुएं होती हैं। सरल समाजों में परिवार उत्पादन और उपभोग की इकाई होता है।

20.8.1 सरल समाजों में प्रौद्योगिकी - पशुपालन तथा कृषि का आविष्कार सरल समाज के संकेतक हैं। पहले कुदाली से खेती की जाती थी भारत के आदिवासियों में झूम कृषि का चलन रहा है। ऐसा तभी संभव होता है जब जंगल में पर्याप्त मात्रा में भूमि हो और आबादी कम हो।

पशुपालक समाजों की प्रौद्योगिकी अलग होती है। पशुपालक समाज में पुरूषों का स्थान विशिष्ट होता है हाथी, घोड़ा और ऊँट का प्रयोग सेना में और सामान ढोने के लिए होता है।

खेतिहर समाजों की प्रौद्योगिकी भी विशिष्ट एवं अलग होती है। कृषि के कारण जीवन में स्थिरता आई। कुदाली और पशुपालन के साथ हल बैल का प्रयोग होने लगा। औजारों एवं तकनीकों में सुधार के फलस्वरूप अधिक भूमि पर खेती होने लगी और उपज में वृद्धि हुई जिससे कृषि उत्पादन में 'आधिक्य' की स्थिति का जन्म हुआ। नई-नई सामाजिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव संभव हुआ। जमीन पर स्वामित्व और कब्जा बढ़ने लगा जिससे सामाजिक वर्गों जैसे खेतिहरों और जमीदारों का विकास हुआ। प्रभुता प्राप्त परिवारों की प्रभुता समाप्त होने से राज्य का उदय हुआ। व्यापार एवं वाणिज्य में उन्नति के साथ-साथ गांव कस्बों में और कस्बे शहरों में बदल गये। शहर महानगरों में परिवर्तित हो गये।

श्रम का विभाजन प्रारम्भ हुआ। बड़े पैमाने पर कृषि कार्य होने से समाज में श्रम विभाजन होने लगा। भारत में श्रम विभाजन ने वर्ण एवं जाति का रूप ले लिया है जिससे जन्म के आधार पर लोग ऊँच-नीच श्रेणियों में बट गये।

महानगरों के जन्म ने औद्योगिक नगरीय संस्कृति को जन्म दिया। जाहिर सी बात है कि शहरों में अन्न नहीं उपजाया जाता। लोग उसे बाजार से खरीदते हैं । इससे बाजारों का विकास हुआ जिससे वाणिज्य एवं व्यापार फलने-फूलने लगे।

20.9 आर्थिक दृष्टि से आधुनिक समाज

आधुनिक समाज में उत्पादन और वितरण की तकनीक जटिल (आधुनिकतम) होती है। उत्पादन आधिक्य पर जोर रहता है। उपभोग तंत्र जटिल हो जाता है। इस समाज में जिन थोक वस्तुओं की उपज होती है उनका उत्पादन कुटुम्ब के बाहर होता है। फलत: परिवार के सदस्यों को जीवन निर्वाह के लिए उन्हें खरीदना पड़ता है। मुद्रा के माध्यम से वस्तुओं और सेवाओं को क्रय करना पड़ता है। औद्योगिक समाज में उपभोग पर कई तत्वों का प्रभाव पड़ता है जैसे चुनने की सुविधा, आमदनी, पारिवारिक तत्व, वस्तुओं की उपलब्धता, व्यापारिक कार्य और उपभोक्ता कार्य और उपभोक्ता की साक्षरता। औद्योगिक एवं शहरी समाज में परिवार का आकार लघु होता है जिससे उपभोग के स्तर में वृद्धि हो जाने की स्थिति रहती है।

उपभोग का मानदण्ड निजी न होकर सामाजिक होता है। सामाजिक प्रतिष्ठा उपभोग से जुड़ी होती है।

आधुनिक समाज में प्रौद्योगिकी- आधुनिक समाज की अति उन्नत प्रौद्योगिकी ने अनेकानेक मुख सुविधाओं का सृजन किया। गृहस्थी में उपयोग आने वाली वस्तुओं से लेकर कर कारखानों तक अत्यधिक विकसित प्रौद्योगिकी को देखा जा सकता है। आवागमन के साधन और सूचना प्रौद्योगिकी में काफी सुधार हुआ जिसका असर भारत में नहीं दुनिया भर में देखा जा सकता है। कुदाल और हल के स्थान पर ट्रैक्टर थ्रैसर आदि का प्रयोग होने लगा है।

आज हमारे देश में आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण एवं परिस्थितियां है। शोध कार्य को लाभदायक उत्पादक योजनाओं में बदलने की भी आवश्यकता है। आज हाथ के औजारों की जगह मशीनों का प्रयोग हो रहा है। मशीने व्यक्ति

की तुलना में अधिक काम कर सकती है तथा अधिक वस्तुएं निर्मित कर सकती हैं।

विदेशों की तरह भारत में भी सभी कार्यालयों के काम-काज कम्प्यूटर से होने लगे हैं। कम्प्यूटर सबसे अधिक कुशल कारीगर की अपेक्षा अधिक सुचारू रूप से और सही ढंग से काम कर सकता है। कम्प्यूटर अगणित कार्य कर सकता है आज प्रशिक्षित सेक्रेटरी का सारा काम मशीनें और कम प्रशिक्षित लोग कर सकते हैं। इस प्रकार कम्प्यूटर का प्रयोग दक्षता समाप्त करने वाला बनता जा रहा है। आधुनिकी प्रौद्योगिकी दक्षता समाप्त करने की प्रक्रिया की पोषक बनती जा रही है।

आधुनिक प्रौद्योगिकी से मजदूर तो बेकार हो ही रहे हैं। इसके अलावा संघ बनाकर लड़ने की क्षमता भी समाप्त हो रही है। आज मजदूर संघ विफल हो रहे हैं उनकी आवाज को प्रौद्योगिकी ने दबा दिया है।

अन्य देशों की भाँति भारत में निजी व्यापार के बढ़ावा देने की बात की जा रही है टेलीविजन के प्रयोग ने महिलाओं को घर की चहारदीवारी में बंद कर दिया है। इस प्रकार आधुनिक प्रौद्योगिकी ने महिलाओं को रूढ़िवाद बना दिया है गैस के चूल्हे, वाशिंग मशीनों ने महिलाओं को सुस्त और काहिल बना दिया है शारीरिक श्रम न करने के कारण वे रोग ग्रस्त एवं पंगु बनती जा रही हैं धन अधिक होने के कारण वे होटलों और क्लबों का आनन्द ले रही हैं। समसामायिक भारतीय समाज को भले ही हम आधुनिक होने की संज्ञा दे दें पर यह आधुनिकता और आधुनिकीकरण के बजाय रूढ़िवादिता को बढ़ावा देने वाला सिद्ध होगा।

20.10राजनैतिक दृष्टि से सरल एवं आधुनिक समाज

सरल सामानों में राजनीतिक सत्ता- सरल समाजों की राजनीतिक प्रणाली सरल होती है। परम्परागत भारतीय समाज में शासन का भार राजा पर होता था। वह पवित्र गुणों से युक्त माना जाता था। उसे ईश्वर का अवतार माना जाता है। वह अपनी प्रजा का पालक माना जाता था। वह प्रजा के कल्याण कार्यों में दिलचस्पी लेता था। भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। प्रत्येक क्षेत्र का एक राजा होता था। राजा की शक्ति उसके राज्य तक ही सीमित होती है। अपने राज्य के बाहर उसका महत्व नहीं होता है। भारत में बाहर से आये समूहों ने भी राज्य किया। यहाँ मुगलों और अंग्रेजों का भी शासन रहा। अंग्रेजों के आने से बादशाहों अथवा राजाओं की परम्परा नष्ट हो गयी और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन कायम हुआ। लगभग 200 वर्षों तक अंग्रेजों ने शासन किया। परिवारों में पितृ सत्ताक शासन था। घर का मुखिया परिवार का शासक था। परिवार से सभी लोग उसकी बात मानते हैं मातृ सत्ताक परिवारों में सत्ता माता के हाथ में होती है और उसकी बात परिवार के लोग मानते हैं।

आधुनिक भारतीय समाज - अंग्रेजों के जाने के बाद भारत आजाद हुआ। शासन के लिए संविधान बना। भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है यहां लोकतांत्रिक सरकार है। भारत राजनीतिक प्रजातंत्र का समर्थक है। राजनीतिक प्रजातंत्र में कार्य पालिका, विधान पालिका और न्याय पालिका के पास स्वायत्तता होती है। इसमें राजनैतिक दल और मीडिया स्वतंत्र

एवं प्रतियोगी होते हैं। एक लिखित संविधान द्वारा अधिकार एवं कर्त्तव्यों का विधान कर दिया जाता है। विधान-पालिका नियमों को बनाती है कार्यपालिका नियमों को लागू करती है और न्यायापालिका उनका अधिनिर्णयन करती है हमारे यहां संसदीय और संघीय लोक तंत्र है नौकरशाही का वर्चस्व है।

सरकारी संगठन की चर्चा हो चुकी है। आधुनिक समाजों में सरकारी संस्थाओं के अतिरिक्त गैर सरकारी संस्थाएं भी राज्य को कार्य करने के योग्य बनाती है। गैर सरकारी संगठन में राजनैतिक दल, हितबद्ध समूह और प्रेस आते हैं। रेडियो और टेलीविजन पर सरकार का नियंत्रण रहता है लोक तंत्र की सुरक्षा के लिए प्रेस का स्वतंत्र होना बहुत आवश्यक है। प्रेस ही नागरिकों को जानकारी देता है कि देश में क्या हो रहा है।

20.11 निष्कर्ष

भारतीय समाज सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टियों से एक आधुनिक समाज का उदाहरण है पर जैसा संकेत किया जा चुका है कि भारत की परम्पराओं में समयानुकूलता और अवस्थानुकूलता का गुण पाया जाता है। इन परम्पराओं में ठहराव का गुण नहीं है। भारत की परम्पराओं में शाश्वत होने का गुण है। जो परम्परायें बेकार हो चुकी हैं उनका स्थान दूसरी परम्परायें ले लेती हैं भारत एक विधिक समाज है। विविधता में एकता इसकी विशेषता है।

20.12 सारांश

भारत में आधुनिकीकरण पर विचार करते समय ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित रहा है भारत के अतीत एवं वर्तमान स्वरूप पर विचार करने के लिए तीन दृष्टियों से भारतीय समाज को सरल और आधुनिक स्वरूप में देखने का प्रयास किया गया है। ये तीन दृष्टियां हैं सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक। उक्त तीनों दृष्टियों से भारतीय समाज में परम्परा एवं आधुनिकता पर निगाह टिकी रही है। आधुनिकता पर समाजवैज्ञानिकों के मतों एवं उसके लक्षणों पर चर्चा हुई है। आधुनिकता पर समाजवैज्ञानिकों के मतों एवं उसके लक्षणों पर चर्चा हुई है। भारतीय समाज की परम्पराओं की अपनी विशेषता है उस ओर भी पर्याप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। भारत की परम्पराओं में सर्वसमावेशन की विचित्र शक्ति है जो उन्हें प्राणमय बनाये रखती है।

20.13 प्रश्नोत्तर

लघु उत्तरीय

1. भारतीय समाज की विविधता में एकता पर अपने बिचार प्रस्तुत कीजिए।
2. आधुनिकता के लक्षणों पर प्रकाश डालिएं।
3. आधुनिकता के विषय में एन्थोनी गिडेन्स के विचारों का परीक्षण कीजिए।

NIDC-102

4. आधुनिकता का कौन सा लक्षण आपको अधिक आकर्षक लगता है और क्यों ?

5. भारतीय परम्परा का सबसे आकर्षक एवं प्रभावशाली लक्षण क्या है? समझाइये।

दीर्घ उत्तरीय

1. आधुनिकता पर समाज वैज्ञानिकों के मतों का वर्णन कीजिए। क्या उनके मतों के अनुसार भारतीय समाज एक आधुनिक समाज है?

2. भारतीय परम्पराओं के प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए।

3. क्या भारतीय समाज आधुनिक समाज हैं ? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

वस्तुनिष्ठ

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. हमारी परम्पराओं में कुछ तत्व..... हैं।

2. आधुनिकता के बाद विकास का अगला पड़ाव ..... का होगा।

3. सामन्तवाद के बाद ..... से आधुनिकता का जन्म हुआ।

4. रिटजर ने आधुनिकता को ..... का घोड़ा कहा है।

5. धर्म निरपेक्षता का संबंध .....समाज से है।

6. एन्थोनी गिडेन्स आधुनिक समाज को ..... समाज कहते हैं।

7. संयुक्त परिवारों का नाभिकीकरण भारतीय समाज को .....का स्वरूप दे रहा है।

8. जार्ज सिमल .....और मौद्रिक अर्थ व्यवस्था को आधुनिकता का लक्षण मानते हैं।

9. भारत में लड़के और लड़कियों के बीच की दूरी बनाये रखने के लिए .....निषेध है।

10. हमारे ऋषि मुनियों की परम्परायें ..... हैं।

11. आधुनिक समाजों में उपभोग का मानदण्ड निजी न होकर ..... होता है।

20.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चौहान, ब्रजराज 1989, इण्ट्रोड्यूशिंग एशियन सोसायटीज : इण्डिया अ सोशियो इकोनामिक प्रोफाइल, स्टर्लिंग, नई दिल्ली।

2. एमिल, दर्खाइम, 1964 द डिवीजन आफ लेबर इन सोसायटी, फ्री प्रेस ग्लेकों

3. Kornblum William, 1988, Sociology in Changing World : New York : Holt, Rinchant and Winston. Inc. Ch. 16 Political Institutions pp. 261-456.

4. Bottomore, T.B. 1972, Sociology : A guide to Problemsed Literature. Vintage Books : New York

5. एस.एल. दोषी, आधुनिकता उत्तर आधुनिकता एवं नवसमाज शास्त्रीय सिक्षा 2003 रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, नई दिल्ली

NMDC-102

NMDC-102

सेक्टर-एफ, शान्तिपुरम, फाफामऊ, प्रयागराज-211021

"अपने भाइयों को मैं सचेत करना चाहता हूँ कि मोम न बनें और आसानी से पिघल न जायें। छोटी-छोटी सी बातों के लिए ही हम अपनी भाषा को या संस्कृति को न बदलें।"

-राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

UTTAR PRADESH RAJARSHI TANDON OPEN UNIVERSITY

REGIONAL CENTRES AND THEIR RELATED DISTRICTS

DISTRICTS

1. Saharanpur
2. Muzaffarnagar
3. Baghpat
4. Bijnor
5. Meerut
6. Amroha (Jyotiba Fule Nagar)
7. Shamli
8. Gaziyabad
9. Noida (Gautam Buddh Nagar)
10. Hapur (Panchsheel Nagar)
11. Bulandshahr
12. Aligarh
13. Mathura
14. Hathras
15. Agra
16. Firozabad
17. Etah
18. Mainpuri
19. Kasganj
20. Sambhal (Bhim Nagar)
21. Rampur
22. Badaun
23. Bareilly
24. Shahjahanpur
25. Pilibhit
26. Moradabad
27. Kannauj
28. Etawah
29. Auraiya
30. Kanpur Dehat
31. Kanpur Nagar
32. Hamirpur
33. Unnao
34. Fatehpur
35. Farrukhabad
36. Jhansi
37. Mahoba
38. Lalitpur
39. Jalaun
40. Banda
41. Chitrakoot
42. Kaushambi
43. Prayagraj
44. Pratapgarh
45. Hardoi
46. Sitapur
47. Lucknow
48. Barabanki
49. Raebareli
50. Bahraich
51. Shravasti
52. Balrampur
53. Lakhimpur Kheri
54. Gonda
55. Ayodhya
56. Abmbedkar Nagar
57. Sultanpur
58. Amethi (CSJ Nagar)
59. Basti
60. Siddharth Nagar
61. Mahrajganj
62. Sant Kabir Nagar
63. Gorakhpur
64. Kushinagar
65. Deoria
66. Azamgarh
67. Mau
68. Baliya
69. Jaunpur
70. Sant Rabidas Nagar (Bhadohin)
71. Varanasi
72. Ghazipur
73. Mirzapur
74. Chndaluli
75. Sonbhadra

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

॥ सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

सेक्टर-एफ, शान्तिपुरम, फाफामऊ, प्रयागराज-211021

www.uprtou.ac.in

टोल फ्री नम्बर - 1800-120-111-333